पद्माकर

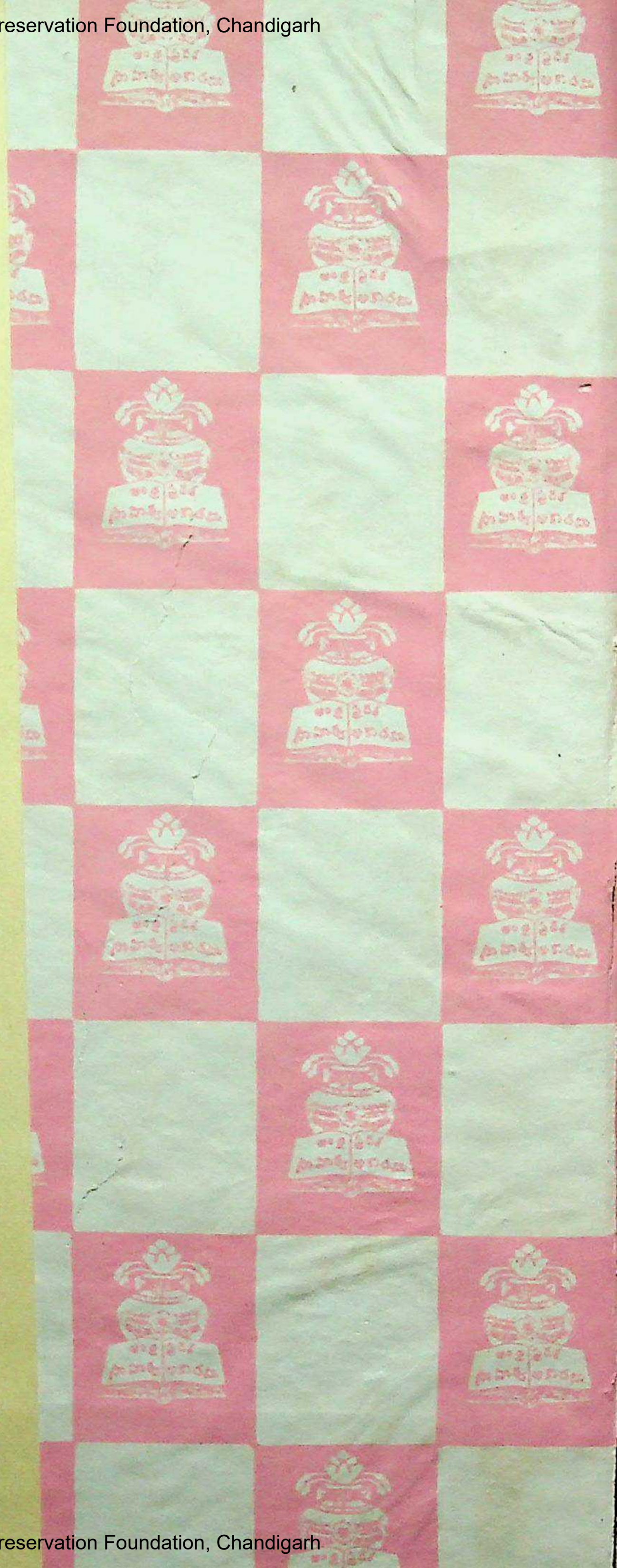
[आन्ध्र के हिन्दी लेखकों के सेमीनार (१९६५ ई.)
में पढ़े गये लेखों का विवरण सहित संकलन]

सम्पादक

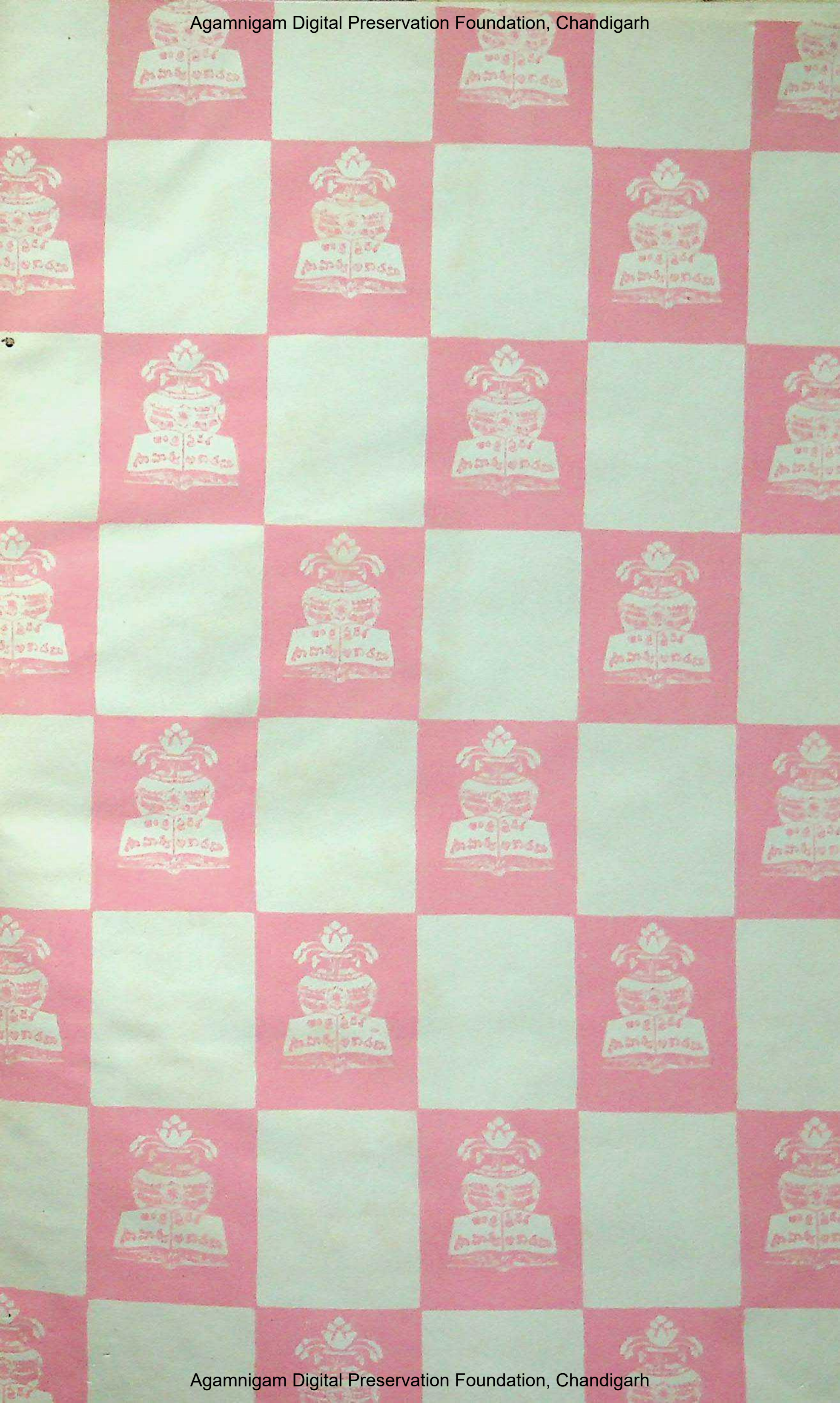
श्रीराम शर्मा

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पद्माकर

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पद्माकर

आन्ध्र-प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से आयोजित
आन्ध्र के हिन्दी लेखकों के सेमीनार (१९६५ ई.)
में पढ़े गये लेखों का संकलन तथा कार्य-विवरण

सम्पादक
श्रीराम शर्मा



आन्ध्र-प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद

प्रकाशक

आन्ध्र-प्रदेश साहित्य अकादमी,
तिलक रोड,
हैदराबाद–१

मुद्रक

कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस,
बेगमबाज़ार, हैदराबाद–१२

प्रथम संस्करण
जून, १९६५

मूल्य
छह रुपये

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निवेदन

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से ६, ७, ८ फ़रवरी १९६५ को आन्ध्र के हिन्दी लेखकों का सेमीनार हैदराबाद नगर में आयोजित हुआ था। सेमीनार में पढ़े गये विद्वत्तापूर्ण निबन्धों को विवरण के साथ इस संकलन में प्रस्तुत किजा रहा है। यह पहला अवसर था जब तेलुगुभाषी हिन्दी लेखक एक जगह जमा हुए थे। इन लेखकों ने हिन्दी और तेलुगु साहित्य के विभिन्न अंगों पर मौलिक ढंग से विचार प्रकट किये।

सेमीनार की सफलता का बहुत कुछ श्रेय उन लेखकों को है जो अकादमी के निमंत्रण पर हैदराबाद आये थे। इन दिनों अनेक तेलुगुभाषी हिन्दी लेखक आन्ध्र से बाहर भी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं। यह सेमीनार तेलुगुभाषी हिन्दी लेखकों का उचित प्रतिनिधित्व करता था।

सेमीनार के उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता कन्नड के यशस्वी कवि तथा आलोचक और अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञ श्री विनायक कृष्ण गोकाक ने की थी। संसद सदस्य श्री गंगाशरण सिन्हा ने सेमीनार का उद्घाटन किया। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षामंत्रालय) के निदेशक डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी के प्रमुख कवि तथा विचारक श्री बालकृष्णराव, श्री बेजवाड गोपालरेड्डी, श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त और श्री पी. वी. नरसिंहराव ने सेमीनार की विभिन्न बैठकों की अध्यक्षता की। डाक्टर रामनिरंजन पांडे कवि सम्मेलन के अध्यक्ष थे। अकादमी इन सब महानुभावों और सेमीनार में भाग लेने वाले लेखकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

संकलन का नाम अपने शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त हिन्दी के महाकवि 'पद्माकर' का स्मरण भी कराता है, जिनके पूर्वज आन्ध्र के निवासी थे।

सेमीनार के आयोजन तथा संचालन और इस संकलन के प्रकाशन में डाक्टर श्रीराम शर्मा से बहुत सहायता मिली है।

१७ मई, १९६५ ई.
तिलक रोड,
हैदराबाद–१

देवुलपल्लि रामानुजराव
मंत्री
आन्ध्र-प्रदेश साहित्य अकादमी

क्रम



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विवरण

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उद्घाटन समारोह

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से आयोजित आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी का उद्घाटन ६ फ़रवरी १९६५ को सायं ६ बजे आन्ध्र सारस्वत परिषद के प्रांगण में सम्पन्न हुआ। श्री विनायक कृष्ण गोकाक ने समारोह की अध्यक्षता की।

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त का स्वागत भाषण

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने जो स्वागत भाषण दिया, उसका सारांश इस प्रकार है—

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष श्री बेजवाड गोपाल रेड्डी ने अकादमी के समक्ष इस संगोष्ठी का प्रस्ताव रखा था। इस संगोष्ठी का बहुत महत्त्व है। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि भारत की भाषाओं का उतमोत्तम साहित्य हिन्दी में और हिन्दी का साहित्य अन्य भाषाओं में अनुवादित हो। अंग्रेज़ी के कारण हमारे देश में प्रशासनिक एकता रही है, किन्तु देश की सांस्कृतिक एकता अंग्रेज़ी के माध्यम से सम्पादित नहीं की जा सकती।

पिछले पचास वर्षों से समूचे दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार हो रहा है। इस अवधि में लाखों आदमियों ने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया है। कुछ व्यक्तियों ने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के गंभीर अध्ययन में भी समय व्यतीत किया है। इस प्रकार के अध्येताओं की यह विशेषता है कि वे हिन्दी के अतिरिक्त अपनी मातृभाषा का अच्छा ज्ञान रखते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के लिए यह बहुत बड़े गौरव की बात है कि इस प्रदेश में ऐसे अनेक मनीषी विद्यमान हैं जो तेलुगु से हिन्दी में और हिन्दी से तेलुगु में कुशलतापूर्वक अनुवाद कर सकते हैं। हम लोगों के लिए यह बात भी हर्ष-दायक है कि इधर १५–२० वर्ष से इस प्रदेश के कुछ लेखक हिन्दी में मौलिक

रूप से लिखने लगे हैं। यहाँ के लेखकों की लिखी हुई कविताएँ, कहानियाँ उपन्यास आदि प्रतिवर्ष हिन्दी में छपते रहते हैं। आन्ध्र प्रदेश के लेखकों की कृतियाँ हिन्दी जगत् में सम्मानित होती रही हैं।

हिन्दी में समस्त देश का चिन्तन व्यक्त होना चाहिए। आज तो इस बात की भी आवश्यकता है कि हिन्दी में विश्व भर के मानवों की अनुभूति व्यक्त हो। आन्ध्र के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य की सम्पदा को आत्मसात करने से निस्सन्देह हिन्दी का गौरव बढ़ेगा। इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले लेखक इस महत्त्वपूर्ण कार्य में योग देते रहे हैं।

हैदराबाद इस प्रकार के कार्य के लिए बहुत उपयुक्त स्थान है। एक तो यहाँ कई भाषाओं के लेखक और अनुवादक आसानी से मिल जाते हैं, दूसरे इस नगर के नागरिक भाषा की दृष्टि से बहुत उदार हैं। यह नगर आन्ध्र प्रदेश की राजधानी है और स्वभावतः यहाँ का शासन तेलुगु भाषा तथा उसके साहित्य के विकास में रुचि लेता है, किन्तु तेलुगु भाषा का प्रेम किसी अन्य भाषा के व्यवहार तथा विकास में बाधक नहीं बना है। उर्दू भाषी यहाँ लाखों की संख्या में बसते हैं। हिन्दी भाषियों की भी पर्याप्त संख्या है। गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि के अतिरिक्त दक्षिण भारत की भाषाएँ—तमिल, मलयालम और कन्नड बोलने वाले भी यहाँ अपने आपको अजनबी नहीं पाते। भाषाओं के सम्मुख यहाँ कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई है। केवल शिक्षा के मामले में ही नहीं अन्य सभी क्षेत्रों में तेलुगु के अतिरिक्त अन्य भाषाओं को भी यहाँ प्रोत्साहन मिलता रहा है।

श्री विनायक कृष्ण गोकाक का अध्यक्षीय भाषण

संगोष्ठी के उद्घाटन समारोह के सभापति श्री विनायक कृष्ण गोकाक ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—'इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले लेखकों की मातृभाषा तेलुगु है, फिर भी वे लोग हिन्दी में लिखते हैं। दो भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त करना और दोनों भाषाओं में समान रूप से लिखना प्रशंसनीय गुण है।

'भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, किन्तु हम गंभीरता के साथ विचार करें तो पता चलेगा कि इन सब भाषाओं का साहित्य एक है। प्राचीन काल से ले कर आज तक देश की समस्त भाषाओं का साहित्य समान भावनाओं से अनुप्राणित रहा है। भाषाओं की विभिन्नता ने हमारे साहित्य

की अजस्र धारा को प्रभावित नहीं किया है। जहाँ तक साहित्य के इतिहास का पता चलता है, हम इस एकता के दर्शन कर सकते हैं। बहुत प्राचीन काल में जैन और बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ देश के एक कोने से ले कर दूसरे कोने तक पहुँचीं। इन शिक्षाओं से दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम चारों दिशाओं के लेखकों ने समान रूप से प्रेरणा प्राप्त की। फिर रामायण और महाभारत महाकाव्यों की प्रेरणा का ऋण देश की सभी भाषाओं पर एक जैसा है। देश के सभी अंचलों में धार्मिक आदर्श भी खंडित नहीं हुआ। भक्ति आन्दोलन ने तो हमारी सभी भाषाओं को आप्यायित कर दिया।'

'भारत की आधुनिक भाषाओं के लेखकों का दाय भाग ही समान नहीं है अपितु उनकी समस्याएँ भी समान हैं। हमारे समकालीन लेखकों के सामने जैसी जटिल समस्याएँ हैं, वैसी संभवत: किसी देश के लेखक के सामने नहीं हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हमारे यहाँ बड़ी तेज़ी से एक पूँजीवादी वर्ग का उत्थान हुआ है। पिछले पाँच छह वर्ष में इस पूँजीवादी वर्ग ने जहाँ अपने आपको बहुत शक्तिशाली बनाया है, वहाँ उसने देश के सामान्य जीवन को भी उत्तरोत्तर अधिक प्रभावित किया है। एक ओर हमारे देश के किसान तथा मज़दूर हैं, जिन्होंने गान्धीजी के नेतृत्व में संघर्ष करते हुए सोचा था कि जैसे ही अंग्रेज़ इस देश से जाएँगे, देश में रामराज्य की स्थापना होगी, उनकी विपत्ति एक दिन में टल जाएगी और उनके घर धन-धान्य से भर जाएँगे, किन्तु उनकी यह आशा निराशा में बदल गयी। इस स्थिति में उनके असन्तोष और क्षोभ की कल्पना की जा सकती है।'

'सामान्य जनता के अतिरिक्त देश की महिलाओं और विद्यार्थियों में असन्तोष की कमी नहीं है। एक ओर महिलाएँ अपनी प्राचीन परम्परा से बँधी हुई हैं, दूसरी और औद्योगिक विकास तथा बदलते हुए आर्थिक साधनों के कारण नयी दिशाएँ उनके सामने उद्‌घाटित होती जा रही हैं। पुराने प्रकार के सामाजिक बन्धनों से छुटकारा पाने की इच्छा महिलाओं में सहज ही उद्विग्नता उत्पन्न कर रही है।'

'इन परिस्थितियों में लेखक अथवा कलाकार को अपना कार्य करना है। सब से पहली बात तो यह है कि कलाकार किसी लोभ में न पड़े और दूसरी बात यह है कि वह किसी भय अथवा आतंक के कारण अपने मार्ग से स्खलित न हो। यदि वह भी भयग्रस्त और आतंकित हो गया तो सामान्य जनता अपना मार्ग कैसे निश्चित कर सकेगी? लेखक की बुद्धि भ्रष्ट हो

जाएगी। हमारे यहाँ सोच-विचार कर काव्य की आत्मा 'रस' मानी गयी थी, और रसों में प्रेम, हास्य के अतिरिक्त भय, घृणा, शोक आदि भावों को भी उचित स्थान मिला। भारतीय साहित्य-सिद्धान्त के अनुसार कवि भय, घृणा आदि को भी रस में परिवर्तित करता है।'

'कोई कलाकार दर्शक ही बन सकता है, नियन्ता नहीं। कलाकार समस्या का हल प्रस्तुत नहीं कर सकता, वह तो समस्याओं को यथावत चित्रित करता है। कलाकार को जन-जीवन के साथ चलना चाहिए। हम सब लोगों की आकांक्षा है कि हमारा देश महान् बने। हमारा देश सभी लौकिक समृद्धियों का आवास बने, इतना ही पर्याप्त नहीं है। हम अपनी भूमि पर स्वर्गलोक को अवतरित करना चाहते हैं। लेखक, कवि, आलोचक, कलाकार सभी इस कार्य में योग दें।'

श्री बेजवाड़ गोपाल रेड्डी का भाषण

आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी को सम्बोधित करते हुए श्री बेजवाड़ गोपाल रेड्डी ने कहा—

'दक्षिण भारत में लाखों नर-नारियों ने हिन्दी सीखी है। उन्होंने यह कार्य किसी सरकारी प्रयत्न के कारण नहीं किया। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व हम लोगों ने गाँधीजी की प्रेरणा से हिन्दी पढ़ना-लिखना शुरू किया था। इस प्रयास में राष्ट्रीय भावना और प्रेम के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव नहीं था। हम लोगों ने केन्द्रीय गृह विभाग अथवा शिक्षा-विभाग के प्रयासों से हिन्दी नहीं सीखी।'

'आन्ध्र प्रदेश में कुछ लोगों ने हिन्दी का गहन अध्ययन किया है। ये लोग हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों की रचना करने लगे हैं। इनमें से कुछ लोगों ने हिन्दी को इतना स्वीकार किया है कि अपनी मातृभाषा तेलुगु ही भूल गये, किन्तु मैं इस स्थिति को वांछनीय नहीं मानता। इन लेखकों को अपनी मातृ-भाषा के साथ भी सम्पर्क रखना चाहिए। तेलुगु के साथ-साथ हिन्दी का ज्ञान सम्पादित किया जाना चाहिए। तेलुगु छोड़ कर हिन्दी अपनाना उचित नहीं होगा।'

'हिन्दी के कारण इस देश की किसी भाषा की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। सभी भाषाओं का समान महत्त्व है। किसी भारतीय भाषा के साहित्य का परिचय देने के लिए हिन्दी माध्यम बने यह स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। भारतीय भाषाओं में परस्पर सीधे आदान-प्रदान होना

चाहिए। तेलुगु भाषी लोगों में दो-दो, चार-चार व्यक्ति ऐसे अवश्य हों जो तेलुगु के अतिरिक्त देश को कोई न कोई दूसरी भाषा अच्छी तरह सीखें। आज उड़िया, तमिल और कन्नड से तेलुगु में अनुवाद करना हो तो हमारे प्रदेश में दो-चार अच्छे अनुवादक भी नहीं मिलेंगे, यद्यपि तीनों हमारी पड़ौसी भाषाएँ हैं। यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। देश की सभी प्रमुख भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाएँ तेलुगु में सीधे आनी चाहिएँ। यूरोप में चार-पाँच भाषाओं के जानने वाले लोग सरलता से मिल जाते हैं, किन्तु भारत में हम पडौसी प्रान्त की भाषा से भी परिचय नहीं रखते।'

'इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, किन्तु हिन्दी प्रेमियों को कुछ समस्याओं पर तुरन्त ध्यान देना चाहिए। भारत की एकता के लिए देश के हिन्दीतर भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार हो रहा है। हिन्दीतर भाषी प्रदेशों की भाषा का परिचय पाने के लिए हिन्दीभाषी लोग क्या कर रहे हैं? हिन्दीभाषी प्रदेश अपने देश के अन्य प्रान्तों के जन-जीवन से कितने परिचित हैं? यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं है कि ऐसे तेलुगु भाषी व्यक्ति तो बहुत-से मिलते हैं जो हिन्दी-तेलुगु में सफल अनुवाद कर लेते हैं, किन्तु एक भी हिन्दीभाषी व्यक्ति सामने नहीं आता जो तेलुगु से हिन्दी में अनुवाद कर सके। हिन्दीभाषी प्रदेशों को छात्रवृत्ति दे कर बहुत-से व्यक्ति कलकत्ता, मद्रास, पूना, अहमदाबाद, हैदराबाद आदि नगरों में भेजना चाहिए जिससे वे बंगाली, तमिल, मराठी, गुजराती, तेलुगु आदि भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकें। दक्षिण भारत के लोगों का यह विश्वास हो चला है कि हिन्दीभाषी प्रदेश हिन्दीतर भाषी प्रदेशों से कुछ सीखना नहीं चाहते। यह अग्राह्यता भाषा के क्षेत्र में ही नहीं है। दक्षिण भारत में कई व्यक्ति हिन्दुस्तानी संगीत जानते हैं। कुछ लोग हिन्दुस्तानी राग अच्छी तरह गा भी लेते हैं, किन्तु हिन्दी भाषी प्रदेशों में कर्नाटकी संगीत जानने वाले कितने लोग हैं? यह स्थिति समाप्त होनी चाहिए। सभी प्रान्तों के जन-जीवन, क्रिया-कलाप और साहित्य तथा कला के प्रति हमारा अनुराग होना चाहिए।'

श्री गंगाशरण सिन्हा का भाषण

इससे पूर्व संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री गंगाशरण सिन्हा ने कहा—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'हमारे देश में राजनीति को अनावश्यक रूप से महत्त्व मिल गया है। प्रत्येक प्रश्न का हल राजनीतिज्ञों पर छोड़ दिया जाता है। राजनीति बालू रेत की तरह जीवन के रस को सोखती जा रही है। साहित्यिक ही इस बालू रेत में रस-धार बहा सकता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि भारत का सार्वजनिक जीवन बालू रेत के स्पर्श से कितना नीरस बन चुका है। साहित्यिकों को राजनीति में न पड़ कर अपना कर्त्तव्य निभाना चाहिए।'

श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी का भाषण

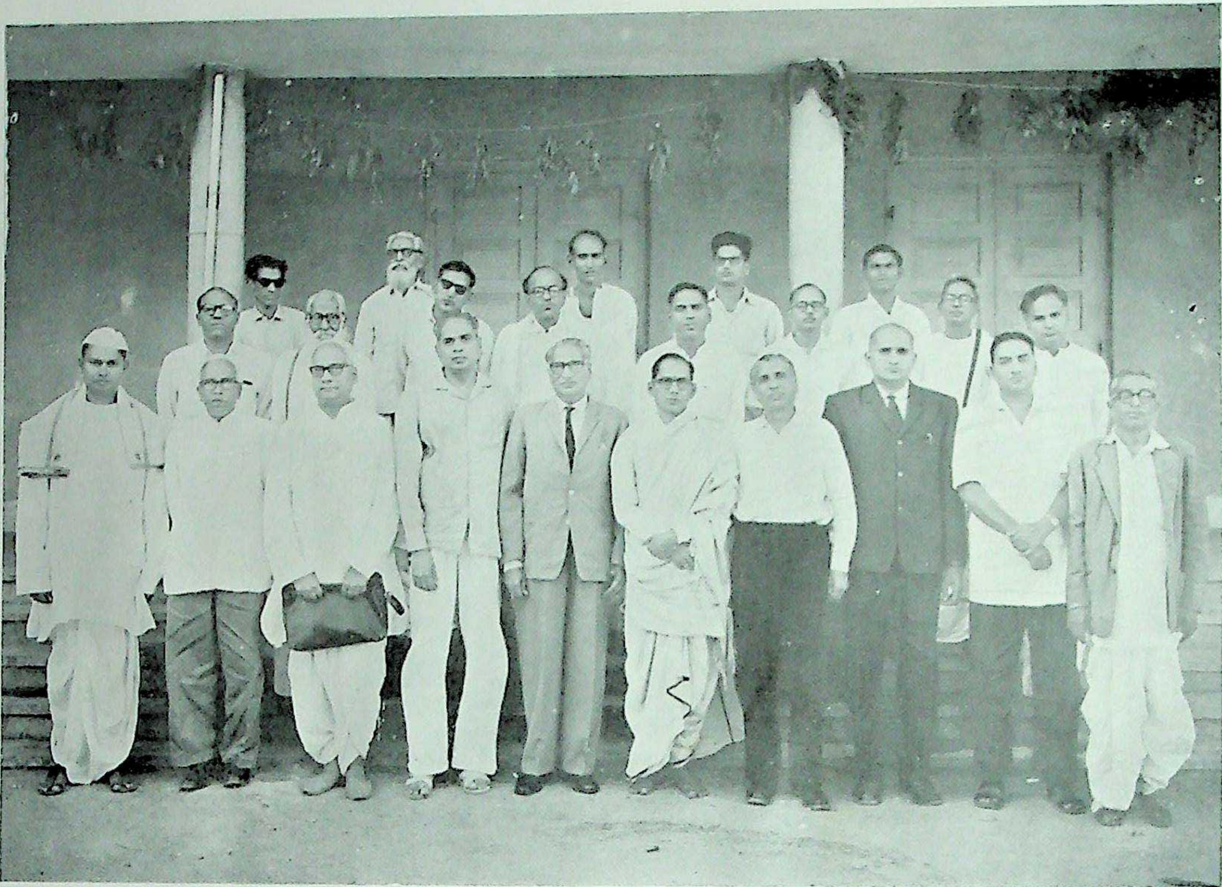
श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी ने अपने भाषण में हिन्दी की तीन भौगोलिक परिधियों का उल्लेख करते हुए कहा—'हिन्दी की तीन भौगोलिक परिधियाँ हैं। उसकी एक प्रान्तीय परिधि है, इस परिधि की सीमा गंगा और यमुना बनाती है। उसकी दूसरी परिधि अन्तर्प्रान्तीय है। इस परिधि में राजस्थान से ले कर पटना तक का क्षेत्र आता है। उसका तीसरा रूप राष्ट्रीय है। इस सीमा में समूचा देश समाता है। हिन्दी से अनुराग रखने वाला व्यक्ति इन तीन परिधियों को ध्यान में रख कर कार्य करे तो बहुत-सी आशंकाएँ अपने आप निवृत्त हो जाएँगी। यदि प्रान्तीय परिधि वाला अपने को ही प्रामाणिक मान कर सन्देश देता रहे तो अन्तर्प्रान्तीय और राष्ट्रीय परिधियों में उसकी प्रतिक्रिया ठीक नहीं होगी। राष्ट्रीय परिधि में हुई बात भी प्रान्तीय परिधि में गूँजनी चाहिए।'

'हमारे देश की राजनीति धर्म के कारण और हमारी भाषा प्रान्तीयता से कलुषित हुई है। इस कलुष के कारण हम अपनी भाषाओं का समुचित विकास नहीं कर सके। हिन्दी के साधकों का कर्त्तव्य है कि वे शीघ्र से शीघ्र देश की सभो भाषाओं के नये-पुराने साहित्य का सार हिन्दी में प्रस्तुत कर दें। हिन्दी सम्पूर्ण भारत की मिली-जुली संस्कृति का प्रतिनिधित्व करे। जब तक हिन्दी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में नहीं होता, उसका सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता।

'हिन्दी को एक ओर तो संसार की सभी समृद्ध भाषाओं के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और दूसरी ओर उसका संबंध भारत की सभी भाषाओं से जुड़ना चाहिए। इस सम्पर्क के कारण हिन्दी भाषा विकसित होगी और उसका साहित्य समृद्ध बनेगा। प्रादेशिक जीवन का चित्रण करने से यह भाषा महान् नहीं बन सकती। आज तक हसारे देश की जनता को धर्म

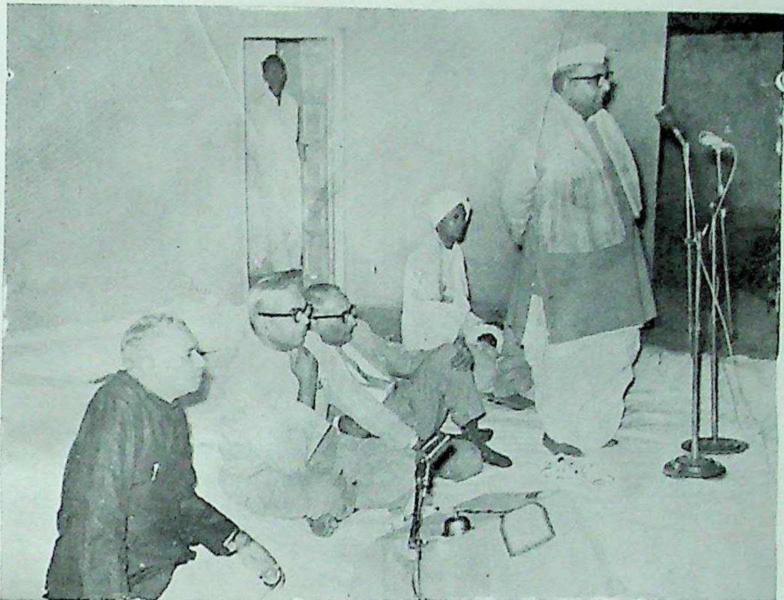


श्री विनायक कृष्ण गोकाक अध्यक्षीय भाषण देते हुए



परिचय ↓

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

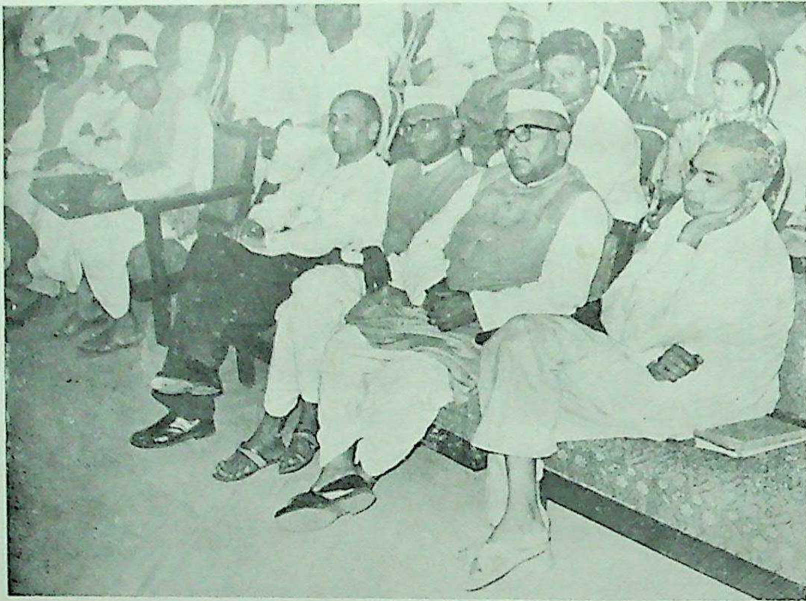


श्री गंगाशरण सिन्हा उद्‌घाटन भाषण देते हुए

दाँये से बाँये : प्रथम पंक्ति—सर्वश्री डी. रामानुजराव, सुन्दर रेड्डी, हनुमत् शास्त्री, भालचन्द्र आपटे, डा. सूर्यनारायण मूर्ति, लक्ष्मीनारायण गुप्त, गोपाल रेड्डी, बालकृष्णराव, एम्. बी. वी. आर. शर्मा, डा. बी. रामराजू।

दूसरी पंक्ति—श्रीराम शर्मा, राममूर्ति रेणु, डा. भीमसेन 'निर्मल', वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति, सी. कामाक्षीराव, डा. व्रजबिहारी तिवारी, धर्माराव, ए. रमेश चौधरी

ऊपरी पंक्ति—सीताराम शास्त्री, चौधरी, आलूरि बैरागी, यज्ञ-नारायणराव



दर्शक : दाँये से बाँये—सर्वश्री गोपाल रेड्डी, गंगाशरण सिन्हा, आयंगार, भालचन्द्र आपटे।

ने एकता प्रदान की, किन्तु अब धर्म की वह स्थिति नहीं रह गयी है। धर्म पर हमारी आस्था कम होती जा रही है। अब इस एकता को भाषा ही बनाये रख सकती है।'

श्री देवुलपल्ली रामानुजराव ने संगोष्ठी के लिए प्राप्त देश के प्रमुख व्यक्तियों के सन्देश पढ़ कर सुनाये। श्री मोटूरि सत्यनारायण ने उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष, वक्ताओं और श्रोताओं को धन्यवाद दिया।

बैठकों का विवरण

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से ६, ७, ८ फ़रवरी १९६५ को आन्ध्र सारस्वत परिषद् के सभा भवन में आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी आयोजित हुई। संगोष्ठी में सम्मिलित लेखकों तथा साहित्य-प्रेमियों की सूची परिशिष्ट में दी गयी है।

संगोष्ठी की बैठकों का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम बैठक : प्रकाशन और अनुवाद

६ फ़रवरी १९६५, शनिवार को प्रातः ९ बजे संगोष्ठी की पहली बैठक की अध्यक्षता हिन्दी निदेशालय, शिक्षा-मंत्रालय केन्द्रीय शासन, नई दिल्ली के निदेशक डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी ने की।

१. बैठक के संयोजक डाक्टर श्रीराम शर्मा ने बैठक के अध्यक्ष डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी तथा उपस्थित लोगों का स्वागत करते हुए कहा : 'डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी ने आगरा विश्वविद्यालय के क. मा. भाषा-विज्ञान तथा विद्यापीठ के संचालक के रूप में हिन्दीतर भाषा-भाषी क्षेत्र के अनेक छात्रों को हिन्दी साहित्य के उच्च अध्ययन तथा अनुसंधान के लिए प्रेरित किया था। केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय के हिन्दी निदेशालय के निदेशक के रूप में इस समय आप उन सभी कार्यों से संबंधित हैं जो हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के उन्नयन के लिए किये जा रहे हैं। इस संगोष्ठी में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति लेखक होने के अतिरिक्त हिन्दी के अध्यापक तथा प्रचारक भी हैं। हिन्दीतर भाषाभाषी क्षेत्रों में हिन्दी लेखन तथा अनुवाद की समस्याओं से इन लोगों का अच्छा परिचय है। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी ने इस वर्ष हिन्दी के सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्य हाथ में लिये थे—

(१) तेलुगु में सूरदास के सौ पदों का गीतानुवाद।

(२) पोतनाकी भागवत के कुछ उत्कृष्ट अंशों और मनुचरित्र का हिन्दी में काव्यानुवाद।

(३) तेलुगु की प्रातिनिधिक कहानियों का हिन्दी अनुवाद।

(४) आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी।

श्री दुर्गानन्द ने सूरदास के पदों का तेलुगु गीतानुवाद पूर्ण कर लिया है। पुस्तक इस समय प्रेस में है।

पोतना की भागवत के कुछ उत्कृष्ट अंशों का काव्यानुवाद श्री वाराणसी राममूर्ति ने पूरा कर लिया है। इस अनुवाद का मुद्रण कार्य प्रारम्भ हो चुका है। मनुचरित्र का अनुवाद श्री मल्लादि शिवराम कर रहे हैं।

तेलुगु की प्रातिनिधिक कहानियों का अनुवाद श्री बालशौरि रेड्डी ने किया है। यह कहानी संग्रह इस समय छप रहा है।

आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी आज से प्रारम्भ हो रही है।

२. संगोष्ठी का उद्देश्य बताते हुए आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष डाक्टर बेजवाड गोपाल रेड्डी ने कहा, "आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी का इस विवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है कि हिन्दी देश की राजभाषा बन सकती है या नहीं। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी इस बात को तीव्रता के अनुभव कर रही है कि देश की विभिन्न भाषाएँ एक-दूसरे के निकट आएँ। बहुत से सुशिक्षित भारतीय अपनी मातृभाषा के साहित्य से भी परिचित नहीं हैं। मातृभाषा के अतिरिक्त देश की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत अल्प है। आन्ध्र साहित्य अकादमी मुख्यतः तेलुगु साहित्य के विकास का कार्य करती है, किन्तु स्थापना-काल से ही उसका यह भी लक्ष्य रहा है कि देश की विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित किया जाए। तेलुगु के अतिरिक्त अकादमी ने उर्दू में भी कुछ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। कुछ समय पहले अकादमी ने मराठी के प्रमुख उपन्यास लेखक हरि नारायण आपटे का शताब्दी महोत्सव आयोजित किया था। हम लोग चाहते हैं कि हिन्दी का उत्कृष्ट साहित्य तेलुगु में और तेलुगु की कालजयी रचनाएँ हिन्दी में अनुवादित हों। इन दोनों भाषाओं के आधुनिक लेखकों में पारस्परि परिचय को भी अकादमी प्रोत्साहित करना चाहती है। आन्ध्र प्रदेश के अनेक व्यक्तियों ने हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। हम

लोग उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब हिन्दी भाषी लोग तेलुगु तथा देश की अन्य भाषाओं का अध्ययन करेंगे। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी आन्ध्र के उन लेखकों को प्रोत्साहित करना चाहती है, जो हिन्दी में मौलिक रूप से लिखते हैं अथवा हिन्दी तेलुगु की श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद में लगे हुए हैं।"

३. बैठक के सभापति डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, "मैं इस गोष्ठी में भाग लेने वाले महानुभाओं के रूप में देश के विराट् रूप का साक्षात्कार कर रहा हूँ। त्रिविक्रम के पराक्रम का वर्णन करते हुए तेलुगु के महाकवि पोतना ने अपनी भागवत में लिखा है—वामन भगवान् का एक पद पूरे भूमंडल को व्याप्त कर गया। उस समय वामन के चरणों पर यह भूमण्डल ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे किसी कमल-पुष्प पर कीचड़ की एक बूँद पड़ी हुई हो। जब वामन के चरणारविन्द ने अन्तरिक्ष को नापा तो नभमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे कमल पुष्प पर भ्रमर गुंजायमान हो। आप सब लोग भी विक्रम की विराटता लिये हुए हैं। आपने एक ओर तो अपनी मातृभाषा तेलुगु का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया है। दूसरी ओर हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य का परिचय भी आप लोगों को है। आपका तीसरा पद मुझ जैसे भक्तों के मस्तक पर विराजमान है। आप सब लोग राष्ट्र के एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान में लगे हुए हैं।"

डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी ने भाषा विज्ञान के अनुसार भाषा की दो स्थितियों का उल्लेख करते हुए कहा, "किसी भी भाषा की दो स्थितियाँ होती हैं—बाह्य और आन्तरिक। अन्तर में जब किसी भाव का उदय होता है तो मनुष्य उसे व्यक्त करना चाहता है। यह प्रवृत्ति ही भाषा की आन्तरिक रचना करती है। उसका बाह्य रूप कण्ठ से ले कर ओष्ठ तक रचा जाता है। यदि कोई व्यक्ति मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में अपनी भावना की अभिव्यक्ति करना चाहता है तो उस भाषा की आन्तरिक रचना का क्षेत्र वहाँ तक पहुँच जाता है। भाषा की आन्तरिक रचना को ध्यान में रख कर ही भारतवर्ष के अनेक व्यक्तियों की गिनती अपनी भाषा के क्षेत्र के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भाषा के क्षेत्र में भी की जाती है। इस दृष्टि से अंग्रेज़ी भाषा का क्षेत्र इंग्लैण्ड तथा अमेरिका से हट कर बहुत दूर-दूर तक पहुँच जाता है। आप लोगों में हिन्दी लिखने की आकांक्षा विद्यमान है। यह अकांक्षा सूचित करती है कि हिन्दी भाषा की आन्तरिक रचना का क्षेत्र आप लोगों तक पहुँच चुका है। आप लोग हिन्दी में उच्च कोटि की रचना करते हैं। अपनी

समस्याओं पर विचार करने के लिए आप लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं। मेरी दृष्टि में आप लोगों की इस संगोष्ठी का असाधारण महत्त्व है।'

हिन्दीभाषी क्षेत्र का उल्लेख करते हुए डाक्टर विश्वनाथप्रसादजी ने कहा—"हिन्दी भाषी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति के संबंध में, मैं यह बात स्पष्ट करना चाहता हूँ कि उत्तर भारत में ऐसा कोई भूभाग नहीं है, जहाँ साहित्यिक हिन्दी सहज भाषा का काम करती हो। साहित्यिक हिन्दी एक अर्जित भाषा है। आप लोगों की तरह उत्तर भारत के लोग भी इसे अर्जित करते हैं। मेरा जन्म बिहार में हुआ है। मैंने पहले पहल इस भाषा को कुछ बाज़ीगरों के मुख से सुना था। तब किसी ने बताया था कि ये बाजीगर हिन्दुस्तानी बोलते हैं। मुझे बचपन में उर्दू पढ़ाई गयी। तब मैंने जाना कि बाजीगर लोगों की हिन्दुस्तानी ही उर्दू है। मुझे गुरुजी के पास हिन्दी पढ़ने के लिए भेजा गया तो पता चला हिन्दुस्तानी और उर्दू को ही पण्डित लोग, 'भाषा' कहते हैं। आगे चल कर जब मैं हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने लगा तो उसी हिन्दुस्तानी, उर्दू और भाषा (भाखा) को मैंने हिन्दी के रूप में पहचाना। राजस्थान, पंजाब आदि प्रान्तों में भी साहित्यिक हिन्दी सहजात नहीं है।

हिन्दी लेखकों को प्रकाशन की सुविधा

४. आन्ध्र के हिन्दी लेखकों को अपनी कृतियों के प्रकाशन में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा इन कठिनाइयों को कैसे दूर किया जा सकता है इस चर्चा का प्रवर्तन करते हुए श्री आरिगिपूड़ी रमेश चौधरी ने कहा—'आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों के सामने ही नहीं, संसार की सभी भाषाओं के लेखकों के सामने आज अनेक समस्याएँ हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक मनीषियों ने प्रयत्न किये है। मैं इन समस्याओं का उल्लेख न करके एक व्यावहारिक कठिनाई का ज़िक्र करना चाहता हूँ। आन्ध्र प्रदेश के बहुत से हिन्दी लेखकों को प्रकाशन की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इसी लिए उनकी प्रतिभा का ठीक-ठीक उपयोग नहीं हो सकता। मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि उत्तर प्रदेश के सभी हिन्दी लेखकों को प्रकाशन की पूरी-पूरी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, किन्तु उत्तर प्रदेश के हिन्दी लेखकों की अपेक्षा आँध्र प्रदेश के हिन्दी-लेखकों की कठिनाइयाँ बहुत अधिक हैं। पहली बात तो यह कि उत्तर प्रदेश में जन्म लेने वाला उत्कृष्ट कोटि का लेखक देर-सबेर उचित स्थान प्राप्त कर लेता है। वहाँ अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, जिनमें वह अपनी रचनाएँ भेज सकता है। ये पत्र-पत्रिकाएँ नवोदित

लेखकों को प्रोत्साहित करती हैं। धीरे-धीरे उनकी कलम मँजती है, और फिर उनकी रचनाओं के लिए प्रकाशक जुटने लगते हैं, किन्तु हिन्दी भाषी क्षेत्र से बहुत दूर बसने वाले आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों को इस प्रकार की सुविधाएँ बहुत कम हैं। दो-चार लेखक ही ऐसे हैं, जिन्हें प्रकाशन की सुविधाएँ मिली हुई हैं। अधिकांश अच्छे लेखकों को भी निराश होना पड़ता है। मैं यह सुझाव देना चाहता हूँ कि आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की एक सहयोगी संस्था स्थापित हो, जो अपने सदस्यों को प्रकाशन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करे। आन्ध्र प्रदेश ही नहीं समूचे दक्षिण भारत के हिन्दी लेखकों के लिए 'सहयोगी संस्था' की स्थापना होनी चाहिए।'

श्री रमेश चौधरी ने अपनी चर्चा को जारी रखते हुए कहा—'पंजाब और महाराष्ट्र के कुछ हिन्दी लेखक प्रकाशन संबंधी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए उत्तर प्रदेश के लखनऊ, वाराणसी, इलहाबाद आदि नगरों में बस गये। यह सत्य है कि इन नगरों में पहुँच कर पंजाबी अथवा मराठी भाषी लेखकों को प्रकाशन की अधिक सुविधाएँ मिलीं, किन्तु इस प्रकार अपने मूल स्थान से उखड़ कर अन्यत्र बसना उचित नहीं है। आन्ध्र का लेखक यदि हिन्दी लिखता है, तो अपने प्रान्त में रह कर ही वह हिन्दी के माध्यम से हिन्दी भाषियों को आन्ध्र की संस्कृति से परिचित करा सकता है। उत्तर प्रदेश में जा कर वह जन-जीवन से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकेगा। इसी तरह आन्ध्र प्रदेश का लेखक उत्तर प्रदेश, बिहार अथवा दिल्ली के प्रकाशक पर निर्भर नहीं रह सकता। प्रकाशक की अपनी रुचि होगी। हम इस बात की आशा नहीं रख सकते कि उत्तर भारत का प्रकाशक इस प्रदेश के लेखकों के विषयों में भी उतनी ही रुचि रखेगा। अपने क्षेत्र में रह कर ही प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था में हमें योग देना पड़ेगा।'

'यदि लेखक की रचना प्रकाशित न हो' श्री चौधरी ने कहा—'तो लेखक का प्रयास विफल हो जाता है। लेखक अपने पाठकों के लिए लिखता है। 'स्वान्त सुखाय' अथवा 'लिखने के लिए लिखना' की बात कहने में बहुत अच्छी लगती है। प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचना को पाठकों के हाथ में देखना चाहता है। पाण्डुलिपियों का ढेर लगाने के लिए कोई लेखक नहीं लिखता।

श्री रमेश चौधरी ने अन्त में कहा—'तेलुगु भाषी क्षेत्र के हिन्दी लेखकों का दायित्व है कि वे हिन्दी में ऐसा साहित्य लिखें जो यहाँ के जन-जीवन तथा यहाँ की प्राचीन संस्कृति को प्रतिबिंबित कर सके।'

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने इस चर्चा में भाग लेते हुए कहा—'यह निश्चित बात है कि उत्तर भारत के प्रकाशक आन्ध्र प्रदेश के सभी हिन्दी लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित नहीं कर सकते। इस दिशा में इस प्रदेश के लेखकों को ही प्रयत्न करना पड़ेगा। आन्ध्र प्रदेश से एक ऐसा साहित्यिक पत्र प्रकाशित होना चाहिए, जिसमें यहाँ के लेखकों की रचनाएँ छप सकें। पत्र के कारण आन्ध्र के हिन्दी लेखकों को प्रसिद्धि मिलेगी, उनका उचित दिशा में पथ प्रदर्शन होगा। पत्र के द्वारा उनकी त्रुटियों का परिमार्जन भी हो सकेगा। हम एक ऐसा स्थायी संगठन बनाएँ जो—(१) आन्ध्र के हिन्दी लेखकों की रचनाओं को छापेगा। (२) आन्ध्र प्रदेश की संस्कृति को हिन्दी साहित्य में अंकित करने लिए लेखकों को प्रेरित करेगा। (३) प्रकाशित साहित्य के वितरण की व्यवस्था करेगा।'

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने सुझाव दिया कि, 'इन तीनों कार्यों के लिए 'हिन्दी लेखक संघ' की स्थापना होनी चाहिए। इस संघ की ओर से साहित्यिक पत्र भी निकलना चाहिए।'

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने अपना विचार व्यक्त किया—'नेशनल बुक ट्रस्ट फंड' की ओर से पुस्तकें छार जा रही हैं, किन्तु इतने बड़े देश के लिए ट्रस्ट को विस्तृत योजना बनानी चाहिए। प्रत्येक राज्य में ट्रस्ट की ओर से प्रकाशन केन्द्र स्थापित होना चाहिए। यह केन्द्र उस राज्य के लेखकों को प्रकाशन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करे। इस व्यवस्था से हमारी भाषाओं का साहित्य समृद्ध होगा। लेखक प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था में न पड़ कर अपना पूरा समय साहित्य-सृजन में लगा सकेगा। यदि किसी राज्य का लेखक अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा में भी लिखना चाहे तो उसकी रचनाओं के प्रकाशन का प्रबन्ध होना चाहिए। आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों का संघ बनना चाहिए। यह संघ मौलिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ-साथ तेलुगु की कालजयी रचनाओं को हिन्दी में और हिन्दी के उत्कृष्ट साहित्य को तेलुगु में प्रकाशित करे।'

श्रीमती हेमलता आंजनेयुलु ने इस चर्चा में भाग लेते हुए कहा—"रूस में सभी कार्य निश्चित योजना के अनुसार होते हैं। वहाँ साहित्य भी किसी न किसी योजना के अन्तर्गत लिखा जाता है। उदाहरण के लिए वहाँ के नेता निश्चय करते हैं कि हमें इस वर्ष बिजली का उत्पादन बढ़ाना है। तब इस कार्य में लेखकों का सहयोग माँगा जाता है। कहानी, कविता,

उपन्यास सभी विधाओं में इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि बिजली के अधिक उत्पादन से हमारी भलाई होगी। भारत में हम इस प्रकार योजनाबद्ध ढंग से साहित्य लिखा जाये, यह ठीक नहीं होगा। आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों का संगठन बनना चाहिए, किन्तु संघ अपनी योजना के अन्तर्गत साहित्य निर्माण की प्रेरणा न दे। लेखक जो कुछ लिखता है, उसका परीक्षण कला की दृष्टि से होना चाहिए। सभी लेखकों की अच्छी रचनाओं को छापने का प्रबन्ध हो।'

श्रीमती हेमलता आंजनेयुलु ने कहा—"पुस्तकों के प्रकाशन तथा वितरण के अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की कृतियों के परिष्कार तथा संशोधन की व्यवस्था की जाए। भाषा सम्बन्धी त्रुटियों के परिमार्जन का प्रबन्ध भी लेखक संघ की ओर से होना चाहिए।"

डाक्टर भीमसेन 'निर्मल' ने सुझाव दिया—'आन्ध्र प्रदेश में हिन्दी की दो संस्थाएँ हिन्दी प्रचार का कार्य कर रही हैं—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की आन्ध्र शाखा और हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद। दोनों के पास प्रेस की अच्छी व्यवस्था है। इन दोनों संस्थाओं से अनुरोध किया जाए कि वे यहाँ के लेखकों की कृतियाँ प्रकाशित करें।"

डाक्टर श्रीराम शर्मा ने कहा—"प्रकाशन के साथ-साथ पुस्तकों के वितरण की भी व्यवस्था होनी चाहिए। सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से प्रकाशित पुस्तकें बहुत कम बिक पाती हैं। कुछ राज्यों ने हिन्दी में उच्च कोटि की पुस्तकें छापी हैं, किन्तु उनका प्रचार अधिक नहीं हो सका, निजी रूप से प्रकाशन करने वाले कुछ प्रकाशकों ने वितरण की सुव्यवस्था के कारण बहुत सफलता पायी है।"

चर्चा का समापन करते हुए श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी ने कहा—"इस विषय पर काफ़ी चर्चा हुई है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों का एक संघ बनाया जाए। यह संघ आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की रचनाएँ छापेगा। प्रकाशित साहित्य के वितरण की व्यवस्था करेगा। संघ की ओर से साहित्यिक पत्र भी निकाला जाए। संघ की नियमावली बनाने के लिए एक समिति बनायी जाए। यह समिति इस संगोष्ठी की अन्तिम बैठक में नियमावली प्रस्तुत करे। श्री चौधरी का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। समिति के लिए निम्नलिखित सदस्य मनोनीत किये गये—

(१) श्री मोटूरि सत्यनारायण
(२) श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी
(३) श्री एम. बी. वी. ए. आर. शर्मा
(४) श्री राधाकृष्ण मूर्त्ति
(५) श्री श्रीराम शर्मा (संयोजक)

श्री रमेश चौधरी का यह प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया गया कि प्रकाशन सम्बन्धी योजना बनाने के लिए एक समिति बनायी जाए। इस समिति में निम्नलिखित सदस्य मनोनीत किये गये—

(१) श्री मोटूरि सत्यनारायण
(२) श्री बालशौरि रेड्डी
(३) श्री भीमसेन 'निर्मल'
(४) श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
(५) श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी (संयोजक)

अनुवादक और अनुवाद

५. हिन्दी से तेलुगु तथा तेलुगु से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए किन ग्रन्थों को चुनना चाहिए, अनुवादक को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इस विषय की चर्चा प्रारंभ करते हुए श्री के. राजगिरि शेषराव ने कहा—'हिन्दी की श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद तेलुगु में और तेलुगु की उत्कृष्ट कृतियों का अनुवाद हिन्दी में होना चाहिए। अनुवाद एक पुनीत कर्त्तव्य है। अनुवादक भी साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है। समाज को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि अनुवादक अपने आपको किसी बात में कम न माने। कुछ ग्रन्थों के अनुवाद मात्र से हमारी आयश्यकता पूरी नहीं हो सकती। तेलुगु तथा हिन्दी के पारस्परिक आदान-प्रदान का कार्य नियमित रूप से होना चाहिए। अनुवादक जिन कठिनाइयों का सामना करता है, उनका निराकरण भी होना चाहिए।

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने कहा—तेलुगु की सौ उत्कृष्ट कृतियों को हिन्दी में रूपान्तरित करने की योजना बननी चाहिए। यदि इस प्रकार की कृतियों की सूची तैयार की जा सके तो अनुवादकों को बहुत सुविधा होगी।

श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्त्ति ने अपना विचार प्रकट किया कि, "तेलुगु की उत्कृष्ट कृतियों की सूची तैयार करते समय गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की

पुस्तकों का चयन होना चाहिए। अनुवादक को गद्य का अनुवाद करते समय उतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी कि पद्य के अनुवाद में होती है। पद्य का अनुवाद पद्य में न करके गद्य-गीत में करना चाहिए। इससे अधिक सुविधा होगी।"

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने चर्चा में भाग लेते हुए कहा—"तेलुगु-हिन्दी के अनुवाद कार्य में एक विशेष कठिनाई उपस्थित होती है। इन दोनों भाषाओं में संस्कृत के अनेक तत्सम शब्द प्रयुक्त होते हैं। दोनों भाषाओं में कुछ तत्सम शब्दों का रूप समान रहता है, किन्तु उनके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इस अर्थ-भिन्नता के कारण कई बार अनुवादक से अनर्थ हो जाता है। यदि इस प्रकार के शब्दों की एक सूची अर्थ-भिन्नता का निदर्शन करते हुए छाप दी जाए तो अनुवादकों को सुविधा होगी।"

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने अनुवादक के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा—"अनुवादक को हिन्दी तथा तेलुगु का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। अच्छी योग्यता रखने वाले अनुवादक को ही अनुवाद का कार्य दिया जाए। जहाँ तक कविता के अनुवाद का सम्बन्ध है, उसमें भावों की रक्षा के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य पर भी ध्यान देना चाहिए। अर्थ और नाद-सौन्दर्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। यह उचित होगा कि कविता का अनुवाद कविता में न करके गद्य में किया जाए। यदि भावार्थ के स्थान पर हिन्दी में किसी पद की व्याख्या की जाए, तो समझने में आसानी होगी। जब तक ऐसा अनुवादक उपलब्ध नहीं होता, जो नाद का भी ज्ञान रखता हो, तब तक हमें कविता का अनुवाद कविता में नहीं कराना चाहिए।"

श्री बेजवाड गोपाल रेड्डी ने कहा—"तेलुगु भाषी अनुवादकों को हिन्दी से तेलुगु में अनुवाद करना चाहिए। तेलुगु की कालजयी रचनाओं का हिन्दी अनुवाद उन अनुवादकों के लिए छोड़ देना चाहिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और जिन्होंने तेलुगु का समुचित ज्ञान प्राप्त किया है। हिन्दी भाषी व्यक्तियों को भारतीय भाषाओं से हिन्दी के अनुवाद का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए।"

श्री हनुमत् शास्त्री 'अयाचित' ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"कविता का अनुवाद कविता में भी होना चाहिए। अनुवादक में क्षमता होगी तो अनुवाद सुन्दर होगा। अनुवादक को मूल के साथ पूरा-पूरा न्याय करना चाहिए। अनुवाद के सम्बन्ध में विचार करते समय हम यह बात नहीं

भुला सकते कि किसी रचना के रसास्वादन के लिए पाठक अथवा श्रोता की ग्राहक शक्ति का भी बहुत महत्त्व रहता है।"

श्री श्रीराम शर्मा ने कहा—"कविता को अनुवादित नहीं किया जा सकता। कवि के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उस अनुभूति से वंचित रहते हैं, जिस अनुभूति से प्रेरित हो कर कवि ने कविता की रचना की। तेलुगु कविता का तेलुगु गद्य में भी अनुवाद करना सरल नहीं है। अनुवादक उस कविता के आशय को समझा सकता है। इस स्थिति में गद्य जितना सहायक हो सकता है, उतना पद्य नहीं हो सकता। गद्य में किसी आशय को स्पष्ट करने की बहुत गुंजाइश रहती है।

श्री भालचन्द्र आप्टे ने कहा, "यदि अनुवादक अच्छा कवि नहीं है तो उसे गद्य में ही अनुवाद करना चाहिए। भारत की सभी रचनाओं का अनुवाद हिन्दी में जल्दी से जल्दी होना चाहिए। अनुवादित पुस्तकों को लोकप्रिय बनाने के लिए विद्यालयों और कालेजों के पाठ्यक्रम में मूल रचनाओं के अतिरिक्त अनुवादित पुस्तकें भी रखनी चाहिएँ। विशेष रूप से हिन्दी के पाठ्यक्रम में तो भारत की सभी भाषाओं की अनुवादित कृतियों को स्थान मिलना चाहिए। इस समय हमारे विद्यालयों और कालेजों में अनुवादित पुस्तकों को बहुत उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है।"

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने विचार प्रकट किया—"किसी भाषा की कालजयी रचनाओं का अनुवाद केवल रसास्वादन के लिए नहीं किया जाता। इन दिनों साहित्य का उपयोग भाषा-विज्ञान, नृवंश शास्त्र, समाज-शास्त्र, इतिहास आदि के विवेचनात्मक अध्ययन के लिए भी किया जा रहा है। किसी विषय के तुलनात्मक अध्ययन के लिए विभिन्न भाषाओं के साहित्य से बहुत सहायता मिलती है। अनुवाद चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में, किन्तु मूल के भावों की पूरी-पूरी रक्षा आवश्यक है।"

श्री राममूर्ति 'रेणु' ने बताया—"पोतना की भागवत का हिन्दी अनुवाद करते समय मैंने स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त-द्वारा अनुवादित 'मेघनाद वध' को अपने सामने रखा है। किसी भाषा की कालजयी रचनाएँ उस भाषा के सभी बोलने वालों के लिए बोधगम्य नहीं होतीं। फिर इस बात की आशा कैसे की जा सकती है कि एक भाषा की उत्कृष्ट कृति का अनुवाद दूसरी भाषा में सभी लोग आसानी से समझ जाएँगे। सुशिक्षित व्यक्ति ही कालजयी रचनाओं के अनुवाद से लाभ उठा सकता है। तेलुगु में समास बहुला भाषा

का प्रयोग होता है, मैंने तेलुगु भागवत का अनुवाद करते समय यह बात ध्यान में रखी है कि तेलुगु भाषा की यह विशेषता हिन्दी में भी सुरक्षित रहे।"

श्री हेमलता आंजनेयुलु ने कहा—"मैं कुछ समय तक मास्को के रेडियो-केन्द्र में काम कर चुकी हूँ। इस केन्द्र में हज़ार से अधिक व्यक्ति संसार की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद का काम करते हैं। अनुवादकों के लिए वहाँ शब्दकोशों तथा अन्य प्रकार की सुविधाएँ मुहैया की जाती हैं। अनुवादक एक यंत्र की भाँति तेज़ी से अनुवाद करता है। इस प्रकार के अनुवाद में अनेक त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है।"

श्री हेमलता आंजनेयुलु ने अनेक उदाहरण दे कर अपने कथन की पुष्टि की और कहा, "अनुवाद की सबसे पहली विशेषता यह है कि उसमें प्रत्येक शब्द को चाहे व्यक्त करने का प्रयत्न न किया गया हो, किन्तु भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति अवश्य हुई हो। अनुवाद पढ़ते समय यह अनुभव होना चाहिए कि हम मूल कृति को ही पढ़ रहे हैं।"

तेलुगु-हिन्दी अनुवाद की कठिनाइयों पर प्रकाश डालते समय श्री हेमलता आंजनेयुलु ने कहा—"अनुवादक को शब्दार्थ के ज्ञान तथा पर्याय-वाची शब्दों की उपलब्धि से ही सफलता नहीं मिल सकती। जिस भाषा से वह अनुवाद कर रहा है, उस भाषा के बोलने वालों की संस्कृति से भी उसका लगाव होना चाहिए। उदाहरण के लिए तेलुगु के 'बावा' शब्द को लीजिए। तेलुगु में फूफी के लड़के को 'बावा' कहते हैं, किन्तु हम हिन्दी में 'बावा' का अर्थ 'फुफेरा भाई' नहीं करेंगे। तेलुगु भाषी प्रदेश में फुफेरे भाई के साथ विवाह होता है, हिन्दी भाषी क्षेत्र में इस प्रकार का विवाह निषिद्ध है। यदि किसी अनुवाद में यह लिखा जाये कि फुफेरे भाई के साथ उस लड़की का विवाह हुआ तो हिन्दी का पाठक परेशानी में पड़ेगा। इस प्रकार के शब्दों के लिए पर्यायवाची शब्द देना ठीक नहीं रहेगा। हम हिन्दी अनुवाद में भी तेलुगु का मूल शब्द रख कर उसका तात्पर्य पाद-टिप्पणी में दे सकते हैं। अनुवाद करते समय अनुवादक तथा मूल लेखक में सम्पर्क स्थापित हो, तो बहुत-सी भूलों का परिमार्जन हो सकता है।"

इस चर्चा का समापन करते हुए डाक्टर विश्वनाथप्रसाद ने कहा—"अनुवादक की एक कठिनाई यह भी है कि हमारी भाषाओं में ऐसे द्विभाषिक कोश नहीं हैं, जो अनुवाद को दृष्टि में रखकर तैयार किये गये हों। इस समय

जो द्विभाषिक कोश तैयार हो रहे हैं, उनसे अनुवादकों की आवश्यकता भी पूरी होनी चाहिए।"

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने सुझाव दिया कि "हिन्दी निदेशालय की ओर से ऐसे कोश प्रकाशित होने चाहिएँ जिनमें भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले समान संस्कृत तत्सम शब्दों की अर्थ-भिन्नता का उल्लेख हो।"

श्री विश्वनाथ प्रसादजी ने कहा—"भिन्नार्थ सूचक संस्कृत तत्सम शब्दों की सूची द्विभाषिक कोशों के अन्त में दी जानी चाहिए।"

अध्यक्ष महोदय ने आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के मंत्री श्री देवुलपल्ली रामानुजराव से आग्रह किया कि वे तेलुगु के ऐसे उत्कृष्ट ग्रन्थों की सूची तैयार कराएँ जिनका हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। प्रत्येक पुस्तक के लिए सुयोग्य अनुवादक का नाम भी सुझाया जा सके तो अच्छा रहेगा।

विविध

६. श्री बालशौरी रेड्डी ने सुझाव रखा कि आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से प्रति वर्ष पुरस्कार देना चाहिए। मौलिक ग्रन्थों और अनुवाद के लिए पृथक्-पृथक् पुरस्कार देना ठीक रहेगा।

७. श्री भालचन्द आपटे ने कहा—हिन्दी में आन्ध्र प्रदेश की संस्कृति तथा साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकशित होने चाहिएँ।

८. श्री ए. सी. कामाक्षीराव ने सुझाव दिया कि हिन्दी साहित्य की विभिन्न धाराओं का परिचय देने के लिए तेलुगु में अलग-अलग ग्रन्थ लिखाये जाने चाहिएँ। हिन्दी तेलुगु का तुलनात्मक व्याकरण तैयार कराया जाए।

९. श्री मोटूरि सत्यनारायण ने कहा—संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से तेलुगु के तीन कवि—तिक्कना, पोतन्ना और वेमना—आन्ध्र प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों कवियों की विचार-धारा सामासिक रूप से आन्ध्र प्रदेश के चिन्तन को व्यक्त करती है। इन तीनों कवियों की कृतियाँ हिन्दी में अनुवादित होनी चाहिए।

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के मन्त्री श्री देवुलपल्ली रामानुजराव ने बैठक में सम्मिलित होने वाले लेखकों और सभापति को धन्यवाद अर्पित किया।

दूसरी बैठक : हिन्दी साहित्य

१०. ७ फ़रवरी १९६५ रविवार को प्रातः ९ बजे संगोष्ठी की दूसरी बैठक श्री सी. बालकृष्णराव की अध्यक्षता में हुई। बैठक के संयोजक श्री श्रीराम शर्मा ने श्री बालकृष्णराव का परिचय देते हुए कहा, "हिन्दी के यशस्वी कवि तथा विचारक श्री बालकृष्णराव हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं।"

संगोष्ठी में उपस्थित लेखको का पारस्परिक परिचय कराया गया। डाक्टर व्रजेश्वर वर्मा ने केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा का परिचय दिया।

११. श्री बालकृष्णराव ने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा— "मेरे पिता (भारत के प्रसिद्ध पत्रकार स्वर्गीय सी. वाई. चिन्तामणि) तेलुगु भाषी थे। मेरी माताजी भी तेलुगु बोलती थीं। माता-पिता इलाहाबाद में जाकर बस गये थे। हमारे घर में तेलुगु बोली जाती थी। मेरी पढ़ाई अंग्रेज़ी माध्यम से हुई, किन्तु आस-पास के वातावरण के कारण अनायास ही हिन्दी से परिचय हो गया। मेरे पिताजी अंग्रेज़ी के पत्रकार थे। बचपन की बात है। थोड़ी ही आयु में मुझे अंग्रेज़ी भाषा का कुछ ज्ञान हो गया था। मैंने अंग्रेज़ी में दो सानेट लिख कर पिताजी के सामने रख दिये। पिताजी ने उन सानेटों की ओर देखा भी नहीं। उन्होंने मुझे सलाह दी कि भारतीय लोग अंग्रेज़ी में नहीं लिख सकते। यदि मुझे कविता ही लिखनी है तो मैं हिन्दी में कविता लिखूं। उस दिन का दिन है, और आज का दिन है, मैंने अंग्रेज़ी में कविता नहीं लिखी। हिन्दी में ही कुछ लिखता रहा हूँ और मुझे अपने लेखन-कार्य पर पूरा-पूरा सन्तोष है। मुझे अपने पिताजी की इस बात की पूरी सच्चाई उस समय ज्ञात हुई जब मैं पिछले दिनों इंग्लैंड गया था। वहाँ मैंने अंग्रेज़ी पत्र 'एनकांउटर' के सम्पादक से अनुरोध किया कि भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य पर एक विशेषांक प्रकाशित करें। सम्पादक महोदय ने मेरा सुझाव पसन्द किया, किन्तु साथ ही प्रश्न भी कर डाला कि 'इस अंक के लिए लेख कौन लिखेगा? भारत में ऐसा कोई लेखक नहीं है, जो अच्छी अंग्रेज़ी लिख सके।' वास्तविकता यह है कि हम पिछले डेढ़ सौ वर्षों से अंग्रेज़ी पढ़ रहे हैं, किन्तु किसी भारतीय अंग्रेज़ी लेखक को अंग्रेज़ों ने अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान नहीं दिया है। इस लम्बी अवधि में अंग्रेजी काम-काज की भाषा रही है। हम ने ज्ञानार्जन भी इस भाषा के माध्यम से किया है, किन्तु हम अंग्रेज़ी में सोच नहीं सकते, इसी लिए अंग्रेज़ी में लिख भी नहीं सकते।"

लेखकों के उत्तरदायित्व की चर्चा करते हुए श्री बालकृष्णराव ने कहा, "प्रश्न यह है कि लेखक किसके लिए लिखता है ? हमें इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए कि जो लेखक समकालीन समाज के लिए नहीं लिखता वह किसी युग के पाठक के लिए नहीं लिख सकता। 'उत्पत्स्यते कोऽपि समान-धर्मा' की प्रतीक्षा लिये हुए कोई कवि अथवा लेखक उच्चकोटि का साहित्य नहीं लिख सकता। हाँ, यह संभव है कि कोई कृति अपने समकालीनों की आवश्यकता पूर्ण करते हुए भी भविष्य के पाठकों के लिए पठनीय बनी रहे। इस प्रकार का स्थायी महत्त्व किसी कृति को अनायास प्राप्त होता है। कवि-लेखक यदि भविष्य काल के लिए लिखेंगे तो उनकी रचना न तो समकालीनों के मन को भाएगी और न भविष्य काल का पाठक उसका उपयोग कर सकेगा। फिर हमें यह बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिए कि कोई लेखक समकालीन समाज के सभी व्यक्तियों के लिए नहीं लिख सकता। समाज के किसी विशेष वर्ग को ध्यान में रख कर ही कुछ लिखा जा सकता है। इसलिए लिखने से पहले लेखक को यह बात सोच लेनी चाहिए कि वह किसके लिए लिखता है ?"

'नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना का दायित्व लेखक पर है'—श्री बालकृष्णराव ने अपना भाषण जारी रखते हुए कहा, "सामाजिक मूल्यों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। यही बात नैतिक मूल्यों की भी है। पिछले १५-२० वर्ष में भारतीय समाज के नैतिक मूल्यों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। गाँधीजी के नेतृत्व में भारतीय समाज ने त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, निष्पक्षता आदि गुणों को महत्त्व दिया था। उन दिनों चतुराई, कूटनीतिज्ञता, व्यवहार कुशलता, आक्रोश आदि गुणों की पूजा नहीं होती थी, किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात चतुराई, कूटनीतिज्ञता आदि गुणों को अधिक आदर मिल रहा है। आज कुछ लोग त्याग, बलिदान, सहिष्णुता आदि की उपेक्षा देख कर अप्रसन्नता प्रकट करते हैं, किन्तु हमें यह मानना चाहिए कि आवश्यकता के अनुसार नैतिक मूल्यों में अवश्य परिवर्तन होता है। समकालीन सामाजिक मूल्यों के साथ साहित्यिक मूल्यों के समन्वय में ही साहित्य की सफलता निर्भर है। गाँधी युग का लेखक इस प्रकार का समन्वय कर सका था, किन्तु आज का लेखक सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों का ठीक तरह से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रहा है। यह ठीक है कि देश का संचालन राजनीतिज्ञों के हाथ में रहेगा, किन्तु उनका पथप्रदर्शन तो साहित्यिक को करना है।"

श्री बालकृष्णराव ने कहा—"हिन्दी लेखकों, विशेष रूप से दक्षिण भारत के हिन्दी लेखकों का दुहरा दायित्व है। एक दायित्व तो वे लेखक के नाते स्वीकार करते हैं। लेखक के अतिरिक्त वे हिन्दी के प्रचारक भी मान लिये जाते हैं, इसीलिए उन्हें प्रचारक का कर्तव्य भी पूरा करना पड़ता है। हिन्दी के लेखक का इस समय सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि वह देश की एकता के लिए अथक परिश्रम करे।"

"हिन्दी भाषियों को देश की कोई दूसरी भाषा सीखनी चाहिए", श्री राव ने कहा, "यह सुझाव उस समय तक क्रियान्वित नहीं हो सकता, जब तक कोई ठोस लाभ दिखाई न दे। केवल भावनात्मक एकता की बात इस सुझाव को क्रियान्वित नहीं कर सकती। हिन्दी राष्ट्रीय चेतना के साथ जुड़ी हुई थी, अतः उसका हिन्दीतर भाषी प्रदेशों में प्रचार हुआ। उसी प्रकार की कोई प्रबल भावना इस बात के साथ भी जुड़नी चाहिए कि हिन्दी भाषियों को देश की अन्य भाषाओं को सीखने के लिए अग्रसर होना चाहिए। शासन को ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि हिन्दी भाषी प्रदेश के लोग हिन्दीतर भाषा के ज्ञान का समुचित उपयोग कर सकें।"

श्री बालकृष्णराव के अध्यक्षीय भाषण के पश्चात निम्नलिखित निबन्ध पढ़े गये—

(१) हिन्दी और उसके प्रबल पक्ष—श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी।
(२) हिन्दी साहित्य को तेलुगु भाषियों की देन—डाक्टर भीमसेन 'निर्मल'
(३) भारतीय साहित्य और हिन्दी : अनुवाद-माध्यम के रूप में—श्री हेमलता आंजनेयुलु।

श्री आरिगिपूडि के निबन्ध के सम्बन्ध में श्रीराम शर्मा ने कहा कि निबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी और उसके प्रबल पक्ष' रखा गया है, किन्तु 'प्रबल' शब्द का 'प्र' उपसर्ग कई स्थलों पर 'निर्' का स्थान ग्रहण कर लेता है। हिन्दी के उपन्यासों और कहानियों के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकट किया गया है, उस पर बहुत कुछ विचार किया जा सकता है।

तीसरी बैठक : तेलुगु साहित्य

११. ७ फ़रवरी १९६५ को अपराह्‌ण में डाक्टर बेजवाड गोपल रेड्डी की अध्यक्षता में आयोजित बैठक में तेलुगु साहित्य से सम्बन्धित निबन्ध पढ़े

गये। आरंभ में डाक्टर बी. रामराजू ने अध्यक्ष महोदय का स्वागत किया। इस बैठक में निम्नलिखित निबन्ध पढ़े गये—

(१) तेलुगु रंगमंच का उद्भव तथा विकास—श्री वाराणसी राममूर्त्ति 'रेणु'।

(२) तेलुगु शतक वाङ्मय—श्री मु. भ. इ. शर्मा

(३) तेलुगु में हिन्दी, फ़ारसी और अरबी के शब्द—श्री अयाचित हनुमत् शास्त्री।

(४) आन्ध्र का लोक-साहित्य—श्री कर्णवीर राज शेषगिरिराव।

(५) तेलुगु में यक्ष-गान साहित्य—श्री बालशौरि रेड्डी

(६) आधुनिक तेलुगु-कविता—श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति

चौथी बैठक : तेलुगु तथा हिन्दी साहित्य के कुछ अंशों का तुलनात्मक अध्ययन

१२. संगोष्ठी की चौथी बैठक ८ फ़रवरी १९६५ को हुई। श्री पी. वी. नरसिंह राव ने गोष्ठी की अध्यक्षता की। बैठक के संयोजक डाक्टर भीमसेन 'निर्मल' ने अध्यक्ष महोदय का स्वागत किया।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए श्री पी. वी. नरसिंह राव ने कहा—'हिन्दी के विकास तथा प्रचार के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, उन पर बदली हुई परिस्थिति के अनुसार विचार किया जाना चाहिए। यह आवश्यक जान पड़ता है कि 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' तथा 'हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद' अपने नाम में से प्रचार शब्द हटा दें। हिन्दी से सम्बन्धित संस्थाओं को हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास का काम हाथ में लेना चाहिए। हिन्दी की बहुत-सी कृतियाँ दक्षिण की भाषाओं में अनुवादित हुई हैं। हिन्दी का विकास केवल 'प्रदान' के कारण नहीं हो सकता। हिन्दी 'आदान' के कारण समृद्ध बनेगी।'

मद्रास के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन का ज़िक्र करते हुए श्री नरसिंह राव ने कहा, 'कल मैं मद्रास में था। वहाँ के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन के सम्बन्ध में बहुत समाचार प्रकाशित हुए हैं। मैंने कल वहाँ एक ऐसी घटना भी देखी, जिसके सम्बन्ध में कोई समाचार नहीं छपा। कल वहाँ प्रसिद्ध नर्तक गोपीकृष्णजी के कत्थक नृत्य का आयोजन था। उत्तर भारत के इस नृत्य को मद्रास के प्रतिष्ठित लोगों ने बड़े चाव से देखा। कुछ लोगों को आशंका थी

कि संभवतः नृत्यशाला के बाहर हिन्दी-विरोधी लोग प्रदर्शन करेंगे, किन्तु यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। गोपीकृष्णजी ने यथास्थान तमिल में भी अपने नृत्यों का परिचय देने की व्यवस्था की थी।

इस बैठक में निम्नलिखित निबन्ध पढ़े गये—

(१) तेलुगु तथा हिन्दी साहित्यकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ—नाटक तथा उपन्यास; श्री जी. सुन्दर रेड्डी।

(२) तुलसीदास और त्यागराज की भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन—श्री ए. सी. कामाक्षीराव।

(३) तेलुगु और हिन्दी साहित्य में वैष्णव भक्ति की कविता—श्री सूर्यनारायण मूर्ति।

(४) तेलुगु और हिन्दी के प्रबन्ध काव्य—श्री दुर्गानन्द।

(५) तेलुगु और हिन्दी की आधुनिक कविता—श्री आलूरि बैरागी।

बैठक का समापन करते हुए श्री पी. वी. नरसिंहराव ने कहा—'दो भाषाओं के कवियों या लेखकों की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करना खतरे से खाली नहीं है। इस प्रकार के अध्ययन से कई बार इस बात का संकेत मिलता है कि अमुक लेखक का प्रभाव अमुक लेखक पर पड़ा होगा। यदि दोनों लेखक समकालीन न हों तो इस प्रकार की संभावना को अधिक बल मिलता है। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि भारत की सभी भाषाओं में भाव-साम्य है। भक्ति आन्दोलन ने सभी भाषाओं को प्रभावित किया है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य विचारों से भी हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक समान रूप से प्रभावित हुए हैं। इस स्थिति में तेलुगु, हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों के विचारों में समानता दिखाई दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इतना होते हुए भी हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दी हिन्दी है और तेलुगु तेलुगु। दोनों भाषाओं का साहित्य अपना अपना अस्तित्व रखता है। यदि विभिन्न भाषाओं के दो अथवा दो से अधिक लेखकों की तुलना करने की अपेक्षा हम दोनों के विचारों का पृथक्-पृथक् परिचय दें तो अधिक अच्छा रहेगा।

समापन समारोह :

१३. आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी का समापन समारोह श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त की अध्यक्षता में ८ फ़रवरी १९६५ को अपराह्ण में

४॥ बजे प्रारंभ हुआ। आरंभ में समापन समारोह के संयोजक श्री श्रीराम शर्मा ने बताया कि इस संगोष्ठी की प्रथम बैठक में आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की नियमावली बनाने के लिए एक समिति बनायी गई थी। समिति ने नियमावली तैयार करके भेज दी है। इस नियमावली पर पहले विचार होना चाहिए।

नियमावली की प्रत्येक धारा पर विचार किया गया। कुछ संशोधनों के साथ नियमावली स्वीकार कर ली गयी। नियमावली का हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

१४. नियमावली की स्वीकृति के पश्चात् आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की स्थापना घोषित की गयी। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष श्री बेजवाड गोपाल रेड्डी ने घोषित किया :–

(१) आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की कार्य समिति नियमानुसार आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की हिन्दी परामर्शदाता समिति मानी जाएगी।

(२) आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ के प्रारंभिक व्यय के लिए आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी पाँच सौ रुपये की सहायता देती है।

(३) आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी प्रतिवर्ष आन्ध्र प्रदेश के हिन्दी लेखक को १११६ रुपये का पुरस्कार प्रदान करेगी। इस पुरस्कार के सम्बन्ध में आ. प्र. हिन्दी लेखक संघ आवश्यक सुझाव दे।

(४) जब तक आन्ध्र प्रदेश लेखक संघ का अपना कार्यालय स्थापित नहीं होता, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी का कार्यालय संघ का काम करेगा।

(५) आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के सहायक मंत्री श्री बी. रामराजू आ. प्र. हिन्दी लेखक संघ और आ. प्र. साहित्य अकादमी में सम्पर्क अधिकारी का काम करेंगे।

१५. श्री बालकृष्णराव ने हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष के रूप में आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ के आगामी अधिवेशन को इलाहाबाद में निमंत्रित किया। श्री राव का निमंत्रण धन्यवाद के साथ स्वीकार किया गया।

१६. आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की नियमावली के अनुसार श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी, श्रीराम शर्मा तथा श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त

संघ के क्रमश: अध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए। संघ के अध्यक्ष श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी को अधिकार दिया गया कि वे संघ की कार्य-समिति के सदस्यों का मनोनयन करें। श्री आरिगिपूडि ने कार्यसमिति के लिए निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्य मनोनीत किया—

(१) श्री राममूर्त्ति 'रेणु'
(२) श्री सुन्दर रेड्डी
(३) बालशौरि रेड्डी
(४) श्री हनुमत् शास्त्री
(५) श्री भीमसेन 'निर्मल'
(६) श्री कामाक्षीराव
(७) श्री कर्णवीर राज शेषगिरिराव
(८) श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्त्ति
(९) श्री हेमलता आंजनेयुलु
(१०) श्री आलूरि बैरागी

संघ के अध्यक्ष श्री आरिगिपूडि को संघ के अन्य पदाधिकारियों और कार्य समिति के शेष सदस्यों के मनोनयन का अधिकार दिया गया।

निश्चय किया गया कि समापन-समारोह के पश्चात आज ही आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की कार्य समिति की पहली बैठक आयोजित की जाए।

श्री गंगाशरण सिन्हा का भाषण

१७. समापन भाषण देते हुए श्री गंगाशरण सिन्हा ने कहा—'यथार्थ में साहित्यिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता समानधर्मा हैं। मैं साहित्यिक नहीं हूँ, जीवन भर राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में सेवा करता रहा हूँ। आज राजनीतिक कार्यकर्त्ता के विभिन्न रूप जनता के सामने आते हैं, किन्तु मेरा विश्वास है असली राजनीतिक कार्यकर्त्ता और साहित्यिक व्यक्ति के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों एक ही उद्देश्य से प्रेरित हो कर कार्य करते हैं। उर्दू के कवि अमीर मीनाई ने एक शेर लिखा है—

खंजर कहीं चले पै तड़पते हैं हम 'अमीर'
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।

साहित्यिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता के हृदय में सारे जहाँ का दर्द भरा रहता है। यदि साहित्यिक दूसरों के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख न

समझे तो वह सच्चा साहित्यिक नहीं बन सकता। संवेदनशीलता ही लेखक की कृति को महत्त्व प्रदान करती है। इसी प्रकार राजनीतिक कार्यकर्त्ता को भी स्वार्थ में नहीं पड़ना चाहिए। उसे भी संवेदनशील बनना चाहिए। जहाँ कहीं पीडा हो, जहाँ कहीं विपत्ति हो, राजनीतिक कार्यकर्त्ता को निःस्वार्थ भाव से वहाँ सेवा के लिए उपस्थित रहना चाहिए।

श्री गंगाशरण सिन्हा ने कहा—"निस्सन्देह इस समय सार्वजनिक जीवन में निराशा दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता कि संसार में अन्धकार गहरा होता जा रहा है, किन्तु यह आज की बात नहीं है। सृष्टि के आरंभ से ही अन्धकार बना हुआ है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रकाश फैलाये। प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी बहुत मूल्यवान है। यह देखा गया है कि प्रकाश के रहते हुए भी अन्धकार का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, किन्तु अन्धकार को देख कर प्रकाश को घबराना नहीं चाहिए। हम देखते हैं कि अन्धकार चाहे कितना भी घना हो किन्तु वह प्रकाश की एक क्षीण रेखा को भी नष्ट नहीं कर सकता। इसके विपरीत प्रकाश की एक मामूली-सी किरण भी अन्धकार का हृदय विदीर्ण कर देती है। इसीलिए साहित्यिक को निर्भीकता के साथ अन्धकार का सामना करना चाहिए।

१८. समापन-समारोह के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने कहा—"यहाँ तीन दिन तक तेलुगु भाषी हिन्दी लेखकों ने अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध पढ़े। ये निबन्ध इस बात के परिचायक थे कि आन्ध्र प्रदेश के अनेक बन्धु हिन्दी और तेलुगु साहित्य के गंभीर अध्ययन में संलग्न हैं। इन लेखकों से साहित्य के क्षेत्र में हम सब को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। मैं संगोष्ठी में भाग लेने वाले सभी लेखकों को, संगोष्ठी के आयोजन के लिए आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष श्री बेजवाड गोपालरेड्डी और मंत्री श्री देवुलपल्ली रामानुजराव को बधाई देता हूँ।"

१९. संगोष्ठी में भाग लेने वाले लेखकों की ओर से श्री अयाचित हनुमत् शास्त्री ने आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के पदाधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

२०. आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के मंत्री श्री देवुलपल्ली रामानुजराव ने संगोष्ठी में भाग लेने वाले लेखकों तथा विशेष निमंत्रित सज्जनों को धन्यवाद अर्पित किया।

२१. सर्वश्री सी. बालकृष्णराव, कालीचरण 'राही' और हेमलता आंजनेयुलु के कविता-पाठ के साथ समारोह समाप्त हुआ।

कवि सम्मेलन

२२. डाक्टर रामनिरंजन पांडेय की अध्यक्षता में ७ फ़रवरी १९६५ को सायंकाल ६ बजे कवि सम्मेलन का आयोजन हुआ। डाक्टर पांडेय ने कहा—भारत में कविता मनोरंजन की वस्तु कभी नहीं मानी गयी है। काव्यानंद को ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। मानव के अभ्युत्थान में कविता ने निरंतर योग दिया है।

निम्न लिखित कवियों ने कविता पाठ किया—

सर्वश्री वाराणसी राममूर्ति 'रेणु', कमलप्रसाद 'कमल', आलूरी वैरागी, दुर्गानन्द, मल्लादि शिवराम, कर्णवीर राज शेषगिरिराव, प्रदीप, वेमूरि राधा कृष्णमूर्ति, एम. एल. वी. आई. आर. शर्मा, एन. पानैया चौधरी, शिवप्रसाद काबरा, ब्रजबिहारी तिवारी, हेमलता आंजनेयुलु।

आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की कार्य समिति की बैठक

संगोष्टि के समापन समारोह के पश्चात ८ फ़रवरी १९६५ को सायं-काल आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की कार्य समिति की पहली बैठक हुई। निश्चय किया गया—

(१) जब तक आ. प्र. लेखक संघ अपनी कार्य समिति के सदस्यों को बैठक में सम्मलित होने के लिए मार्गव्यय की व्यवस्था नहीं करता, तब तक विचारणीय विषयों का निर्णय पत्रव्यवहार से किया जाएगा।

(२) आन्ध्र प्रदेश हिन्दी लेखक संघ की ओर से साहित्यिक पत्रिका प्रकाशित की जाए। पत्रिका की पूरी योजना कार्य समिति के सदस्यों के पास भेजी जाए।

(३) पुस्तकों के प्रकाशन तथा अन्य कार्यों की योजना स्वीकृति के लिए कार्य समिति के सदस्यों के पास भेजी जाएगी।

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी को सुझाव दिया गया—

(क) अकादमी प्रतिवर्ष १११६ रुपये के दो पुरस्कार प्रदान करे। एक पुरस्कार आन्ध्र प्रदेश के प्रमुख हिन्दी लेखक को और दूसरा पुरस्कार वर्ष भर की श्रेष्ठ हिन्दी रचना को दिया जाए। यदि एक पुरस्कार अनुवाद के लिए भी रखा जाए तो ठीक रहेगा। यदि दो भिन्न-भिन्न पुरस्कारों की व्यवस्था न हो सके तो एक वर्ष लेखक को और एक वर्ष पिछले पाँच वर्ष की श्रेष्ठ कृति को पुरुस्कृत किया जाए।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी भाषा तथा उसका साहित्य

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी और उसके प्रबल पक्ष

श्री आरिगिपूडि रमेश चौधरी

लिपिबद्ध भाषा के मुख्यतः दो भाग होते हैं—एक भाषा का, और दूसरा साहित्य का। दूसरे शब्दों में आधार का और आधेय का, या माध्यम का और अभिव्यक्ति का। दोनों का सम्मिलित क्षेत्र है और पृथक्-पृथक् भी।

भाषा के प्रबल पक्षों का चिन्तन भी दो स्तरों पर होता है, एक भाषा के स्तर पर, और दूसरा साहित्य के स्तर पर। मैं यहाँ पहले भाषा को लूँगा।

विपन्न से विपन्न भाषा का भी सम्पन्न पार्श्व होता है, हिन्दी नवीन ही सही, विपन्न भाषा नहीं है, इसका प्रतिरूप संस्कृत द्वारा नियंत्रित है और संस्कृत संसार को सबसे अधिक समृद्ध भाषाओं में परिगणित है, यही नहीं, हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा भी है, इसलिए इसके अपने आधार हैं।

भाषा का स्वरूप भी दो बातों पर निर्भर है—एक है इसकी संचय-क्षमता, और दूसरी सर्जन-क्षमता। इनमें कोई आनुपातिक सम्बन्ध नहीं हैं, पर दोनों ही भाषा के विकास के लिए आवश्यक हैं, शायद एक ही प्रक्रिया के दो पूरक रूप हैं। इनके बढ़ते परिमाण ही, भाषा की विकासशीलता के द्योतक हैं। और इस सन्दर्भ में पहले का सम्बन्ध भाषा से है, और दूसरे का साहित्य से।

यह एक भाषा के सर्वांगिक निर्माण की बात है, पर भाषा के प्रचलन के लिए तभी अनुकूल वातावरण मिलता है, जब वह सरल हो, सुबोध हो, और समीपवर्ती प्रदेशों की भाषा से साम्य रखती हो। भाषा का सरल होना या किया जाना सम्भव है, पर उसका प्रचलन योग्य बन जाना आकस्मिक है। और हिन्दी को यह आकस्मिक भाग्य प्राप्त है, और इसके बारे में यह सत्य है कि प्रचलन और विकास एक साथ सम्भव है। यह भाषा की समतल प्रगति के बारे में ही है, क्योंकि अंग्रेज़ी तथा कुछ अन्य भाषाएँ इसके अपवाद हैं।

वर्तमान हिन्दी की संचय क्षमता निस्सन्देह असाधारण और आश्चर्य-जनक है, इसमें हिन्दी क्षेत्र की सभी प्रचलित अपभ्रंश भाषाओं के शब्द प्रचुर मात्रा में हैं ही। हिन्दी जिस रूप में आज है, यह अपभ्रंश भाषाओं की उत्तरा-धिकारिणी ही नहीं है अपने विस्तृत रूप में शायद उन सबको खपा भी लेती है।

अपभ्रंश भाषाएँ हिन्दी हैं कि नहीं, यह विवादास्पद है। पर मानना होगा कि ये हिन्दी के जितनी निकट हैं, उतनी किसी और भाषा के निकट नहीं हैं—फिर उन प्रान्तों की हैं, जहाँ हिन्दी स्वीकृत प्रान्तीय भाषा है। इस तरह युक्ति दी जा सकती है, राजस्थानी, व्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि अपना भिन्न स्थान रखते हुए भी हिन्दी के बढ़ते भवन में भिन्न कक्ष मात्र हैं, और लिपि तो इन सबकी नागरी है ही। या यूं कहा जाए कि हिन्दी इन सब भाषाओं का सम्मिलित या समन्वित रूप है।

अपभ्रंश का विकास सीमित है, प्रचलन सीमित है, ये शिक्षा की माध्यम नहीं हैं। अपभ्रंश, साहित्य के वाहन के रूप में जहाँ मन्थर पड़ जाती हैं, हिन्दी वहाँ छलाँगें भरती है। अपभ्रंश और हिन्दी, एक ही प्रक्रिया के पूर्व और उत्तर अंश हैं।

इसलिए हिन्दी नयी है,—यह जिस रूप में आज है शायद भारतेन्दु कालीन है, अर्थात् मुश्किल से सौ वर्ष की। परन्तु इस अल्प समय में यह इतनी परिवर्तित और परिवर्धित हुई है, कि कहना होगा इस जैसी संचयशील और गतिशील भाषाएँ संसार में कम ही हैं।

इन सौ वर्षों में हिन्दी का कायाकल्प हुआ है, न भरतेन्दु की भाषा आज टकसाली है न राजा शिवप्रसाद की ही। महावीरप्रसाद द्विवेदी युग में इसको जो आधार मिला, वह आज भी विद्यमान है, पर द्विवेदी युग की हिन्दी में और आज की हिन्दी में काफ़ी भेद है। हिन्दी का स्वरूप बदल रहा है और यह परिवर्तन वांछनीय है। यह एक जीवन्त भाषा का लक्षण है।

हिन्दी का नयापन——हिन्दी का प्राचीन न होना, इसका एक प्रबल पक्ष है। हिन्दी को प्राचीन बनाने की चेष्टा, शायद एक हीन भावना झलकाती है—भाषाएँ ज्यों-ज्यों प्राचीन होती जाती हैं, वे व्याकरण व प्रचलन के अनि-श्चित नियमों में रूढ़िबद्ध-सी हो जाती हैं, और उनकी प्रगति का परिमाण मन्द और न्यून हो जाता है।

इसका नयापन ही, विकास के लिए चेतावनी है, और यह चेतावनी स्वीकार भी कर ली गयी है। विकास कहीं-कहीं अनुकरणात्मक ही सही, विकास है। कालक्रम से वह अधिक पुष्ट और मौलिक हो जाएगा।

आज की हिन्दी भाषा, सिवाय दिल्ली और उसके पास के इलाक़े में कहीं उस तरह नहीं बोली जाती है, जिस प्रकार वह लिखी जाती है। सम्पूर्ण हिन्दी प्रान्त की लिखित भाषा मोटे तौर पर एक-सी ही है। दूसरे शब्दों में यह सर्वत्र सिखाई जाती है। यह अध्यापन सुलभ भाषा है। यही कारण है कि इसके अध्ययन, और अध्यापन की सुविधाएँ पंजाब से ले कर तमिलनाड़ तक उन दिनों भी उपलब्ध थी, जब यह राष्ट्रभाषा या राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित न थी। सम्प्रति तो ख़ैर है ही। यह इसका एक और प्रबल आकर्षण है।

भाषा की दृष्टि से, यह प्रायः बहुमत की दूसरी भाषा है। इसलिये यह हर किसी की मातृभाषा का प्रभाव ग्रहण करती है, और अपनापन बनाये रखती है। यह परिवर्तित हो कर भी वस्तुतः परिवर्तित नहीं होती। इसकी यह विशेषता, बिना विरोध के, इसके प्रचलन को निर्विघ्न और सरल बनाती है। भाषा की ग्रहणशीलता, वैय्याकरणों की कुछ भी राय हो, प्रारम्भ में उसके प्रचलन को शक्ति देती है, और प्रचलन के मार्ग की दिशा निर्णीत करती है, और वह इस तरह आसानी से सर्वत्र स्वीकार्य भी हो जाती है। इससे हिन्दी तो समृद्ध होती ही है, दूसरी भाषाएँ भी इसके सहवास में कुछ नही खोतीं। हिन्दी संगति योग्य भाषा है।

हिन्दी का नयापन ही इसकी रक्षा है। एक बनती भाषा किसी और भाषा को नहीं बिगाड़ती। बनती भाषा हमेशा उधार लेती है। जहाँ तक मैं अनुमान कर सकता हूँ, भारत की चौदह भाषाओं में, वर्तमान हिन्दी ही शायद सब से कम प्राचीन है। और यह कोई लज्जास्पद विषय नहीं है।

हिन्दी की संचय-क्षमता विचित्र और प्रभावोत्पादक है। और भाषाओं के शब्द इसमें समा जाते हैं, जहाँ तक मेरा अनुभव है, भाषा के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करते। देखा जाये तो नवीनता की पृष्ठभूमि में, इसके अपने शब्द हैं भी कम, पर सम्मिश्रण के कारण इसका शब्द-भांडार कम ही समय में बहुत विशाल हो गया है। हिन्दी भाषा उदार है, और उधार प्रिय है। हर भाषा से इसमें शब्द आये हैं, और इसके अपने हो गये हैं। द्राविड़ भाषाओं में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, नये शब्द उस मात्रा में नहीं आ रहे हैं, यदि आ

भी रहे हैं तो वे इस तरह खप नहीं पाते हैं—वे जोड़ ही रही जाते हैं। हर भाषा की अपनी-अपनी सिफ़्त होती है।

तेलुगु में, कहा जाता है, ८० प्रतिशत संस्कृत के शब्द हैं, पर इन ८० प्रतिशत शब्दों के लिए क़रीब-क़रीब तेलुगु के शब्द भी हैं। मेरा इशारा 'उच्च तेलुगु' अर्थात संस्कृत बहुल तेलुगु की ओर है। इन दोनों का सम्मिलित रूप है, और पृथक रूप भी।

यही बात तमिल की है, इसमें संस्कृत के शब्द हैं, इनका तमिल मे कुछ-कुछ रूप भी बदल गया है, परन्तु वे संस्कृत के ही शब्द हैं, तमिल के नहीं। इसके लिए बाहर से अपनाये हुये शब्द एक अतिरिक्त शब्द-राशि मात्र है।

पर हिन्दी के इस तरह पृथक कोश नहीं हैं, जो शब्द इसने और भाषाओं से लिए हैं, वे इसके अपने हो गये हैं, और उनके स्थान पर इसके पास उस तरह के शब्द नहीं हैं, जिस तरह तमिल और तेलुगु के पास हैं। पर्यावाची पद सम्भव हैं, पर वे भी अधिकांश उधार के ही हैं।

यही नहीं, इसके व्यावहारिक, और ग्रान्थिक रूप में भी कम अन्तर है। इसकी लिखित शैली में सन्तोषजनक एकरूपता है, लिखित हिन्दी चाहे बिहार की हो, या राजस्थान की, या मध्य प्रदेश की, या मद्रास या आन्ध्र की, मोटे तौर पर एक- सी है। यह निर्विवाद ही एक लिपिबद्ध भाषा के सुदृढ़ आधार हैं।

मैं यह नहीं सुना रहा हूँ कि यह कोई निश्चित योजना के अन्तर्गत व किसी नियम के अनुसार हुआ है। भाषा का स्वभाव ही ऐसा है, जब भाषा के निर्माण को योजनाबद्ध कर दिया जाता है, जैसा कि आजकल कहीं कहीं देखा जा रहा है, तो उसमें प्रगति की अपेक्षा सम्भवतः गतिरोध अधिक आता है। एकरूपता एक स्वाभाविक परिणाम है, न कि पूर्व चिन्तित प्रयत्न। एकरूपता के बहाने, उधार की प्रवृत्ति को, एक ही भाषा तक सीमित रखना हठधर्मी है, बुद्धिमत्ता नहीं। एक बढ़ती भाषा के लिए एकरूपता उतनी स्वस्थ भी नहीं है।

आजकल हिन्दी की शब्दावली संस्कृत से ही ली जा रही है। और युक्ति दी जाती है कि और भारतीय भाषाओं का आधार भी संस्कृत ही है। पर संस्कृत के शब्द जिस स्वतन्त्र रूप से बनाये जा रहे हैं, वे कभी-कभी

संस्कृत के विद्यार्थी के लिए भी क्लिष्ट और दुर्बोध हो जाते हैं। यदि ये इसलिए लिये जा रहे है क्यों कि और भारतीय भाषाएँ भी संस्कृतोद्भूत हैं, या संस्कृत प्रभावित हैं, तो ध्यान रखा जाना चाहिए, कि संस्कृत शब्दावली सभी भाषाओं में एकरूप हो। यह इस समय है नहीं।

हिन्दी का जैसे विकास हुआ है, और इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इसके द्वार सभी भाषाओं के लिए खुले रहने चाहिएँ। स्वभावतः इसके द्वार खुले हुए ही हैं, पर कहीं-कहीं, इनको बन्द करके, या बन्द करने का प्रयत्न करके, इसकी स्वाभाविक प्रबलता को क्षीण किया जा रहा है। इस प्रकार का एकपक्षी शब्दाविष्करण इसके प्रचलन के लिए प्रतिबन्धक होगा। और इसको ऐसे ढाँचे में ढाल देगा, जो इसके विस्तार के हित में न होगा।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में, हिन्दी में निरन्तर शब्द बन रहे हैं, बहुत कुछ बनाये जा रहे हैं, और इतना कुछ बताया गया है, और इस तरीके से बनाया गया है कि शायद उनमें से बहुत कम ही हिन्दी खपा पाएगी। इस तरह हिन्दी कृत्रिम और मुटियल हो जाती है। परन्तु यह इस प्रकार इतने शब्द बना सकी, यह कुछ और सूचित करे या न करे, इसकी सृजन-क्षमता अवश्य सूचित करती है। यह सृजन स्वस्थ है कि नहीं कदाचित् विषयान्तर है।

भाषा का स्वभाव ही प्रचलन है, जब इसको कृत्रिम बना दिया जाता है तो इसका प्रचलन सीमित हो जाता है। इसके लिए पटरियाँ निश्चित कर दी जाती हैं, जो भाषा की सहज नैतिकता का कुछ अंश तक उल्लंघन ही है, और इसके प्रचार की आवश्यकता अनुभव की जाती है, और जब प्रचार होता है तो विरोध भी होता है। कोई यह नहीं चाहता कि उसकी अपनी गली में किसी और की भी कोई पटरी हो। अच्छा है यदि हिन्दी को स्वाभाविक रूप से बढ़ने दिया जाए।

हिन्दी का न मालूम क्यों आकर्षण रहा है—स्त्रियाँ जो औरों को आकर्षित करती हैं, इससे विशेषत आकर्षित हैं। उनको आकर्षित करने के लिए किसी प्रकार प्रचार या प्रदर्शन की आवश्यकता न थी। परि-स्थिति आज विशेष नहीं बदली है। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि अशिक्षित इसके द्वारा अपने को शिक्षित करते हैं——जो अंग्रेजी शिक्षणालयों की खर्चीली विद्या से वंचित रहते हैं, हिन्दी सीख कर अपनी शिक्षा पूरी करते हैं——दूसरे शब्दों में यह शिक्षा का वैकल्पिक माध्यम है, इसके लिए जितनी

परीक्षाएँ और पदवियाँ है, शायद भारत की किसी अन्य भाषा में नहीं हैं। यह भी इसकी प्रबल विशेषता है।

कुछ भी हो, हिन्दी, वस्तुतः बड़ी संचय क्षम और सृजन क्षम भाषा है।

जब मैं हिन्दी का प्रबल पक्ष कहता हूँ तो मेरा अर्थ इसके दोनों रूपों से है, इसका वर्तमान रूप, और इसका अपभ्रंश रूप, और साहित्य रूप।

इसके साहित्य में ऐसी कौन सी विशेषताएँ हैं, जो और भाषाओं में इस परिमाण में नहीं है ? ऐसी कौन सी विधाएँ हैं, जिनमें हिन्दी विशेषतः समृद्ध है, इसके कौन से अंग हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से और भाषाओं से अधिक पुष्ट हैं ?

सन्त साहित्य सभी भारतीय भाषाओं में है, पर जो वैविध्य हिन्दी में है, उस मात्रा में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, और भाषाओं में नहीं है। यह भक्ति प्रधान ही नहीं, दर्शन प्रधान है, यह कथा प्रधान ही नहीं, गीत प्रधान भी है, धर्म की पृष्टभूमि में, यह ललित साहित्य का सुन्दर उदाहरण है।

यदि इसमें गूढ रहस्यवाद है, या युक्ति सम्पन्न सगुण, और निर्गुण वाद है, तो यह रसमयी कविता भी है, तुलसी, सूर, कबीर, और बीसियों सन्त. किसी भी देश के दर्शन के, कविता के आदर्श क्रान्तिद्रष्टा हो सकते हैं। मीरा की कविता जो स्निग्ध ज्योत्स्ना-सी है, या संगीत सुधा-सी, अन्य भाषाओं में दुर्लभ है।

भारतीय चिन्तन, वस्तुत , जिस सुबोध रीति से सन्त साहित्य में व्यक्त हुआ है, सम्भवतः किसी और माध्यम में नहीं हुआ है,—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, लौकिक, अलौकिक, वास्तविक, काल्पनिक सभी विचार इस में हैं। यह काव्यात्मक, तार्किक दर्शन की चरम सीमा है। मन के सभी कुतूहल इसमें प्रतिबिम्बित हुए हैं, और कुछ अंश तक परिष्कृत भी।

विचार-पथ कोई भी हो, धर्म कुछ भी हो, आराध्य देव कोई भी हो, कोई भी बौद्धिक वाद हो, पर वे सभी पद्य में ही व्यक्त हुए हैं, और वह भी शुद्ध भारतीय परम्परा में।

अच्छी कविता का अनुवाद कठिन है, भाषा और शैली कुछ भी हो, प्रायः अच्छी कविता के भाव जब अंकुरित होने लगते हैं, सभी भाषाओं में एक ही तरह प्रस्फुटित होते हैं। शायद यही कारण कि हिन्दी का सन्त साहित्य पूर्ण रूप से अभी भारत की समृद्ध भाषाओं में भी अनूदित नहीं हुआ है।

सम्भव है कि इसका कारण अपभ्रंशों का अप्रचलन हो या इनकी गूढ़ता हो, या समाज के बढ़ते धर्म निरपेक्ष मूल्य हों, पर उनके साहित्यिक य बौद्धिक मूल्य शाश्वत हैं।

छायावाद वर्तमान हिन्दी की अपनी विशेष सम्पत्ति है, आज की कविता तो छायावाद की क्यारी से भी बाहर आ गई है—क्या आ गई है ? मैं यहाँ यह निश्चित करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करूँगा।

मानव कल्पना, और अनुभूति भिन्न-भिन्न रूपों में, भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न माध्यम, और विधाओं में व्यक्त हुई है। प्रधानता अनुभूति और अभिव्यक्ति की है। कभी वह परम्परा का पालन करके हुई है, तो कभी परम्परा का उल्लंघन करके हुई है। दोनों का ही, अपने-अपने संदर्भ में मैं स्वागत करता हूँ। कहना न होगा आधुनिक अतिवास्तविक वाद या "वाद रहित वाद" से कोई शिकायत नहीं है।

छायावाद शायद अंग्रेजी के इम्प्रेशनिज्म का अनुवाद है। इसमें विषय अपेक्षाकृत गौण है, और व्यक्ति मुख्य। यह आधारतः व्यक्तिपरक साहित्य है। इसमें कवि प्रच्छन्न नहीं है। वह प्रत्यक्ष ही नहीं है, वह औरों के लिए शायद दर्पण बनने का भी प्रयत्न करता है।

जो एक व्यक्ति के लिए एक समय में स्पष्ट है, वह दूसरे के लिए उसी रूप में, उसी मात्रा में, स्पष्ट हो, यह नहीं कहा जा सकता। पर व्यक्ति को अपने अनुभव और विचार प्रकट करने का अधिकार है। छायावाद का बल सम्प्रेषणीयता पर न होकर, कदाचित आत्माभिव्यक्ति पर है।

कविता का सबसे मुख्य विषय, अन्तिम विश्लेषण में, कवि स्वयं है। वह कोई परिस्थिति या विषय नहीं प्रस्तुत कर रहा है जैसा कि विषयपरक कविता में होता था, पर परिस्थिति के प्रति वह अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत कर रहा है। मनुष्य ही एक रहस्य है, और मनुष्यों में कवि और भी रहस्यपूर्ण है, इसलिए छायावाद का उदार आलोचकों की सम्मति में रहस्यपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था, यह रहस्य क्या है, इसका रूप क्या है, यह मेरी कुतूहल की परिधि के बाहर है।

छायावाद एक बौद्धिक अन्वेषण है, और एक शिल्प-परीक्षण है। यह निश्चय ही भारतीय कविता में एक नया अध्याय है, एक नया क्षेत्र है, पहले कविता में भी कथा का आधार होता था, या विषय-परिपोषण होता था, अब छायावाद में कवि अपना ही प्रक्षेपण करता है।

छायावाद के विकास में, हो सकता है, बंगाली का प्रभाव हो, उर्दू का प्रभाव हो, पाश्चात्य परीक्षणों का प्रभाव हो। यह भी संभव है कि इसकी बहुत सी सामग्री अनुपादेय होकर काल-कवलित हो गई हो। पर इसका हिन्दी साहित्य में युग रहा है, और वह निस्सन्देह महत्वपूर्ण युग है।

जब कविता व्यक्तिपरक हो जाती है, और व्यक्ति की अनुभूतियाँ अनिश्चित हैं, और इसकी मानसिक प्रवृत्तियों पर निर्भर हैं, अभिव्यक्ति की विधाएँ भी निश्चित रूप से, नियमबद्ध न हों, पिंगलबद्ध न हों, तो कवि की दृष्टि में वह भले ही साहित्यिक कृति हो, पर अकवि पाठक की दृष्टि में वह ज्वालामुखी का विस्फोट ही है, अपचन का वमन ही है। यह सभी कला-कृतियों के बारे में कहा जा सकता है। वे, सब में, एक समय में, एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं पैदा करतीं।

पर हो सकता है, एक ही समय में, एक से अधिक व्यक्ति एक ही तरह की चीज़ सोच रहे हों, और एक ही तरह की बातें कहना चाह रहे हों, उस हालत में कवि को अपनी ध्वनि की प्रतिध्वनि पाठक में भी मिलती है। लेकिन प्रायः आधुनिक कविता में ऐसा नहीं होता, इसलिए इस प्रकार की कविता की उपयोगिता कम हो रही है।

पर कहना होगा कविता के विकास की प्रक्रिया में इस कविता की भी महत्ता है। मथने के बाद मक्खन भी पहले झाग रूप में ही निकलता है।

हिन्दी-भूमि कविता के लिए बहुत उर्वरा प्रतीत होती है, इसका परि-माण ही इतना विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है, कि इसको हिन्दी का प्रबल पक्ष ही कहना होगा और बदलते साहित्यिक मूल्यों के सिलसिले में मैं इसकी अमरता आँकने का दुष्प्रयत्न नहीं करूँगा।

कई कहते हैं हिन्दी में प्रेमचन्द हैं, और प्रेमचन्द उपन्याससम्राट हैं, महान् लेखक हैं, इसलिए हिन्दी का उपन्यास साहित्य भी महान् होगा। हिन्दी में, अनुवाद रूप में, उन सब उपन्यासकारों की रचनाएँ भी हैं जो अपनी-अपनी भाषाओं में महान हैं, हिन्दी के उपन्यास साहित्य में फलतः वह सब कुछ है जो अन्य भाषाओं के उपन्यास साहित्य में है, अत. हिन्दी का उपन्यास साहित्य बहुत विस्तृत है।

यह बात मानसिक धारणाओं की है, इसलिए कुछ-कुछ भावकुता की भी। पर मेरी दृष्टि में अप्रिय सत्य कुछ और है।

सामूहिक साहित्य दो तरह से आँका जाता है, एक आवश्यकता के सिरे से, और दूसरा शक्ति के सिरे से। उपन्यास की विधा, बहुत ही लोकप्रिय और उपयोगी विधा है। वह मनोरंजन का माध्यम ही नहीं, चेतना का भी माध्यम है। आवश्यकताएँ कई प्रकार की हैं, और उपन्यासकार के दायित्व भी कई प्रकार के हैं। मुझे सन्देह है, कि हिन्दी के उपन्यास साहित्य में, हिन्दी लेखकों के द्वारा, उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है कि नहीं।

यदि शक्ति के सिरे से देखा जाए, हिन्दी भाषी, मत की बात है, उतने सशक्त नहीं उतरते। चूँकि उनका उपन्यास साहित्य उतना मौलिक और सम्पन्न नहीं मालूम होता। यह एक बड़े देश की सबसे बड़े क्षेत्र की भाषा है, और इसका उपन्यास साहित्य, सहसा हम पूछ बैठते हैं, यह ही है, इतना ही है ?

उपन्यास को, किसी फ्रेंच लेखक ने "सड़क" बताया है, अर्थात् इसमें सब कुछ आता है, एक जगह से शुरू होता है, एक जगह समाप्त होता है, या एक दर्पण-सा है—इतिहास से कुछ मिलता-जुलता, कल्पना और यथार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण, जिसमें समाज अपना प्रतिबिम्ब देखता है, अपना पथ देखता है, और गंतव्य देखता है। इस अर्थ में, हिन्दी लेखकों के कितने उपन्यास हैं, जो इस कसौटी पर खरे उतरते हों।

सत्य है, प्रेमचन्द के उपन्यासों में, तत्कालीन सामाजिक झाँकियाँ मिलती हैं। उनकी कई कृतियाँ सामयिक हैं। और सामयिक कृतियों का, यदि वे सर्वव्यापी शाश्वत मूल्यों पर आधारित न हों, यह दुर्भाग्य है कि वे चिरायुष्मती नहीं होतीं। चूँकि समय बदलता है, और समय के साथ मूल्य बदलते हैं, परन्तु सौभाग्य से, प्रेमचन्द को अभी इस दुर्भाग्य ने शायद नहीं ग्रसा है।

मैं केवल यह कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि हिन्दी का उपन्यास-पक्ष उतना प्रबल नहीं है, कि वह औरों के लिए सहसा उदहरणीय हो। कविता के पार्श्व से तो यह निर्बल है ही। यह भी एक चेतावनी है, शक्ति की चेतावनी है, और आवश्यकता की चेतावनी है। इसे हमें स्वीकारना होगा।

पर हिन्दी में, कविता और उपन्यास से भी बहुत ही अधिक सबल पक्ष है, समालोचना का। यह शायद वर्तमान हिन्दी का प्रबलतम पक्ष है। जितनी आलोचना, प्रत्यालोचना हिन्दी में होती है, शायद भारत की किसी

और भाषा में नहीं होती, जितना अनुसन्धान हिन्दी में होता है, और जितने "अन्वेषण प्रबन्ध" हिन्दी में लिखे जाते हैं, शायद किसी और भाषा में नहीं लिखे जाते।

आलोचना का स्तर कुछ भी हो, कितना हो कलुषित, और पक्षपात-पूर्ण और गुटबन्दी ग्रस्त हो, मेरे लिए यही संतोष का विषय है, कि आलोचना होती तो है।

अपभ्रंश कवियों पर विस्तृत अनुसन्धान करके, आलोचनात्मक इतिहास लिख कर हिन्दी ने उनको आत्मसात् करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

आलोचना की पुस्तकें तो प्रकाशित होती ही हैं, कई पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती है, जिनकी सारी सामग्री अनुसन्धान और आलोचना से सम्बन्ध रखती है।

आलोचना की पदावली भी हिन्दी की एक विशेषता है, जो प्रायः उन्हीं के लिए सुबोध होती है, जो अंग्रेजी जानते हों, और जो अंग्रेज़ी जानते हों, वे हिन्दी में आलोचना क्यों पढ़ें ? चूंकि हिन्दी की पुस्तकों की आलोचना अंग्रेजी में नहीं निकलती, अन्य भारतीय भाषाएँ भी उनके बारे में तटस्थ ही रहती हैं, अतः यह भी सम्भव है कि आलोचना पढ़ी भी न जाती हो।

आलोचना साहित्य हिन्दी में इतना निकलता है कि कभी कभी सन्देह होने लगता है कि आलोचना की पुस्तकें अधिक प्रकाशित होती हैं, बनिस्वत आलोच्य पुस्तकों के।

पिष्ट-पेषण मौलिक चिन्तन के लिए विष समान हो सकता है, पर आलोचकों के लिए, हो सकता है, वह पौष्टिक भोजन हो। विषय सीमित हो, और पाण्डित्य भी सीमित हो, तो पिष्टपेषण अपरिहार्य है। यह हिन्दी की खूबी है, कि एक ही विषय पर, एक-सी सामग्री, बहुत से लेखकों द्वारा एक ही समय में दी जाती है। नहीं मालूम कि इस सम्बन्ध में, मौलिकता के दावे किये जाते हैं कि नहीं। पिष्टपेषण ही सही, वे सक्रिय तो हैं।

यों तो अंग्रेज़ी ने सभी भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, पर जितनी हिन्दी आलोचना इससे प्रभावित हुई है, शायद और कोई भाषा नहीं हुई है। हिन्दी आलोचना अंग्रेज़ी उद्धरण-बहुल है, जब कि आलोच्य वस्तु भारतीय है। इसे बल कहा जाए या निर्बलता ?

मैंने अन्यत्र कहा है कि हिन्दी अध्यापन सुलभ भाषा है। यह अनिवार्य पाठ्य विषय है। जिस ज़ोर-शोर के साथ, इसे पढाया जाता है कोई और भाषा नहीं पढ़ायी जाती। यही कारण है कि इस पर अध्यापकों का दबदबा है। आलोचकों की, जो प्रायः आजकल प्राध्यापक, और प्रवाचक ही होते हैं, इस पर जबर्दस्त पकड़ है। कुछ प्रबुद्ध चिन्तकों की दृष्टि में, हिन्दी, आलोचक और अध्यापकग्रस्त भाषा भी है। इसमें लेखक पीछे हैं, और आलोचक आगे। यह इसकी विशेषता अवश्य है, प्रबल पक्ष हो या न हो।

हिन्दी का प्रबलतम पार्श्व इसका राष्ट्रभाषा होना है। इसको राष्ट्रीय-एकता का सूत्र समझा जाना है, और यह एकता का सूत्र, उदार दृष्टिकोण और उत्तम साहित्य से ही सशक्त किया जा सकता है।

सत्य यह है, राष्ट्रभाषा के लिए कोई भी भाषा पूर्णतः विकसित नहीं है, राष्ट्रभाषा हो कर, कोई भी भाषा अविकसित नहीं है। प्रश्न विकास और अविकास का नहीं है, प्राचीनता, अर्वाचीनता का नहीं है। अपनी और पराई का है। हिन्दी भारतीय है, अपनी है, यही मुख्य और महत्त्वपूर्ण बात है।

हिन्दी को आन्ध्र की देन

डा० भीमसेन 'निर्मल'

भारतीय मनीषी अनेकता में एकता का अनुभव करता है, उसकी यह प्रवृत्ति अतिप्राचीन है। समस्त सृष्टि में एक अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने तक उसे शान्ति प्राप्त नहीं हुई थी। अनेक में एक को देखने तथा अनुभव करने में ही जीवन की सार्थकता मानी गयी, जो भारतीय संस्कृति की विशेषता है। कन्याकुमारी से काश्मीर तक तथा जगन्नाथपुरी से द्वारकाधाम तक व्याप्त इस संस्कृति की एकरूपता अतिप्राचीन काल से बनी हुई है। जीवन-विधान, विचारधारा, वेशभूषा, भाषा आदि में प्रतिभासित होने वाली बाहरी विभिन्नता के पीछे एक अखंडता है। इन वाह्य विभिन्नताओं के सूक्ष्म एवं तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये सब मानो एक ही तत्त्व की अनेक टीकाएँ हैं, अनेक परिभाषाएँ हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में 'ये सब एक अखंड और विराट् सत्य पर विभिन्न दिशाओं से फेंके गये प्रकाश की किरणें हैं।'

भौगोलिक तथा राजनैतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत की यह सांस्कृतिक एकता युगों से सुस्थापित है, किन्तु एकता की यह भावना अनायास घटित नहीं है। समय-समय पर, स्थान-स्थान पर उत्पन्न हो कर हमारे साहित्यकार, कलाकार, चिन्तक, साधक अपनी रचनाओं एवं उपदेशों द्वारा इस एकता की भावना का प्रचार करते रहे, साहित्य-सृजन द्वारा भारतीयता की प्राण-प्रतिष्ठा करते रहे। उत्तर और दक्षिण की मोक्षप्रदायिनी सात नगरियाँ, पंच गंगाएँ, जगद्गुरु द्वारा स्थापित चारों धाम भारतीय साहित्य, आदि इसी भावना को सुस्थिर रूप देने के साधन हैं।

भारत को एक सूत्र में बाँध रखने का अथवा भारतीय जन-मानस को एक साँचे में ढालने के साधनों में भाषा एवं साहित्य का स्थान सर्वोपरि है।

भिन्नता में अभिन्नता सिद्ध करने में, भावों की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन भाषा ही है। इस दृष्टिकोण से 'मध्यदेश' की भाषा का—चाहे वह संस्कृत रही हो, चाहे प्राकृत, चाहे पाली, चाहे खड़ी बोली हिन्दी ही क्यों न हो—भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्रमुख स्थान रहा है। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिए, 'मध्यदेश' की भाषा प्राचीन काल से ही अन्तःप्रान्तीय व्यवहार का माध्यम रही है। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'मध्यदेश' की भाषाओं की साहित्य-सम्पन्नता में अपना सहयोग प्रदान करना, आन्ध्रों की परम्परा रही है। सर्वदा आन्ध्रों ने मध्यदेश की भाषाओं का दिल खोल कर स्वागत किया है, किसी प्रकार के वैमनस्य के बिना ही, अपनी सेवाएँ अर्पित की हैं और इन भाषाओं के साहित्यों की श्रीवृद्धि में अपनी शक्ति लगायी है।

अब यहाँ उसी ऐतिहासिक परम्परा का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

संसार की सम्पन्न भाषाओं और उनके साहित्यों में संस्कृत भाषा व साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। इस सर्वतोमुखी सम्पन्नता का श्रेय भारत के सभी प्रान्तों के मनीषियों तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों को है। द्रविड़ भाषा-परिवार से सम्बद्ध होने पर भी आन्ध्र ने संस्कृत साहित्य की जो सेवा की है, वह अनुपम एवं अद्वितीय है।

दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रान्त एक ऐसे स्थान पर स्थित है जहाँ आर्य-संस्कृति एवं संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का सीधा और सहज प्रभाव पड़ सकता है। आन्ध्र की भाषा और साहित्य को संस्कृत ने अत्यधिक प्रभावित किया है। संस्कृत से प्रभाव ग्रहण कर, आन्ध्रों ने संस्कृत-शारदा की अर्चना में कोई कसर नहीं रखी। 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' से ले कर मुक्तक तक साहित्य की सभी विधाओं में आन्ध्रों ने अपनी प्रतिभा के प्रमाण उपस्थित किये। साहित्य की कुछ शाखाओं में तो उनकी रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। वैदिक विज्ञान में विद्यारण्य स्वामी, दार्शनिक वाङ्मय में कुमारिलभट्ट, व्याख्यारचना में मल्लिनाथ सूरि, काव्य शास्त्र प्रणेताओं में पंडितराज जगन्नाथ माँ-सरस्वती के ऐसे ही वरद पुत्र हैं, जिन पर आन्ध्र को समुचित गर्व है।

धर्मसूत्रकार आपस्तंब ऋषि, 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' के कर्ता विद्यानाथ, 'कुमारगिरिराजीय' के प्रणेता काटयवेम, सिंगभूपाल, पेदकोमटि वेमारेड्डी, भट्ट वामन, श्रीकृष्णदेवराय, नारायण तीर्थ, अन्नंभट्ट के अतिरिक्त और भी अनेक

आन्ध्रों ने संस्कृत भाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं और कर रहे हैं। स्थानाभाव के कारण उन सब कवियों की रचनाओं का परिचय देना सम्भव नहीं है।

संस्कृत के पश्चात् आन्ध्रों ने प्राकृत भाषाओं में काव्य लिखे। इनमें हाल सातवाहन के द्वारा संकलित 'गाथा सप्तशती' का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य की अत्यधिक लोकप्रिय मुक्तक काव्य सतसई की परम्परा हिन्दी के लिए आन्ध्र की सर्व प्रथम तथा सर्वप्रधान देन है।

जैन और बौद्ध धर्मों के प्रचार तथा प्रसार के साथ प्राकृत भाषाओं का प्रभाव भी बढ़ता गया। सम्राट् अशोक के शासनकाल से ले कर, ईसा की पाँचवीं-छठी शती तक दक्षिण के शासकों ने अपने शिलालेखों में प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ईसा की प्रारम्भिक शतियों से ले कर लगभग ७वीं शती तक आन्ध्र प्रान्त में प्राकृत भाषा का व्यवहार था। इसका कारण यह है कि आन्ध्र प्रदेश में बौद्ध और जैन धर्मों का अत्यधिक प्रचार तथा प्रभाव रहा।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने सर्वव्यापी रूप में, राजाश्रय के अधिकारी बने रहने वाले धर्मों से सम्बद्ध एक भी रचना आज हमें दृष्टिगत नहीं होती। आन्ध्र में जैन तथा बौद्ध धर्मावलंबियों के लिए अनेक विहार बने थे, अनेक स्तूप बने थे, राजाओं की ओर से अनेक दान दिये गये, इस स्थिति में इन धर्मों से सम्बद्ध ग्रन्थ अवश्य ही लिखे गये होंगे, परन्तु आज इन धर्मों के चिह्न स्वरूप हमारे यहाँ केवल खँडहर बचे हैं।

संस्कृत और प्राकृत के बाद आन्ध्रों ने उन भाषाओं की उत्तराधिकारी हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य की अनुपम सेवा की है और वे इस दिशा में सतत प्रयत्नशील हैं।

हिन्दी में स्वयं न लिख कर भी हिन्दी साहित्य को अत्यधिक प्रभावित करने वाले आचार्य श्री वल्लभ आन्ध्र थे। ये कंभंपाटि के त्रिलिंग ब्राह्मण थे। इनके पिता लक्ष्मण भट्ट गोदावरी तीरस्थ 'काकरपाडु' या 'काकरवाड' ग्राम के निवासी थे। वल्लभाचार्य के वंशज आज भी मथुरा में रहते हैं, उन्होंने आज तक आन्ध्रप्रदेश से ही वैवाहिक सम्बन्ध बनाए रखा है। वल्लभ सम्प्रदाय ने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को अक्षय निधियाँ प्रदान कीं।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में श्री वल्लभाचार्य के बाद पद्माकर भट्ट का नाम लिया जाना चाहिए। रीतिकालीन कवियों में भाषा के विचार से

प्रौढ़, वाग्विदग्ध एवं कुशल कलाकार माने जानेवाले कविश्रेष्ठ पद्माकर भट्ट तैलंग ब्राह्मण थे। उन्होंने स्वयं कहा है :—

"भट्ट तेलंगाने को बुन्देलखंडवासी"

अकबर के शासनकाल में, गढ़पत्तन पर रानी दुर्गावती के शासन करते समय अर्थात् १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में दक्षिण से लगभग साढ़े सात सौ तैलंग ब्राह्मण वहाँ पहुँचे थे। उनमें एक मधुकर भट्ट भी थे। कालान्तर में तैलंग ब्राह्मण आमेर, रतलाम, झालवाड़, बूंदी, कानपुर, आगरा, प्रयाग, काशी आदि नगरों में बस गये। मधुकरभट्ट की छठी पीढ़ी में मोहनलाल भट्ट हुए जिनके पुत्र थे पद्माकर भट्ट।

पद्माकर भट्ट जी की परम्परा में ही श्री बालकृष्णराव आते हैं जो आन्ध्र होते हुए भी हिन्दी की सेवा कर रहे हैं और हिन्दी प्रदेश को अपना बना चुके हैं। मेरा विश्वास है कि हिन्दी प्रान्त में उपलब्ध होने वाली पुरानी पोथियों का सम्यक अध्ययन करने पर ऐसी बहुत-सी रचनाएँ मिल सकती हैं जो हिन्दी प्रान्त में बसने वाले आन्ध्रों द्वारा लिखी गई।

यह बात हिन्दी प्रान्त में रह कर, हिन्दी की सेवा करने वाले आन्ध्रों की है।

हाल ही में १७वीं शती में तंजाऊर के 'सरस्वती महल' में तेलुगु यक्षगानों के अनुकरण पर लिखे गये शाहजी महाराज के दो यक्षगान हिन्दी में प्राप्त हुए हैं। इन नाटकों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री वारणासि राममूर्ति जी 'रेणु' को है, जिन्होंने आकाशवाणी के हैदराबाद केन्द्र द्वारा 'राधा बनसीधर विलास नाटक' को सन् १९५९ में प्रसारित करवाया था। तदुपरान्त ये दोनों नाटक सन १९६१ में 'सरस्वती महल' के कार्यकर्ता श्री एस. गणपतिराव "स्वानन्द" ने सम्पादित करके प्रकाशित कराये।

भोंसला वंश के मालोजी के पौत्र एकोजी तंजाऊर के प्रथम महाराष्ट्र नायक नरेश थे। एकोजी ओर दीपांबा के सुपुत्र शाहजी महाराज ने सन् १६८४ से १७१२ तक शासन किया। शाहजी संगीत और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, उत्कृष्ट कवि एवं आश्रयदाता के रूप में तेलुगु साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। संगीत और साहित्य के सुन्दर सम्मिश्रण के रूप में इन्होंने तेलुगु में २१ यक्षगानों की रचना के अतिरिक्त अपनी मातृभाषा मराठी में एक—लक्ष्मीनारायण कल्याण-तथा हिन्दी में दो—'राधा बनसीधर विलास नाटक,' और 'विश्वातीत विलास नाटक'—यक्षगानों की रचना की है।

'विश्वातीत विलास नाटक' की कथावस्तु पुराणों से ली गयी है, जिसका लक्ष्य शिवजी की महिमा का वर्णन करना है। कथानक में भक्ति के साथ-साथ विप्रलम्भ शृंगार को भी स्थान दिया गया है। 'राधा बनसीधर विलास नाटक' में राधा और कृष्ण के संयोग और विप्रलम्भ शृंगार का सुन्दर चित्रण किया गया है।

इन नाटकों की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें भाषा तो हिन्दी प्रयुक्त हुई है किन्तु गीतों के राग-ताल कर्नाटक संगीत के साँचे में हिन्दी भाषा को ढालने में शाह जी बहुत सफल सिद्ध हुए।

आन्ध्र प्रदेश के प्रायः सभी विद्वान् और ऐतिहासिक व्यक्ति एक मत से इस बात की घोषणा करते रहे हैं कि एक महाराष्ट्र नाटक मण्डली जिसे 'धारवाड़ नाटक कम्पनी' कहते हैं, आन्ध्र प्रदेश में सन् १८८० के लगभग आयी थी और उसने आन्ध्र के बड़े-बड़े नगरों में अपने नाटक खेले थे। नाटक प्रायः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में थे। ये नाटक 'तेलुगु कला-क्षेत्र' में मुरझाए खेत के लिए वर्षा के समान सिद्ध हुए और इन्हीं नाटकों के अनुकरण पर आन्ध्र के नगर-नगर, गाँव-गाँव में नाटक खेले जाने लगे। नाटकों की बाढ़-सी आ गई थी।

आन्ध्र प्रदेश की आधुनिक नाटक रचना और अभिनय कला, १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही विकसित होने लगी। इस विकास-क्रम में संस्कृत और अंग्रेज़ी नाटकों के साथ-साथ महाराष्ट्र नाटक मंडलियों का भी विशेष सहयोग रहा।

'धारवाड़ नाटक समाज' के प्रभाव से प्रेरित हो कर जिन-जिन नाटक-समाजों की स्थापना हुई, उनमें कुछ नाटक समाजों ने तेलुगु के अतिरिक्त हिन्दी में भी नाटक लिखवा कर अभिनीत किये। परन्तु उन नाटककारों के यहाँ श्री मेधादक्षिणामूर्ति जैसा सुपुत्र नहीं था इसी लिए उनकी हिन्दी रचनाएँ काल के कराल गह्वर में विलुप्त हो गईं। केवल श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि जी के ३२ नाटकों में से १४ नाटक सुरक्षित रह गये। इन नाटकों को सुरक्षा का श्रेय नाटककार के सुपुत्र को है।

श्री पसुमर्ति यज्ञनारायण शास्त्री जी ने 'आन्ध्र नट प्रकाशिका' नामक तेलुगु ग्रंथ के पंचम अध्याय में इन नाटक-समाजों का विस्तार से वर्णन किया है और यह बतलाया है कि—

"विशाखपट्टनम के जगन्मित्र समाज ने (जिसका प्रारम्भ सन् १८८५ में हुआ था) सन् १८८९–९० में हिन्दी में नाटक अभिनीत किये थे।"

"प्रियसंल्लाप नाटक' कम्पनी ने हिन्दी में कई नाटकों का प्रदर्शन किया था। इसके प्रमुख अभिनेताओं में गोविन्दराव, शंकरम् आदि थे। ये आस-पास के गाँवों में भी नाटकों का प्रदर्शन करते थे।"

"काकिनाड़ा के वेदुरुमूडि शेषगिरिराव ने 'शिवाजी चरित्र', 'पेशवा नारायण वध' आदि हिन्दी नाटकों की रचना की थी।"

एलूरु में "वामन भट्ट जोशी सन् १८८५ से ले कर १८९० ई. तक हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन करते रहे।"

"सन् १९०२ में नरसापुर में बुद्धिराजु ब्रह्मानन्दम, बोम्मकंटि कृष्ण-मूर्ति और मामिल्लपल्लि केशवाचार्य ने 'आर्यानन्द हिन्दू नाटक समाज' की स्थापना कर हिन्दी में नाटकों का अभिनय किया।"

"केवल हिन्दी नाटकों के अभिनय करने के लिए ही 'भीमुनिपट्टणम्' में 'भक्ति विलासिनी समाज' की स्थापना हुई। इस संस्था के संस्थापक श्री मिंदी रामचन्द्रराव अच्छे अभिनेता थे।"

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि आन्ध्र नाट्य साहित्य के प्रारंभ काल में हिन्दी के पर्याप्त नाटक लिखे गये और उनका अभिनय भी हुआ। इससे स्पष्ट है कि इस दिशा में उस युग के आन्ध्र लेखकों ने प्रयत्न किया था। काश, उनकी वे सभी हिन्दी रचनाएँ प्राप्त होतीं! हमारे लिए यही अहोभाग्य की बात है कि श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि कृत ३२ हिन्दी नाटकों में से, कम से कम १४ नाटक तो उपलब्ध हैं जो हिन्दी नाटकों के लिए आन्ध्र की बहुत बड़ी देन है।

श्री पुरुषोत्तम कवि का जन्म सन् १८६३ को कृष्णा ज़िले के सीतारामपुरी नामक ग्राम में हुआ था। यह गाँव सन् १८६४ की बाढ़ में बह गया था। प्रकृति के इस भीषण तांडव के कारण श्री पुरुषोत्तमजी को अपने माता-पिता के साथ, हैदराबाद के महाराजगंज में १२ वर्ष अर्थात् सन् १८७६ तक रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस अवधि में मेधावी बालक ने अरबी, फारसी, उर्दू, अच्छी तरह सीख ली। हैदराबाद से लौट कर वे पुनः मछली-पट्टणम आ गये और मिडिल ट्रेनिंग पास करके रेपल्ले के 'लोअर सेकंडरी स्कूल' में अध्यापक रहे।

मछलीपट्टणम में सन् १८८१ के लगभग 'हिन्दू थियेटर' नामक एक संस्था स्थापित हुई। इसने धारवाड़ के नाटकों के अनुकरण पर तेलुगु नाटक लिखवा कर अभिनीत करने का उपक्रम किया, किन्तु कुछ लोगों का सुझाव रहा कि हिन्दी भाषा में भी नाटक लिखवा कर प्रदर्शित किए जाएँ। तब उस कम्पनी के मैनेजर दासानि वेंकटस्वामी नायुडू हिन्दी में नाटक लिख सकने वाले किसी आन्ध्र विद्वान् की खोज में, रेपल्ले में स्थित पुरुषोत्तम के यहाँ पहुँचे। श्री वेंकटस्वामी के आग्रह को मान कर पुरुषोत्तमजी को हिन्दी नाटकों की रचना करनी पड़ी। यह हिन्दी साहित्य के लिए महत् सौभाग्य की बात सिद्ध हुई।

श्री पुरुषोत्तमजी के वचनानुसार उस संस्था का नाम बदल कर नेशनल थियेट्रिकल सोसायटी रखा गया। स्मरण रहे कि नेशनल काँग्रेस की स्थापना से ठीक एक वर्ष पूर्व ही पुरुषोत्तमजी ने 'नेशनल' शब्द का प्रयोग किया और राष्ट्रभाषा में नाटकों की रचना की।

सन् १८८४ ने आन्ध्र को एक ऐसा सौभाग्य प्रदान किया कि उसने हिन्दी नाटकों की श्रीवृद्धि में अपूर्व योगदान दिया। ये नाटक अहिन्दी प्रान्त में लिखे गये थे और इनकी लिपि तेलुगु थी, इसलिए इनका प्रचार हिन्दी-भाषी प्रदेशों में नहीं हो सका। हिन्दी और केवल तेलुगु के विद्वान् पाठकों के लिए ये रचनाएँ बोधगम्य न रहीं।

१९ वीं शती में हिन्दी में रचना कर हिन्दी-साहित्य-भण्डार को भरने वाले आन्ध्रों में केवल पुरुषोत्तमजी की रचनाएँ ही उपलब्ध होती हैं। उनका इतिवृत्त भी हमें ज्ञात है। आज से लगभग ८० वर्ष पहले ही हिन्दी भाषा व साहित्य को अपनी देन से कृतकृत्य बनाने वाले पुरुषोत्तमजी की असाधारण प्रतिभा पर आन्ध्र को समुचित गर्व करना चाहिए। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी तथा आन्ध्र सरकार का कर्त्तव्य है कि इस अपूर्व निधि से हिन्दी विद्वानों को अवगत कराए।

श्री पुरुषोत्तमजी ने "पुरविरोधि कृपार्जना से, पुण्य-चारित्राँ, विरचन करके, दक्षिणामूर्ति देव कुसमर्पण मैं किया हूँ" कह कर ३२ नाटकों की रचना की, उन नाटकों के नाम हैं :—

रामायण संबंधी नाटक

१. पुत्रकामेष्टि
२. सीता कल्याण

३. दशरथ निर्माण
४. रामारण्यवास
५. सीता हरण
६. सुग्रीव पट्टाभिषेक
७. हनुमत्प्रताप
८. रावण संहार
९. शम्बूक वध
१०. लवणासुर संहार
११. इल महाराज चरित्र

महाभारत संबंधी नाटक

१२. सुभद्रा परिणय
१३. मनोजवालक्ष्मी निवारण
१४. मित्र सहोपाख्यान
१५. सुकन्या परिणय

अन्य पुराण संबंधी नाटक

१६. कालासुर वध	(ब्रह्मवैवर्त पुराण)
१७. पंचाक्षरी महिमा	(स्कन्द पुराण)
१८. भस्मासुर वध	(,, ,,)
१९. कलावती परिणय	(,, ,,)
२०. शारदोपाख्यान	(,, ,,)
२१. सीमंतिनी चरित्र	(,, ,,)
२२. भद्रायुरभ्युदय	(,, ,,)
२३. कीर्तिमालिनी प्रदान	(,, ,,)
२४. अपूर्व दाम्पत्य	(,, ,,)
२५. गोकर्ण महात्म्य	(ब्रह्म पुराण)
२६. अहल्यासंक्रदनीय	(ब्रह्माण्ड पुराण)
२७. श्रीयाल चरित्र	(हर पुराण)
२८. सत्य हरिश्चन्द्र	(मार्कण्डेय पुराण)
२९. बिल्हणीय	(?)
३०. शुकरम्भा संवाद	(?)

ऐतिहासिक नाटक

३१. पीश्वा नारायणराव वध

३२. रामदास चरित्र

दुर्भाग्य से इन नाटकों में १ से ८ तक के नाटकों के गीत मात्र प्राप्त हैं और २१, २२, २३, २४, २६ तथा ३२ संख्या वाले नाटकों का गद्य-पद्य भाग प्राप्त है। अर्थात् कविकृत ३२ नाटकों में से १८ नाटक पूर्ण तरह नहीं मिल सके। प्राप्त नाटकों में 'रामदास चरित्र' स्वयं कवि द्वारा तेलुगु भूमिका सहित, सन् १९१६ में प्रकाशित किया गया। इन पंक्तियों के लेखक ने प्राप्त सामग्री को देवनागरी लिपि में टिप्पणियों के साथ लिप्यन्तर किया है। प्राप्त सामग्री लगभग ३५० पृष्ठों में है। श्री पुरुषोत्तमजी द्वारा रचित ३२ हिन्दी नाटकों की पृष्ठ संख्या लगभग एक हज़ार रही होगी। इस प्रकार निष्ठापूर्वक ३२ हिन्दी नाटकों की रचना कर पुरुषोत्तमजी ने हिन्दी के प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा प्रकट की।

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध में भी आन्ध्र के कई लेखकों ने हिन्दी में रचनाएँ की थीं। इस प्रसंग में एक विषय ध्यान देने योग्य है। वह यह कि ये सभी रचनाएँ उस समय की हैं, जबकि हिन्दी प्रचार के नारे का जन्म तक नहीं हुआ था। अतः इन हिन्दी रचनाओं का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है।

२० वीं शती के प्रारम्भ में पूज्य बापूजी की सत्प्रेरणा से, दक्षिण भारत में नियमित रूप से हिन्दी का पठन-पाठन होने लगा। महात्माजी का उद्देश्य था कि आदान-प्रदान से भाषा की विभिन्नताओं तथा अंग्रेज़ी शासन की कूट-नीति के कारण खंडित भारत की आत्मा के एकत्व का परिचय करा कर, समस्त राष्ट्र को 'भारतीयता' के एक सूत्र में निबद्ध किया जा सकेगा। आन्ध्रों ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के कार्य को सफल बनाया। हिन्दी रचनाओं को पढ़ने-समझने, तथा हिन्दी भाषा में बोलने के अतिरिक्त कई आन्ध्रों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया है। हिन्दी रचनाओं को तेलुगु में अनूदित करने तथा तेलुगु रचनाओं को हिन्दी में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त अपनी मौलिक रचनाओं से हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरने वाले आन्ध्रों की संख्या कम नहीं है।

तेलुगु की श्रेष्ठ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करने वाले बीसियों आन्ध्र हैं। अनुवाद का कार्य मौलिक प्रतिभा का परिचय नहीं देता, फिर भी

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साहित्य के विकास में, नूतन मार्ग-दर्शन में, अनुवाद का विशेष महत्त्व है। किसी सम्पन्न भाषा की साहित्यिक उपलब्धियों का परिचय पा कर अन्य भाषा-भाषी उन-उन विधाओं से अपने साहित्य को सुशोभित कर लेते हैं। प्रस्तुत लेख में तेलुगु से हिन्दी में और हिन्दी से तेलुगु में अनुवाद करने वाले लेखकों का परिचय न दे कर हिन्दी में मौलिक रचनाएँ करने वाले लेखकों का ही थोड़ा परिचय देने का प्रयत्न किया जाएगा।

हिन्दी में मौलिक रचनाएँ करने वाले आन्ध्रों की सख्या भी कम नहीं है। इन में श्री मोटूरि सत्यनारायणजी का नाम सर्व प्रथम लिया जा सकता है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा आपकी लगन से ही आज दक्षिण का हिन्दी-विश्वविद्यालय बन सकी है। भाषा प्रचार के लिए पाठ्य पुस्तकों की रचना के अतिरिक्त आपने दक्षिण के साहित्य, संस्कृति, भाषा आदि से हिन्दी-पाठकों को परिचत कराने के लिए अनेक लेख लिखे। आपका कार्य दक्षिण और उत्तर को मिलाने वाले सेतु के समान है। सत्यनारायणजी के समान हिन्दी भाषा पर अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त है। प्रारम्भिक युग के लेखकों में स्व. जंधाल शिवन्ना शास्त्री, पिसपाटि वेंकट सुब्बाराव आदि हैं।

हिन्दी में मौलिक उपन्यास, कहानियाँ और एकांकी लिख कर प्रसिद्धि प्राप्त करने वालों में श्री आरिगिपूड़ि रमेश चौधरी प्रसिद्ध हैं। 'दूर के ढोल,' 'पतित पावनी,' 'अपनी करनी' आदि उपन्यास, 'भगवान भला करे' नामक कहानी संग्रह तथा 'नेपथ्य' नामक एकांकी संग्रहों के प्रकाशन से आपने आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्थान प्राप्त कर लिया है। आप की सशक्त लेखनी से हिन्दी को बहुत आशाएँ हैं।

तेलुगु साहित्य की उत्कृष्टता का परिचय कराते हुए तथा रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भावनात्मक एकता के लिए आदान-प्रदान को सफल साधन सिद्ध करने वाले श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु' कई वर्षों से सराहनीय प्रयत्न कर रहे हैं। हिन्दी और तेलुगु के साहित्यकारों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित आपके लेखों का एक संग्रह 'आदान-प्रदान' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'आन्ध्र के कबीर : वेमना' नामक पुस्तक हिन्दी-क्षेत्र में पर्याप्त प्रसिद्ध हुई है। आप हिन्दी के सफल कवि भी हैं।

तेलुगु साहित्य का समग्र एवं सम्यक् परिचय देते हुए हिन्दी में पुस्तकें लिखने वालों में श्री बालशौरिरेड्डी जी का नाम लिया जाना चाहिए। तेलुगु के पाँच प्रसिद्ध काव्यों का परिचय देते हुए लिखा गया 'पंचामृत' तेलुगु की

विविध साहित्य विधाओं तथा श्रेष्ठ लेखकों का परिचय देते हुई लिखी गयी। 'आन्ध्र भारती,' 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' आदि पुस्तकें उत्तर-प्रदेश को सरकार से पुरस्कृत हुई। इनके अतिरिक्त रेड्डीजी ने 'शबरी,' 'ज़िन्दगी की राह', 'यह बस्ती-ये लोग' आदि मौलिक उपन्यास, 'सत्य की खोज' नामक एकांकी-संग्रह भी लिखा। आशा है, रेड्डीजी अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य को अधिकाधिक सम्पन्न बनाएँगे।

आन्ध्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री जी. सुन्दर रेड्डी के विचारात्मक लेखों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, 'साहित्य और समाज' तथा 'मेरे विचार'। अभी हाल में आपका, हिन्दी और तेलुगु-एक तुलनात्मक अध्ययन' नाम से एक आलोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है।

श्री बी. वी. सुब्बारावजी ने 'हरिकिशोर' के उपनाम से हिन्दी में कई कविताएँ तथा कहानियाँ लिखी हैं। 'उफान' उनका प्रसिद्ध उपन्यास है।

श्री चोडवरपु राम शेषय्याजी ने 'बोब्बिलि', 'गृहिणी', 'मंत्री रामय्या' 'रानी मल्लम्मा', 'सती कण्णकी' नाम से दक्षिण के, विशेष कर आन्ध्र के ऐतिहासिक इतिवृत्तों को ले कर सफल नाटक लिखे।

श्री चावलि सूर्यनारायण मूर्तिजी ने 'समझौता', तथा 'महानाश की ओर' 'सत्यमेव जयते' नामक मौलिक नाटक तथा 'सती ऊर्मिला' तथा 'मानस-लहरी' नामक खंड काव्य की रचना की। मूर्तिजी के कई आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। 'मध्य कालीन राम कथा का तुलनात्मक अनुशीलन' शीर्षक शोध प्रबन्ध सागर विश्वविद्यालय से स्वीकृत हो चुका है।

श्री अयाचितुल हनुमत् शास्त्री ने 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक के अतिरिक्त तेलुगु साहित्य सम्बन्धी कई लेख लिखे।

श्री कर्णराज शेषगिरिराव ने आन्ध्र की लोककथाएँ नामक पुस्तक लिखी है, जिस पर केन्द्रीय सरकार का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्तिजी ने 'नागार्जुन सागर' नामक एक गेय काव्य—तेलुगु की बुर्रकथा की गायन शैली पर लिखा। तेलुगु के आधुनिक साहित्य के १६ प्रसिद्ध कवियों का परिचय देते हुए आपने एक पुस्तक लिखी है।

श्री आलूरि बैरागी चौधरीजी हिन्दी में अच्छी कविताएँ लिखते हैं। 'पलायन' तथा 'बदली की रात' के नाम से आप की कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं। बैरागीजी की कविताओं का हिन्दी काव्य संसार में विशेष सम्मान हुआ है।

श्री मुट्नूरि संगमेशमजी ने 'विश्वामित्र' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है। आपके आलोचनात्मक लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।

श्री ए. सी. कामाक्षिराव ने पाठ्य पुस्तकों तथा आलोचनात्मक लेखों के अलावा शब्द कोशों की रचना भी की है। हिन्दी-तेलुगु व्याकरणों की तुलना करते हुए आपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है।

हिन्दी में शोध प्रबन्ध लिख कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने वालों में श्री इलपावुलूरि पाण्डुरंगाराव जी सर्वप्रथम आन्ध्र हैं। 'आन्ध्र हिन्दी रूपक' नामक आपके शोध ग्रन्थ पर नागपुर विश्वविद्यालय ने आपको डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की है।

श्री एम. टी. नरसिंहाचार्यजी के 'साहित्य दर्शन' नामक शोधप्रबन्ध पर हिन्दू विश्वविद्यालय ने डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की है।

इन पंक्तियों के लेखक को 'आन्ध्र के हिन्दी नाटककार श्री पुरुषोत्तम कवि के हिन्दुस्थानी नाटक' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर उस्मानिया विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की डिग्री मिली है। श्री वेंकटरमण और श्री वसन्त चक्रवर्ती को पी-एच. डी., की उपाधियाँ मिल चुकी हैं।

इन दोनों महानुभावों को क्रमशः 'हिन्दी के कवित्रय और उनका सामाजिक पक्ष' तथा 'जयशंकर प्रसाद का दार्शनिक पक्ष' नामक प्रबन्ध पर डाक्टर की उपाधि दी गयी।

उपरोक्त लेखकों के अलावा, समय-समय पर विभिन्न विषयों पर हिन्दी में लेख लिखने वालों में श्री उन्नव राजगोपालकृष्णय्या, वेमूरि आंजनेय शर्मा, चिट्टूरि लक्ष्मीनारायण शर्मा, बोयपाटि नागेश्वर राव, कोट सुन्दर राम शर्मा, दशिक सूर्यप्रकाशराव, दंडमूडि महीधर, दुर्गानन्द, चलसानि सुब्बाराव, यलमंचिलि वेंकटेश्वरराव, श्रीमती बी. दयावन्ती आदि के नाम उल्लेख्य हैं। वैसे इस छोटे-से लेख में हिन्दी में लिखने वाले सभी आन्ध्रों का समग्र परिचय तो नहीं दिया जा सकता, केवल नामोल्लेख

मात्र हो चुका है। यदि किन्हीं लेखकों के नाम छूट गये हों तो यह इन पंक्तियों के लेखक का अल्प ज्ञान ही समझा जाए।

इस प्रकार हिन्दी में मौलिक रूप से लिखने वाले आन्ध्रों की संख्या पर्याप्त है, और मुझे विश्वास है कि इस प्रान्त के लोग निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य को अपनी अनेक बहुमूल्य रचनाएँ प्रदान करेंगे।

भारतीय साहित्य और हिन्दी : अनुवाद-माध्यम के रूप में

श्रीमती हेमलता लांजनेयुलु

सबसे पहले तो मैं आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की अत्यन्त आभारी हूँ कि इस संस्था के आयोजकों ने मुझे इस गोष्ठी में सम्मिलित होने तथा अपने विचार प्रकट करने का मौक़ा दिया है। अकादमी ने हिन्दी लेखकों के इस सम्मेलन का आयोजन कर आन्ध्र प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए तथा स्वतंत्र रूप से हिन्दी में लेखन कार्य करने वाले सरस्वती के उपासकों को एक मंच पर एकत्रित किया है जिससे वे आपस में अपनी समस्याओं, अपनी कठिनाइयों और अपनी आवश्यकताओं के बारे में चर्चा करें। मिलजुल कर अनेक बातों पर विचार करें। भविष्य में निर्मित होने वाली अखिल भारतीय भावना और भाषा, तथा साहित्य के लिए सक्रिय योगदान की रूपरेखा निश्चित कर सकें।

कल की गोष्ठी में (६ फ़रवरी) तथा शाम को उद्घाटन समारोह के बाद खुले अधिवेशन में अनेक विद्वानों ने तेलुगु व हिन्दी भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध, सहयोग और उसकी आवश्यकताओं, अनुवाद, प्रकाशन और प्रसार आदि के बारे में, अनेक पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किये। और आज इक बैठक में भी, हम हिन्दी से सम्बन्धित सवालों पर सोच-विचार कर रहे हैं।

मैंने इस समय की अपनी बातचीत की सीमा रखी है "भारतीय साहित्य और हिन्दी : अनुवाद-माध्यम के रूप में।" इसके अंग हैं—(१) भारतीय साहित्य, (२) हिन्दी, (३) अनुवाद, (४) अनुवाद-माध्यम और (५) हिन्दी-अनुवाद-माध्यम के रूप में। इन विषयों पर थोड़े-बहुत रूप में काफ़ी चर्चा हो चुकी है पर इस समय मैं इन सबको संगठित रूप में—संबद्ध रूप में करके अपने कुछ विचार और अनुभव आपके सामने रखने का प्रयत्न करूँगी।

सबसे पहले हम सोचें कि भारतीय साहित्य क्या है? प्रकाशन का माध्यम—जरिया क्या है? क्या भारत की भौगोलिक सीमा के अंतर्गति

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लिखी हर चीज़, हर भारतीय भाषा में लिखी हर चीज़ भारतीय साहित्य है ? और क्या भारत के बारे में लिखी हर चीज़ भारतीय साहित्य है ? तब तुरन्त हमें जवाब मिलता है—नहीं। तो फिर किसे हम भारतीय साहित्य कहेंगे ? हमारे राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने एक स्थान पर कहा है :—

"भारतीय साहित्य एक है, मात्र वह अनेक भाषाओं में लिखा गया है।" कल के खुले अधिवेशन में प्रो. विनायक कृष्ण गोकाक ने बताया कि किस प्रकार हमारी सभी भारतीय भाषाओं में एक-सी प्रवृत्तियाँ आरम्भ से अब तक चली आ रही हैं। ऐसे अनेक मतों को देखने, समझने और तोलने पर यही लगता है कि भारतीय साहित्य वही है जो भारतीय जन मन की आशा-आकांक्षा, राग-विराग, आनन्द-द्वेष, हर्षोल्लास, कुंठाओं आदि को लेता हुआ रंजक शैली में, सुन्दर आकर्षक परिधान में प्रस्तुत करे। जो जीवन को सही मानों में चित्रित करे। तो ऐसा करने पर क्या वह भारतीय जीवन का फोटोग्राफ़िक चित्र है, अलबम है ? नहीं। वह विविध सजीव पात्रों के माध्यम से जीवन्त समाज की हलचलों, कुंठाओं, उत्थान-पतन, संघर्ष, प्रगति आदि का रोचक चित्रण कर न केवल जीवन को गति प्रदान करता है, बल्कि जन मन को साथ लिए चलता है—वह न उसे ठेलता है और न दौड़ाता है। जीवन-साहित्य की पृष्ठभूमि है और साहित्य के अतिरंजित रूप से जीवन उत्साह, संतोष और सहारा पाता है। ये सब बातें जिन भारतीय रचनाओं में होंगी उन्हें ही हम भारतीय साहित्य की परिधि में रख सकेंगे। इस पैमाने को ध्यान में रख कर यदि हम विभिन्न रचनाओं की ओर ध्यान दें तो हमें मिलता है—रामायण, महाभारत और भागवत तथा अन्य इस प्रकार का साहित्य जो विभिन्न समयों पर विभिन्न साहित्य रूपों में प्रकाशित होता रहा, लिखा गया। उस समय धर्म ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन को एक सूत्र में बाँध रखा था, परन्तु अब ज़माना बदल गया है। जीवनक्रम और जीवन के दायरे बदल गये हैं। छोटे-छोटे सामाजिक घेरों से उठ कर हम बाहर निकल आये हैं। आज के भारतीय साहित्य में धार्मिक सूत्र नहीं मिलता। मिलता है सामाजिक जीवन का अश्रु-हास पूर्ण भीना आँचल। आज जिन्हें हम भारतीय साहित्य के नाम से जिन पुस्तकों को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रख सकेंगे, वे हैं—प्रेमचन्द का **"गोदान"**, तकाज़ी शिवशंकर पिल्लई का **"चम्मीन"**, फणीश्वरनाथ 'रेणु' का **"मैला आंचल"** और **"परती परिकथा"**, विश्वनाथ सत्यनारायणजी का **"वेई पड़गलु"** तथा इसी कोटि की लिखी अन्य भाषाओं की रचनाएँ। इन

कृतियों में लेखकों ने जीवन की दूखती रगों को व्यक्त किया है, उनका सुख-दुःख प्रदर्शित किया है। पाठक का हृदय डोल उठता है और पाठक वर्ग के मन में प्रतिक्रिया होती है कि जो भी हो आने वाली पीढ़ियों का जीवन इतना संघर्षपूर्ण नहीं होना चाहिए। उनके जीवन-आँगन में आनन्द की मूर्तियाँ छूम छनन छन नाचेंगी, गाएँगी।

अब हमारे सामने दूसरा सवाल आता है कि यह जो भारतीय साहित्य के नमूने हैं, जो अलग-अलग भाषाओं में सिद्धहस्त लेखकों के सृजनात्मक कौशल के प्रतीक हैं, कैसे अन्य भाषियों तक पहुँच सकते हैं? जवाब मिलता है कि सीधे मूल से नहीं तो उसके अनुवाद से। पर क्या सभी का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद हो पाना संभव है?

यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना चाहती हूँ। कल अपने भाषणों के अनेक अवसरों पर श्री गोपाल रेड्डीजी ने इस बात पर जोर दिया कि या तो मूल पढ़ा जाए या फिर उसके सीधे अनुवाद को पढ़ा जाए।—बात बड़ी अच्छी है, पते की है, पर सम्भव नहीं लगती—इस अवसर पर, इस संधिकाल में। शायद ४०–५० वर्षों के बाद जब भारत का प्रत्येक या अधिकांश साहित्य-प्रेमी भारत की सभी भाषाओं को जानेगा या समझ सकेगा, तो वह मूल ग्रंथों को अवश्य पढ़ेगा और उसके मौलिक आनन्द का लाभ उठाएगा। परन्तु आज के युग में यह संभव नहीं लगता—न केवल भारत में बल्कि दूसरे देशों में भी। मूल पाठ का आनन्द दिलाना वैसे ही है जैसे भूखे के लिए मिष्टान्न या षड्रस भोजन की व्यवस्था करना, जो अधिकांश अवसरों पर अप्राप्य होता है। भूख को तो जो भी प्राप्य हो, रूखा-सूखा—वही पहले देना होगा। फिर भूख शान्त होने पर और मिष्टान्न प्राप्त होने पर उसे अवश्य मिष्टान्न देना चाहिए। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में आज अनुवादों की और अनुवाद-माध्यमों की अत्यन्त आवश्यकता है। यह स्थिति केवल हमारे ही देश की नहीं बल्कि विश्व के प्रत्येक बहुभाषी देश की है।

पहले विदेशों की भाषा-स्थिति की ओर ध्यान दें और देखें कि उन्होंने अपनी समस्याओं का कैसे हल किया है।

अनुवाद की समस्या इंग्लैण्ड, अमरीका, आस्ट्रेलिया में उतनी नहीं है जितनी यूरोप, रूस, चीन आदि देशों में है। यूरोप का हर देश इतना छोटा है कि आम तौर पर एक भाषा से या एक मुख्य राजभाषा से काम नहीं चल पाता है। स्विट्ज़रलैण्ड में चार भाषाएँ समान रूप से और बेल्जियम

में दो भाषाएँ—फ्लेमिश और फ्रांसीसी—समान रूप से प्रयोग में आती हैं। पश्चिमी जर्मनी में प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा प्रांतीय कार्य चलते हैं फिर भी पूरे देश की भाषा जर्मन ही है। यूगोस्लाविया में सर्बियन या सर्बोक्रोएटिश मुख्य भाषा है जबकि क्रोएशियन, दल्मातिसयन आदि अन्य प्रादेशिक भाषाओं में प्रदेश-विशेष का काम होता है। सोवियत संघ में रूसी भाषा में सारे देश का कार्य होता है पर प्रांतों का सारा कार्य प्रांतीय भाषाओं में होता है। केन्द्र के साथ रूसी-अनुवाद के सहारे काम चलता है।

यह तो हुई एक भाषा से दूसरे में सीधे अनुवाद करने की मिसाल। पर समस्या तब और उलझ जाती है जब दो असमान वर्गों की भाषाओं के बीच अनुवाद करने का मौक़ा आता है। उदाहरण के लिए पिछले कुछ वर्षों में नोबल पुरस्कार आइसलैंड, युगोस्लावाकिया, ग्रीस, रूस और फ्रांस के लेखकों की रचनाओं को मिले हैं। अब इन महान लेखकों की रचनाओं को दुनिया का हर साहित्य-प्रेमी पढ़ना चाहता है—तो कैसे पढ़े? भले अधिक शिक्षित और पूर्ण साक्षरता वाले यूरोपीय देशों का नागरिक अपनी मातृभाषा और राष्ट्र भाषा के अलावा एक या दो, या अधिक भाषाएँ जानता हो पर कोई यूरोप के हर कोने की भाषा जाने यह कैसे हो सकता है। इन महान रचनाओं को योरोपीय देशों के लोग फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेज़ी के माध्यम से अनुवाद करके पढ़ सकते हैं, क्योंकि किसी भी देश में ऐसे कितने लोग होंगे जो उस देश की भाषा के साथ ही साथ आइसलेंड, युगोस्लाविया या ग्रीस के लेखक की भाषा को जानते हैं। यह समस्या अनुवाद-माध्यम के द्वारा आसानी से हल की जा सकती है।

सोवियत रूस के अपने अनुभवों से मैंने यही पाया कि वहाँ संसार की प्रायः हर मुख्य भाषा के लिए कम से कम एक न एक दुभाषिया या अनुवादक आसानी से और अवश्य मिल जाता है। इसका फ़ायदा उठा कर वे हर भाषा की रचना का मूल से रूसी में या किसी अन्य माध्यम के द्वारा रूसी में अनुवाद कर लेते हैं। और फिर दूसरी प्रजातंत्रीय भाषाओं में उस अनुवाद का अनुवाद होता है। रेडियो किमिटि (रेडियो मास्को) में काम करते समय, रूसी भाषा बोलना सीख लेने पर दूसरे देशों के सहयोगियों के साथ काम करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं पड़ती थी, क्योंकि हम लोगों के बीच रूसी भाषा का माध्यम था।

इसी के अनुसार हम भारतीय भाषाओं की स्थिति की ओर देखें तो समस्या यूरोप या रूस से कुछ सरल नहीं जान पड़ती। रूस और यूरोप में

यदि पूरी नई पीढ़ी साक्षर है तो भारत में अभी साक्षरता का आँकड़ा ५० प्रतिशत तक भी नहीं पहुँचा है। और इस संख्या में भी केवल मातृभाषा जानने वाले अधिक हैं। देश के एक छोर की भाषा को दूसरे छोर का व्यक्ति नहीं जानता। पढ़े-लिखे लोग अंग्रेज़ी के माध्यम से काम चला लेते हैं, पर आम जनता ऐसा नहीं कर पाती। ऐसे अवसरों पर एक 'जोड़ भाषा' की अत्यन्त आवश्यकता है जो भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति के अत्यधिक समीप हो और अधिकांश लोग जिसका प्रयोग करते हों। आज से १५ वर्ष पूर्व संविधान बनाते समय देश के बहुमत ने हिन्दी का ऐसा माध्यम पाया था।

आज परिवर्तन का संधिकाल है। हिन्दी को ले कर देश के विभिन्न भागों में काफ़ी तनावपूर्ण स्थिति क़ायम हो गयी, उसे हमारे नेताओं ने संभालने की कोशिश की। यहाँ हिन्दी भाषा के बजाय हिन्दी को अनुवाद-माध्यम के रूप में रख कर हम विचार करेंगे।

जैसे-जैसे आज हमारे जीवन की परिधि व्यापक होती जा रही है और हमारा जीवन अंतर्राष्ट्रीय होता जा रहा है, वैसे-वैसे आदान-प्रदान व समझने-जानने की ज़रूरत बढ़ती जा रही है। और इसके लिए अनुवाद ही (लिखित या मौखिक रूप में) एकमात्र सहायक बन सकता है। इसे ज़रा और गहराई से सोचें तो मूल भाषा में लिखी वस्तु भी अनुवाद है—अनुभूति और कल्पना को शब्दों के माध्यम में परिवर्तित करने के लिए उसे भाषा के माध्यम में अनूदित किया जाता है। "नये पुराने झरोखे" पुस्तक में अनुवाद की समस्या पर विचार करते हुए डा. हरिवंशराय 'बच्चन' ने लिखा है :

"इसको मैं एक तरह की उलटबांसी में रखना चाहता हूँ कि प्रत्येक मौलिक रचना अनुवाद होती है। अनुभूतियों, भावों-विचारों का अनुवाद शब्दों में, जबकि अनुवादक शब्दों के आवरण को भेद कर सूक्ष्म भावनाओं के स्तर पर पहुँचता है और वहाँ से अपनी भाषा में अभिव्यक्त होने का प्रयत्न करता है तब अनुवाद मौलिक लगता है। यह गिरा-अर्थ, जल-वीचि को अलग करना है, पर अनुवाद को सरल काम किसने समझ रखा है ?"

सफल अनुवाद करने का विवेचन करते हुए डा. 'बच्चन' आगे लिखते हैं, "सफल अनुवादक के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस भाषा से अनुवाद करे और जिस भाषा में करे, दोनों पर उसका समान अधिकार हो। साहित्यिक ख्याति के ग्रंथों के लिए यह और भी आवश्यक है कि उसके साथ अनुवादक का रागात्मक संबंध हो।"

डा. बच्चन के ये विचार केवल विचार ही नहीं, उन्होंने इन विचारों को कार्य रूप में भी परिणत किया है। और इसकी सफलता का प्रमाण शेक्सपियर के नाटकों—"मैकबेथ" और "ऑथेलो" के उनके अनुवाद है। पढ़ने पर लगता है कि यह अनुवाद नहीं मूल है। फिट्ज़ेराल्ड द्वारा उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद मूल से कहीं अधिक सुन्दर बन पड़ा हैं। टैगोर की रचना 'चोखेर बाली' का श्री कृष्ण कृपलानी द्वारा किया गया अंग्रेज़ी अनुवाद "बिनोदिनी", सफलतम अनुवादों में से एक है। इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि अनुवादक ने मूल लेखक की बात को समझने के लिए उसके संवेदनात्मक स्तर के साथ-साथ अपने को उठाया है, तादात्म्य स्थापित किया है और तब उसे दूसरी भाषा के परिधान से संवारा है।

यह सारे उदाहरण अंग्रेजी में किए गए अनुवादों के हैं।—यहाँ अब सवाल किया जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख अनुवाद-माध्यमों में जब अंग्रेज़ी भाषा का अपना प्रमुख स्थान है तो उसे ही हम क्यों न अपनायें —हिन्दी को अपनाने की क्या आवश्यकता है ? क्या हिन्दी इस योग्य है ? या योग्यता प्राप्त कर सकने की उसमें संभावना है ?

इसे तो हमें मानना ही होगा कि पिछले डेढ़ सौ सालों से अंग्रेज़ी भाषा का हमारे देश के जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। हमने केवल यह भाषा ही नहीं सीखी हमारे बीच कुछ ऐसे सुविज्ञ विद्वान भी हुए है जिन्हें पूरे ब्रिटिश साम्राज में अंग्रेज़ी का सबसे अच्छा वक्ता और लेखक माना गया—वे थे **स्वर्गीय श्रीनिवास शास्त्री**। परन्तु पूरे भारत की वर्तमान पीढ़ी की ओर अगर हम दृष्टिपात करते हैं, विषेश कर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी की ओर, तो हमें ऐसे लोग उँगलियों पर गिनने को मिलेंगे जो शुद्ध और परिष्कृत अंग्रेज़ी बोलते या लिखते हों।

दूसरे अंग्रेज़ी भाषा हमारे देश में एक ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिणामस्वरूप आई है। उसका हमारे जीवन, संस्कृति और हमारी माटी के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। अंग्रेज़ी व्यावहारिक भाषा है और उसके द्वारा दुनिया के क़रीब आधे से अधिक भाग मे व्यक्ति अपना काम बड़ी आसानी से कर सकता है। परन्तु जहाँ एक भारतीय कृति का भारत की दूसरी भाषा में अनुवाद करने का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ अंग्रेज़ी के माध्यम से अनुवाद करना हास्यास्पद लगता है। क्योंकि जन-जीवन को दर्शानेवाले हमारे संस्कारों का वर्णन उनसे सम्बन्धित वाक्यांशो और अध्यायों को अंग्रेज़ी में

प्रस्तुत करना कठिन है और फिर उस अंग्रेज़ी अनुवाद से दूसरी भारतीय भाषा में अनुवाद करना दूसरी बात है। ऐसे अनुवादों में मूल पाठ और अनुवाद में बहुत अन्तर हो जाता है। उदाहरण के लिये एक ही अर्थ को दर्शाने वाले तीन भाषाओं के वाक्य हैं :—

"ఆ మాట విని వాడి గుండె జల్లు మన్నది."

"The news came as a bolt from the blue to him."

"यह समाचार सुन कर तो जैसे उस पर गाज गिर पड़ी।"

अब इन्हीं तीनों वाक्यों को देखिये—यह मुहावरेदार मुक्त—अनुवाद के उदाहरण हैं। पर इनका ही यदि शाब्दिक अनुवाद किया जाये तो वैसे ही होगा जैसा स्कूल में पढ़ते समय एक सहपाठी ने दूसरे से कहा था—

"My heart became garden-garden on seeing you (तुम्हें देख कर मेरा दिल बाग़-बाग़ हो गया) या,

"What goes of his father if I go across the play ground"

(अगर मैं खेल के मैदान से जाता हूँ तो उसके बाप का क्या जाता है?)

अब रूसी से अनूदित अंग्रेज़ी वाक्यों और उससे किये हिन्दी अनुवाद का नमूना प्रस्तुत करती हूँ :—

रूसी से अनूदित :—"War clouds are hanging in the sky".

हिन्दी अनुवाद :—"युद्ध के बादल आसमान में लटक रहे हैं।"

रूसी से अनूदित :—"Hundreds of steel plants have grown after the revolution"

हिन्दी अनुवाद :—"क्रांति के बाद सैकड़ों इस्पाती पेड़ उग आये हैं।"

इसी प्रकार अंग्रेजी मुहावरे "Out of sight. Out of mind" का एक ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। अंग्रेज़ी जानने वाले साथी ने उस चीनी अनुवाद को अंग्रेज़ी में समझने की कोशिश की तो उसका रूप इस प्रकार था :—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मूल अंग्रेजी—1. Out of sight, 2. Out of mind.

चीनी में अनूदित रूप का अंग्रेज़ी में अर्थ :—1. Invisible, 2. Idiot

ये हैं भौंड़े व बेतुके अनुवादों के नमूने। उदाहरण देने बैठूं तो अच्छी खासी लिस्ट तैयार हो जायेगी। लेकिन असली बात जो कहने की है वह यह कि अनुवाद-माध्यम यदि दो भाषाओं की सांस्कृतिक और रागात्मक बातों, विशेषताओं के निकटतम हो तो अधिक अच्छा रहता है। अन्यथा सीधी मूल भाषा से ही अनुवाद करना सर्वोत्तम है। (वर्ना चीनी-अंग्रेज़ी अनुवाद का मज़ा आता है) परन्तु यह हमेशा संभव नहीं होता। उदाहरण के लिए मलयालम से आसामी भाषा में या कन्नड से काश्मीरी में अनुवाद हो तो हमें अनुवाद-माध्यम की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। तब हमें ऐसे कई अनुवादक मिल जायेंगे जो कन्नड या मलयालम से हिन्दी और हिन्दी से काश्मीरी या आसामी में अनुवाद कर सकेंगे। ऐसी समस्या पिछले दस वर्षों में साहित्य अकादमी, सदर्न लेंग्वेज़ेज़ बुक ट्रस्ट और नेशनल बुक ट्रस्ट के सामने आती रही हैं। अधिकांश अवसरों पर अंग्रेजी के माध्यम से अनुवाद किया गया और फिर बाद में टीकाएँ हुई कि "मूल और अनुवाद में बहुत अन्तर है, बात कुछ बनी नहीं।"

सोवियत संघ में अंग्रेज़ी के माध्यम से और दूसरे माध्यमों से भी अनुवाद कार्य फैक्टरी के काम की तरह बड़े भारी पैमाने पर होता है। उसके कई लाभ भी हैं--अनेक अनुवादकों को नौकरी मिलती है, दूसरे जल्दी से जल्दी, अधिक से अधिक लोगों में बात, सिद्धान्त या पुस्तकों के संदेशों का प्रसार होता है। परन्तु इसके दोष भी है। संख्या में भले ही अधिक अनुवाद होते हैं, परन्तु स्तर काफी नीचा रहता है। दूसरे जब अनुवाद अंग्रेज़ी या अन्य किसी माध्यम में होता है और "मक्षिका के स्थान पर मक्षिका" वाली नीति, और (रूस में रूसियों द्वारा तैयार किए गये) शब्द कोषों के आधार पर जब मूल रूसी पाठ और नये अनुवाद को मिलाया जाता है तो कई बार बहुत अन्तर मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि पश्चिमी देशों के अनुवादों में जहाँ जीवन्त भाषा मिलती है वहाँ सोवियत संघीय अनुवादों में सामान्यतया "जीवित भाषा" का सवाल ही नहीं उठता। हमारे साथ काम करने वाले २०–२५ अनुवादकों में केवल एक अनुवादिका ऐसी थी कि जिसका उर्दू अनुवाद पढ़ने पर लगता था कि किसी उर्दू भाषी की मौलिक रचना हो।—इसे नियम के रूप में नहीं बल्कि

अपवाद के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं। यहाँ एक बात और कह दूं कि जितने स्वतंत्र रूप से किये गये अनुवाद अच्छे स्तर के होते हैं, उतने सामूहिक या सरकारी तौर पर कराये गये अनुवाद नहीं होते।

अब यदि हम अपने देश की ओर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि आजका हमारा जीवन इतना व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है कि बिना अनुवाद और अनुवादकों के एक पल को भी हमारा काम नहीं चल सकता। आज हमें न केवल साहित्य के क्षेत्र में बल्कि विज्ञान, चिकित्सा, तकनीक आदि अनेक क्षेत्रों में अनुवादों की आवश्यकता है। आज हमें चाहिए:—

(१) साहित्यिक अनुवाद—(क) गद्य (ख) पद्य

(२) तकनीकी अनुवाद

(३) प्रसार साहित्य का अनुवाद

इसके लिए, भाषा को तीन स्तरीय अनुवादों के योग्य बनाना होगा। इसके लिए आवश्यकता है—शब्दकोशों की, पारस्परिक सहयोग और सच्चे प्रयत्न की। आज की इस चर्चा के समय, मैं केवल साहित्यिक आनुवाद की ही बात ले रही हूँ, अतः उसी के बारे में कहती हूँ।

जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूँ, भारतीय जीवन को दर्शाने वाले हमारे विविध भारतीय साहित्यों को जब हम भारत की अन्य भाषाओं में अनूदित करना चाहते हैं तो हमें अंग्रेज़ी के बजाय हिन्दी अधिक उपयोगी और अनुकूल मालूम पड़ती है। आज की हिन्दी या खड़ी बोली, सदियों से चले आये सांस्कृतिक समन्वय के रूप में ढ़लती आयी है। इसने गंगा और जमुना की तरह अनेक समूहों से भावाभिव्यक्तियाँ ग्रहण की हैं। आज भारतीय जीवन के महत्त्वपूर्ण चौराहे पर खड़ी हिन्दी को भारत की सब भाषाओं के साथ हाथ मिला कर चलना होगा। अनेक भाषाओं के आदान-प्रदान के कारण हिन्दी में और अन्य भाषाओं में भी कई नये-नये प्रयोग आएँगे—और यह अवश्यम्भावी है। तब धीरे-धीरे भारतीय हिन्दी—(केवल उत्तर भारत की, हिन्दी भाषियों की हिन्दी ही नहीं) अखिल भारतीय हिन्दी उद्भूत होती जाएगी और एक भाषा में कही गयी बात को दूसरे भाषियों तक पहुँचाने में वह समर्थ होगी। इसका निर्माण, हम सबको मिल कर करना होगा। यह हमारी, हम सबकी अपनी चीज़ होगी, किसी की लादी हुई नहीं। पर यह आज की हिन्दी का ही परिमार्जित और सम्पन्न रूप होगा। अतः आज यदि अनुवाद-माध्यम के रूप में हिन्दी कुछ कमजोर भले ही लगती हो, पर उसे

सहारा देते हुए बढ़ाते जाना हमारी भी ज़िम्मेदारी है। प्रादेशिक प्रयोगों, पद्धतियों, रीतिरिवाज़ों को दर्शाने वाले शब्द या शब्द-समूह आज हिन्दी में यदि नहीं हैं तो उन्हें हमें गढ़ना होगा। कुछ समय के बाद यह कठिनाई दूर हो जाएगी—नया शब्द चालू हो जाएगा। ऐसे ही अनेकानेक स्थलों पर योग देने से अनुवाद-माध्यम को हम सशक्त बना सकेंगे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य को देश के कोने-कोने में फैलाने के लिए हिन्दी को अनुवाद-माध्यम के रूप में ले कर समृद्ध बनाना होगा।

परन्तु इसके साथ प्रादेशिक स्तर पर भी और देश के सम्पूर्ण जीवन में भी अधिक आदान-प्रदान की आवश्यकता है। यदि अहिन्दी रचना का हिन्दी में अनुवाद करते समय और इसी प्रकार हिन्दी रचना को हिन्दीतर भाषा में अनुवाद करते समय, प्रकाशन से पूर्व अनुवाद के पाठ को, मूल लेखक या उस भाषा के सुविज्ञ विद्वान् के साथ मिल-बैठ कर, ठीक किया जाए तो बहुत लाभकर होगा। इससे अनेक छोटी-छोटी पर बेहूदी भूलों को बचाया जा सकता है। ऐसे ही अनेक सम्मिलित प्रयास, विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को समीप लाएँगे और हम समन्वित भारतीय जीवन का निर्माण कर सकेंगे। हालाँकि हमारी संस्कृति और दर्शन एक है पर हमारी छोटे-छोटे दायरों वाली रीति-रिवाज़ों की परम्परा ने हमें बिखरे मोतियों-सा कर दिया है। सम्मिलित प्रयास और आपसी सम्बन्ध ही इन मोतियों को एक सूत्र में बाँध सकते हैं और तभी हमें असली भारतीय साहित्य के दर्शन होंगे।

अंत में मैं यही कहना चाहती हूँ कि, माना मूल पाठ पढ़ना सर्वोत्तम है, या फिर मूल का सीधा अनुवाद; परन्तु आज की स्थिति में भारतीय भाषाओं का अनुवाद करने के लिए निकटतम माध्यम—हिन्दी की अत्यन्त आवश्यकता है। ठीक वैसे ही जैसे यूरोपीय भाषाओं को अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है। भारत में पिछले कुछ वर्षों से आकाशवाणी ने अपने अखिल भारतीय नाटकों आदि के प्रसार के लिए हिन्दी अनुवाद को ही "मास्टर-स्क्रिप्ट' मान कर, काम करना शुरू किया है और यह प्रयास प्रायः सफल भी रह रहा है।

अनुवाद के लिए भाषा को हमें सम्पन्न, लचीला और सब ओर से ग्रहण कर सकने वाला बनाना होगा। जो कट्टरपंथी हैं उन्हें इस में स्थान नहीं मिलना चाहिए। आज की समस्या को मिल कर और भाईचारे के साथ

जितनी अच्छी तरह हम सुलझा सकते हैं उतना कट्टरपंथी ढंग से, अकड़, हुकूमत या दादागिरी से हल नहीं कर सकते। इसके साथ ही आज का इकतरफ़ा आदान—दुतरफ़ा आदान-प्रदान होना चाहिए।

इसके साथ ही साथ अनुवादकों पर बड़ी ज़िम्मेदारी है—ईमानदारी और सच्चाई की। आज अनुवादक, जल्दी ही यश और पैसा कमाने के उद्देश्य से चाहे जैसी लीपा-पोती करके एक भाषा की कृति को दूसरी भाषा में शब्दशः उतार दे तो इससे बढ़ कर भाषा और साहित्य के प्रति गद्दारी दूसरी नहीं हो सकती।

हिन्दी को अनुवाद-माध्यम मान कर उसे योग्य और सम्पन्न बनाना हम सबका कर्तव्य है। उसके द्वारा भारत-भारती का साहित्य-भंडार समृद्ध कर जन-मन के लिए उसे सहज, सुलभ करना भी हमारा कर्तव्य बन जाता है।



२. तेलुगु साहित्य

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आन्ध्र रंगमंच

श्री राममूर्ति रेणु

आन्ध्र, आर्यों की एक प्राचीन जाति है जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रंथों और पुराणों में मिलता है। भव्य प्रकृति से नयनाभिराम उनकी भूमि ने उन्हें विश्व के सभी सत्य, सुन्दर व मंगलमय तत्वों के प्रति प्रेरित किया। उन तत्वों की गहराई में पैठ कर, उनके रहस्यों का अन्वेषण तथा अनावरण करने में उनकी समस्त शक्तियाँ सतत क्रियशील रहीं। परंपरा के अनुसार, आन्ध्र में विकसित रंगमंच के दर्शन, हमें ईसा की १२ वीं शती के आसपास होते हैं। उस समय, कहा जाता है, कूचिपूडि कलाकारों के यक्षगान-प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में होते थे। एक दन्तकथा के अनुसार तेलुगु के प्रसिद्ध कवि व वश्यवाक् वेमुलवाड भीमकवि ने, अपने प्रति अपराध करने वाले गगवंश के किसी कलिंग नरेश को शाप दे कर, राज्यच्युत कर दिया था। उस राजा को, खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करने में, कूचिपूडि कलाकारों की एक नाटक-मण्डली से सहायता मिली थी। इसी प्रकार दूसरे किसी क्रूर सामन्त 'सम्मेट गुरवराजु' के अत्याचारी शासन का, उसके अधीश्वर के समक्ष, सफल प्रदर्शन करके, उन्हीं कलाकारों ने उस आततायी को पदच्युत करा दिया था। इन तथा ऐसी ही कुछ दूसरी दन्तकथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आन्ध्र में लोकतंत्र का प्रचार कई शताब्दियों पूर्व था, और यह विषय तो और भी चकित कर देने वाला है, कि उस जमाने में नाटककला, मात्र मनो-रंजन का विषय न रही, अपितु लोकरुचि का परिष्कार एवं विकास करने का जबर्दस्त साधन थी।

इन दन्तकथाओं की सत्यता की पुष्टि कतिपय साहित्यिक रचनाओं से भी हो जाती है। ईसा की बारहवीं शती के प्रसिद्ध वीरशैव कवि पालकुरिकि सोमनाथ ने अपने 'पण्डिताराध्य चरित्र' नामक ग्रन्थ में लिखा है, कि प्रतिवर्ष शिवरात्रि के अवसर पर श्रीशैल क्षेत्र में तरह-तरह के नृत्यगीत गाये जाते थे,

कठपुतलियों और चमड़े की पुतलियों के द्वारा जनता के मनोरंजन के लिए नाटक दिखाये जाते थे। 'तुम्मेदपदमुलु' दरूवुलु, 'गोब्बिपदमुलु', चन्दमामपदमुलु इत्यादि दर्जनों नाट्यगीतों का उल्लेख सोमनाथ ने किया है। ये सभी गीत नृत्य के साथ गाये जाते थे। श्रीशैल क्षेत्र में आन्ध्र, तमिल, कन्नड, तथा महाराष्ट्र, इन चारों प्रान्तों के हज़ारों यात्री एकत्रित होते थे। ये लोग अपने-अपने प्रदेशों में प्रचलित नाट्य-पद्धतियों में शिवलीलाओं को प्रदर्शित करके भगवान कामारि को प्रसन्न करते थे। और इस प्रकार विभिन्न प्रादेशिक ललित-कलाओं का एक अपूर्व संगम बन जाता था वह महाक्षेत्र। चमड़े की पुतलियों की नाटक-कला संभवतः महाराष्ट्र भाषाभाषियों से तेलुगु जनता ने ले ली होगी। कारण, उसके प्रदर्शक-लोग कथावाचन के समय कहीं-कहीं प्राचीन मराठी के शब्द भी प्रयुक्त करते रहते हैं। इसी प्रकार तेलुगुवालों ने प्रचलित 'वीथी-भागवत' और कन्नडप्रदेश के 'बयलाटा' ने भी एक दूसरे को प्रभावित किया होगा।

कला और संस्कृति के क्षेत्र में, इस प्रकार के आदान-प्रदान के प्रधान केन्द्र रहे थे, उस समय के वे पवित्र क्षेत्र, जहाँ पहुँच कर लोग अपने प्रादेशिक व भाषाविषयक सारे भेदभाव भूल कर, भारतीयता तथा भाईचारे के एक सूत्र में बँध जाते थे। एक ही परिवार की भाँति अपने परमपिता के सम्मुख नतमस्तक होते थे।

पालकुरिकि सोमनाथ ने अपना विराट् शैव साहित्य, जिस छन्द में लिखा था, वह 'द्विपदी' छन्द नाट्यानुकूल है। देशी छन्द है। उसे करताल, मँजीरे तथा डफ-ढोलक के साथ अच्छी तरह नाचते हुए गाया जा सकता है। और यही 'द्विपदी' छन्द पीछे जा कर तेलुगु नाटक का एक महत्त्वपूर्ण-विधान 'यक्षगान' का सर्वस्व बना। सोमनाथ के समय (१२वीं शताब्दी) तक ये दर्जनों प्रकार के नाट्यगीत तथा लोकनाटक-प्रदर्शन काफ़ी विकास को प्राप्त कर चुके थे। इससे यह अनुमान सहज ही पुष्ट हो जाता है कि उन कलाओं के पीछे शतियों की स्वस्थ परम्परा थी।

सोमनाथ के वीरशैव साहित्य के बाद तेलुगु के महाकवि श्रीनाथ भट्ट की कृतियाँ भी, तेलुगु रंगमंच की प्राचीनता पर प्रकाश डालती हैं। अपने 'भीम-खण्ड' नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि, उन दिनों देश में यक्षगान प्रदर्शनों का खूब प्रचलन था। भगवान 'दक्षाराम भीमेश्वर' के मेलों में वेश्याएँ 'पार्वती' आदि की भूमिकाएँ धारण कर शिवलीला का प्रदर्शन रात

भर करती थीं, और दूसरे दिन प्रातः उसी परिधान में बाज़ारों में घूम कर अपने नाट्य प्रदर्शन द्वारा सारे जगत् को श्रृंगार के समुद्र में डुबो लेती थी।

"सानि ईशानियै महोत्सवमु नन्दु
केल नव चन्द्रकान्तपु गिन्नेपूनि
वीथि-भिक्षाटन मोनर्चु वेल जेयु
मरूलु-नृत्यन्वु जगमुल मरूलु कोलुपु।"

अर्थात्—सानि यानी वेश्या ईशानी (पार्वती) बन कर मेले में, हाथ में चन्द्रकान्त पत्थर की बनी कटोरी लिए भीख माँगते समय जो श्रृंगार-नृत्य करती है, वह सारे विश्वों को मोहित कर डालता है।

इन्हीं श्रीनाथ के समसामयिक, एक दूसरे कवि विनुकोण्ड वल्लभामात्य की कृति 'क्रीडाभिराममु' तेलुगु साहित्य का प्रथम वीथी-नाटक है। संस्कृत रीतिग्रन्थ दशरूपक में वीथी के जो लक्षण बताये गये हैं प्रायः वे सभी इसमें मिलते हैं। इस नाटक की यह विशेषता है कि संस्कृत के अधिकांश नाटकों की तरह इसका इतिवृत्त महाभारत, रामायण अथवा किसी अन्य धर्मग्रन्थ से नहीं लिया गया है, अपितु इसमें कवि ने अपने समय के जन-जीवन काकतीय नरेशों की राजधानी 'एकशिलानगर' या ओरुगल्लु का एक सजीव चित्रपट ही प्रस्तुत किया है। एक जगह कवि ने एक 'जक्कुल पुरंध्रि' यानी 'यक्षंगान' का वर्णन किया है जो कि राजधानी के चतुष्पथ में, 'कामवल्ली महादेवी' की कथा का अभिनय सहित गायन कर रही थी। दर्शकों के चित्त चुराये जाती थी।

महाकवि श्रीनाथ की एक और कृति 'पलनाटि वीरचरित्रमु' है जो कि पृथ्वीराजरासो और आल्हाखण्ड की तरह उत्तम वीर काव्य है। वह द्विपदी छन्दों में निर्मित है, और उसका प्रचार 'पलनाडु' इलाक़े में आज भी पाया जाता है। इस वीरगाथा की विशेषता यह है कि 'पिच्चिकुन्ट' नामक एक खास जाति के कथक, हाथों में तलवार और 'पन्व' तथा 'तित्ति' नामक दो बाजे लिए, भावानुरूप अभिनय करते हुए प्रदर्शन करते हैं, और जनता तल्लीन हो रसास्वादन करती है। भारतीय नाट्यकला के बीज रूप जिन अंशों व लक्षणों को आचार्य भरत मुनि ने गिनाया है, वे इस वीरगीत में गोचर होते हैं।

यहाँ एक और विषय भी उल्लेखनीय है। तेलुगु रंगमंच में जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, यक्षगानों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'यक्ष' शब्द का वर्तमान तेलुगु रूप 'जक्कु' है, जो कि आन्ध्र के एक निचले वर्ग का नाम है।

ये लोग आज भी नाच-गान आदि के द्वारा गँवई-गाँवों की जनता का मनोरंजन करते रहते हैं। जब कभी 'यक्ष गानों' तथा 'यक्षों' का विचार मन में उठता है, तो मेरे सम्मुख अजन्ता के सुन्दर कलामण्डपों का वह भित्तिचित्र खिच जाता है, जिसमें कई 'यक्ष' आकाश में तरह-तरह के वाद्ययंत्र तथा मजीरे लिए गाते उड़ रहे हैं। अजन्ता-कलामण्डपों का निर्माण-काल कम से कम १२, १३ शताब्दी पुराना है। तो क्यों न हम मान लें कि इन 'यक्षगानों' का प्रचलन भी ईसा की छठी-सातवीं सदी के आस-पास रहा होगा ? आखिर साहित्य की तरह शिल्प, चित्र व संगीत भी जीवन की अभिव्यक्ति के माध्यम ही तो हैं !

इस सारी विवेचना से सहज ही ज्ञात होता है कि तेलुगु रंगमंच का इतिहास काफ़ी पुराना है। प्राचीन तेलुगु मंच के चार प्रधान रूप लक्षित हैं— कठपुतली नाच, चर्मपुत्तलिका नृत्य, यक्षगान और 'वीथी-भागवतमु'। इनमें कठपुतली नृत्य का आजकल, एक प्रकार से अन्तर्धान हो चला है। चमड़े की पुतलियों के नाटक भी जिन्हें 'तोलुबोम्मलाटा' कहते हैं, किन्हीं सुदूर कोनों में अपनी अन्तिम साँस ले रहे हैं। शेष दोनों नाटक पद्धतियों को भी वर्तमान 'स्टेज ड्रामा' ने 'दकियानूसी' घोषित कर डाला है, संभ्रांत एवं शिक्षित जन समाज की दृष्टि में काफ़ी गिरा दिया है। आज के दिन भारत की सांस्कृतिक देन चमड़े की पुतलियों का नाटक सुदूर प्राच्य में हिन्देशिया के जावा-बालि द्वीपों में राष्ट्रीय-रंगमच के सम्मानित आसन पर विराजमान है— 'वोयांग' खेल के नाम से। और मातृभूमि भारत ने उसे उठा कर फेंक दिया है रद्दी की टोकरी में।

भारतीय आचार्यों ने संगीत की बडी व्यापक परिभाषा दी है—

नृत्यं गीतं तथा वाद्यं त्रयं संगीतमुच्यते।

नृत्य, गीत और वाद्य (बाजा) इन तीनों का समाहार संगीत है। और तेलुगु का यक्षगान साहित्य-संगीत प्रधान है। द्विपदी, पद, दरूवु इत्यादि का नृत्यपूर्वक गायन उसमें अपेक्षित है। इन यक्षगानों का प्रदर्शन, जहाँ तक हमें पता लगता है, विशेष कर राजा-महाराजाओं के दरबारों में हुआ करता था। अद्यावधि उपलब्ध यक्षगानों में सब से पुराना ग्रन्थ "सुग्रीव विजयमु" है, जिसे विजयनगर सम्राट (ईसा की १३ वीं शती) के आठ प्रसिद्ध दरबारी कवियों में एक कन्दुकूरि रुद्र कवि ने रचा था। कहा जाता है कि उसका अभिनय राजमहलों में होता था। विजयनगर साम्राज्य के विघटन के बाद

सुदूर दक्षिण में मदुरा-तंजावूरु, के तेलुगु नायक राजाओं ने और ब द को महाराष्ट्र के शासकों ने उस साहित्य की अद्भूत श्रीवृद्धि की। इस दिशा में तंजावूरु के विजयराघव नायक तथा महाराष्ट्र नृपति शाहजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों अपने समय के अच्छे कवि तथा कवि-पोषक थे। दोनों ने स्वयं कई यक्षगान नाटक लिखे हैं, और अपने आश्रित कवियों से अनेक यक्षगान लिखवाये। इनमें भी पूर्ववर्ती राजा विजयराघव नायक ने तेलुगु रंगमंच का जैसा मान बढ़ाया, वह एक अद्भुत एवं अद्वितीय ऐतिहासिक तथ्य बन गया है। उन्होंने धीरे-धीरे प्राचीन यक्षगान में आवश्यक परिवर्तन करके उसे सर्वांग सुन्दर रूप दिया। अपने पिता रघुनाथ नायक की जीवनी को ले कर एक सुन्दर यक्षगान लिखा। कहते हैं कि 'विजयराघव-नायक' स्वयं अपने दरबार की विदुषी वैश्याओं के साथ-साथ रंगमंच पर जाते थे, नाटकों की प्रधान भूमिकाएँ धारण करते थे। इस प्रकार उन्होंने रंगमंच को बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया। रघुनाथाभ्युदय, कालीय-मर्दन, प्रह्लाद चरित्र, पूतनाहरण, विप्रनारायण चरित्र आदि दर्जनों नाटक इस राजा ने (ई. १७ वीं शती में) लिखे। इन के दरबारी कवियों में कोनेटि दीक्षित, पुरुषोत्तम दीक्षित, वेंकटपति सोमयाजि आदि कवियों ने भी कई यक्षगान लिखे हैं। विजयराघव नायक ही की तरह बाद की शताब्दी में महाराष्ट्र शासक शाहजी ने यक्षगान साहित्य में चार चाँद लगाये। तंजावूरु के 'सरस्वती महल पुस्तकालय' की सैकड़ों पाण्डुलिपियाँ आज भी इन दोनों शासकों की रंगमचीय सेवाओं की मौन-मुखर प्रशंसा कर रही हैं।

एक ओर राज दरबारों तथा प्रतिष्ठित समाजों में यक्षगान नाटक लोकप्रियता प्राप्त कर रहे थे, तो दूसरी ओर समाज की साधारण अनपढ़, वर्ग की जनता का मनोरंजन 'वीथी भागवत' करने लगे। इन्हें हम यक्षगान-नाटकों के असंस्कृत रूप कह सकते हैं। ये भागवत इस लिए कहलाए, कि इनमें महाभारत-भागवत-रामायण तथा शिवलीलाओं आदि के प्रसंग रहते थे। इन्हें 'यानादुलु', 'जंगालु', चिंदुमादिगलु, जक्कुलवारू, इत्यादि विभिन्न वर्गों के लोग प्रर्दशित करते हैं। इनका रंगमंच बड़ा ही सरल, साधारण होता है। गाँव के किसी चौराहे पर चार लम्बे बाँस गाड़ कर नारियल के पत्तों का पण्डाल तैयार करते हैं। उसका अगला हिस्सा एक सफ़ेद चादर (परदा) से ढँका रहता है। पात्रों के प्रवेश के पूर्व वह गिराया जाता है, उसके पीछे खड़े हो कर प्रत्येक पात्र गाता हुआ अपना परिचय सुना कर, फिर परदा हटा

कर नृत्य करता हुआ बाहर आता है। एरंडी का तेल या मिट्टी के तेल की दो मसालें दोनों तरफ़ लिये मशालची खड़े रहते है। नाटक रात को ९-१० बजे के क़रीब प्रारम्भ हो कर भोर तक चलता है। इन नाटक मण्डलियों के लोग ग़रीब होते हैं। १०–१५ रुपया या ४०–५० सेर अनाज मिलने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। खाना तो गाँव के संपन्न गृहस्थों के यहाँ खा लेते है। इनकी आवश्यकताएँ बस इतनी ही हैं। आज के जमाने में ये वीथी भागवत ही यत्र-तत्र गँवई गाँवों में दिखाई जाती हैं। तंजावूरु, मदुरा आदि राज्यों के पतन के साथ पुरानी यक्षगान परम्परा तिरोहित हो गयी।

दक्षिण भारत में, विशेष कर आन्ध्र और तमिलनाडु में सदाचार-संपन्न एवं अध्ययनशील कुछ ब्राह्मण परिवारों ने तेलुगु रंगमंच को खूब चमकाया है। आन्ध्र के कृष्णा जिले के कूचिपूडि नामक गाँव के ब्राह्मण कलाकार, और तंजावूर से बारह मील दूर 'मेलट्टूर' गाँव के तेलुगु ब्राह्मण कलाकारों ने कई यक्षगान नाटक स्वयं लिखे हैं। ये लोग उन नाटकों का अभिनय करते आ रहे हैं।

इन प्रदर्शनों में आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनयों का परिष्कृत रूप बहुत समय तक विद्यमान था। किन्तु इधर आधुनिक 'स्टेज-ड्रामा' ने आ कर उनकी परंपरागत मान्यताओं पर प्रहार किया है। इन दोनों में कूचिपूडि कलाकारों का इतिहास अधिक पुराना है। कहा जाता है कि तेलुगु नायक शासकों के समय में इनके कुछ परिवार जा कर दक्षिण में बस गये थे। और उन्हीं के वंशज आज तक चले आ रहे हैं। मेलट्टूर के ब्राह्मण परिवारों में 'भागवतुल' नामक एकाध परिवार हैं जो कि कूचिपूडि में बहुत पहले ही से रहते आये हैं। मेलट्टूर को तो हम कूचिपूडि ही की शाखा कह सकते हैं। प्रह्लाद चरित्र, भामाकलापमु, ऊषा परिणय, शशिरेखा परिणय, रामनाटक आदि दोनों जगह प्रदर्शित किये जाते हैं। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि कूचिपूडि के ग़रीब कलाकार गाँव से बाहर जा कर भी नाटक खेलते हैं, जब कि मेलट्टूर के सम्पन्न 'मीराशीदार' उन नाटकों का प्रदर्शन अपने गाँव में ही करते है। और वह भी गाँव के भगवान श्री वरदराज स्वामी के वार्षिक उत्सवों में भगवान् के मन्दिर के सामने तीन दिन के लिए तीन नाटक प्रदर्शित करते हैं। कूचिपूडि नाट्यकला के आदि प्रवर्तक प्रातः स्मरणीय सिद्धेंद्रयोगी माने जाते हैं, जिनका 'भामाकलापमु' या 'पारिजात कथा' भारतीय नाट्य शास्त्र का महोज्ज्वल रत्न है। उन महात्मा के काल तथा जीवनी का प्रामा-

णिक विवरण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ। मेलट्टूर में स्व. श्री वेंकटराम शास्त्री जी के लिखे नाटक ही खेले जाते हैं। ये वेंकटराम शास्त्री कर्णाटक संगीत के महान् आचार्य, त्यागराज स्वामी के समकालीन माने जाते हैं। आज कूचिपूडि नाट्य एवं नाटक पद्धति पर, आधुनिक रंगमंचीय नाटक तथा सिनेमा संगीत का अहितकर प्रभाव लक्षित होने लगा है। उसका परिष्कार एव परिमार्जन करके यथासंभव उसे फिर से परम्परागत मान्यताओं के अनुरूप ढालना जरूरी है। तभी हमें अपनी भारतीय स्वस्थ नाटक परम्परा का थोड़ा-सा आभास मिल सकेगा। इस दिशा में आकाशवाणी तथा तेलुगु साहित्य अकादमी की ओर से जो काम हो रहा है वह स्तुत्य है।

इस प्रसंग में एक दूसरे तेलुगु सन्त कवि स्वामी नारायणतीर्थ का नाम सादर लिया जाना चाहिए। उन्होंने कृष्णलीला तरंगिणी के नाम से संस्कृत भाषा में एक सफल यक्षगान-रूपक रचा, जो कि साहित्यिक एवं अभिनय कला की दृष्टि से अनुपम है। उसमें सुन्दर गीतों, चूर्णिकाओं, दरूवुओं (नाट्यगीत) श्लोकों और संवाद गीतों में भगवान् कृष्णचन्द्र के बालकाल से ले कर रुक्मिणी-परिणय तक की पूरी कहानी प्रस्तुत की गयी है। सफल अभिनेयता इस रचना का खास गुण है। भरतनाट्यम के सभी अंगों व करणों के प्रदर्शन के लिए उससे बढ कर उत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति अन्य किसी संस्कृत यक्षगान में संभवतः नहीं होती। यक्ष-पत्नियों का स्तवन और रासमण्डल के प्रसंग, इस विचार से सर्वोत्तम स्थल हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र के श्रृंगार-पूर्ण जीवन का वैसा पवित्र, अश्लीलता से दूर एवं सरस प्रतिपादन समूचे संस्कृत साहित्य में कठिनता से प्राप्त होता है। पूरी रचना का रंगमंच पर प्रदर्शन, कहते हैं, कि सात दिनों में समाप्त हो जाता था। आज तो उसके कतिपय नाट्य गीतों का ही अभिनय कूचिपूडि के कलाकार प्रस्तुत करते हैं।

इस अनुपम यक्षगान पर आधारित दो सुन्दर रूपकों का सफल प्रसारण आकाशवाणी की ओर से हो चुका है। इससे सिद्ध होता है कि दो ढाई शताब्दी पूर्व आन्ध्र प्रदेश के सामाजिक संस्कृत-नाटकों का खूब आनन्द उठा लेते थे।

देशी नरेशों के तिरोधान एवं अंग्रेज़ी शासन के प्रवेश से भारतीय कला-जीवन अन्धकारमय हो गया। पश्चिमी संस्कृति के सांकर्य ने प्राचीन रंगमंच को बदरंग बना दिया। आधुनिक तेलुगु मंच का श्रीगणेश भी अन्य भारतीय प्रादेशिक रंगमंचों की तरह इधर १९ वीं शती के अन्तिम चरण में हुआ।

नाटक कला के इस नये आन्दोलन को प्रेरणा मिली थी सबसे पहले, सन् १८७५ में मद्रास में प्रदर्शित "दी ओरिजिनल पारसी विक्टोरिया थियेट्रिकल ट्रुप" के खेलों से। इस ट्रुप के नायक थे पटेल एम. ए.। उस कम्पनी के खेलों से प्रभावित हो कर कुछ उत्साही नवयुवकों की एक मण्डली ने मद्रास में 'दी ओरिएण्टल-ड्रेमेटिक कम्पनी' स्थापित की थी सन् १८७६ में। उसके सरदार थे स्व. गोमठम् श्रीनिवासाचार्य जो कि एक साथ सफल अभिनेता और नाटककार थे। इस कम्पनी ने अपना कार्य संस्कृत तथा अंग्रेज़ी नाटकों के प्रदर्शनों के साथ शुरू किया था और धीरे-धीरे तेलुगु नाटक खेले जाने लगे। इसके संस्थापक श्रीनिवासाचार्य की अभिनय-कला से उस समय के मद्रास गवर्नर "ड्यूक आफ बकिंघम्" इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने "इण्डियन-गैरिक" कह कर श्रीनिवासाचार्य का अभिनन्दन किया था। श्री आचारी के प्रवेश के साथ-साथ दक्षिणभारत के नाटक-क्षेत्र का अवसाद समाप्त हो गया और वह एक स्वस्थ व निश्चित रूप धारण करने लगा। ठीक उन्हीं दिनों, आन्ध्र के प्रधान नगरों में कला-प्रेमी युवकों की कई-एक नाटक मण्डलियाँ स्थापित होने लगीं। गुण्टूर की "फर्स्ट" और सेकन्ड कम्पनियाँ, 'विजयनगर की 'जगन्नाथ विलासिनी सभा,' राजमहेन्द्री की 'गुन्नेश्वरराव कंपनी', बेजवाडा की 'मैलवरम् कंपनी' प्रमुख थी। तेलुगु के सफल हास्य नाटक "कन्याशुल्कमु" के रचयिता स्व. आचार्य गुरजाड अप्पाराव और श्रीनिवासाचार्य का सीधा संबंध, विजयनगरम् की सभा के साथ प्रारम्भ हुआ। आधुनिक तेलुगु रंगमंच के अत्यन्त सफल अभिनेता स्व. श्रीहरि प्रसादराव ने जिन्हें कि तेलुगु रंगमंच का पिता कहा जाता है, गुंटूर की "फर्स्ट ड्रेमेटिक कंपनी" स्थापित करके, नाटक कला की बड़ी सेवा की थी। वह तेलुगु रंगमंच के उन्नयन तथा विकास का ज़माना था। सफल अभिनेताओं की आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए, स्व. डी. कृष्णमाचारी जैसे उत्तम नाटककार भी बाहर आये थे। कृष्णमाचारी ने एक के बाद एक "चित्रनलीयमु", "विषाद सारंगधर", "प्रह्लाद नाटकमु" आदि कृतियाँ रच डालीं, जिन्होंने नाटक-जगत में युगान्तर कर दिया था। अनुपम काव्य सौन्दर्य, भाव गांभीर्य, पूर्ण कलात्मकता, सुरुचिपूर्ण हास्य के हलके छींटे, भाषा की स्वच्छ, स्फीत प्रांजल-धारा आदि उत्तम गुणों से युक्त इन रचनाओं ने साहित्य-जगत में धूम मचा दी। इन नाटकों के लेखक को आन्ध्र-नाटक-पितामह के अमर पद पर बिठाया गया। श्री हरिप्रसादराव में छिपे हुए कलाकार ने उन अमूल्य कृतियों को परख लिया। उन्होंने आशातीत सफलता के साथ उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित किया।

एक बार स्वयं लेखक अर्थात् श्री कृष्णमाचारी "राजा नल" की भूमिका में श्री प्रसादराव का अभिनय देख कर इतने मुग्ध व गद्गद् हो उठे थे कि थियेटर में खड़े हो कर आनन्द के आँसू गिराते हुए बोले आज मेरी नाटक-रचना सफल हुई। मैं धन्य हो गया हूँ। और यह सारा श्रेय 'नटराज' श्री हरिप्रसादराव को है।

श्री हरिप्रसादराव जन्मजात कलाकार थे। राजाओं की-सी गंभीर और प्रभावशाली आकृति, सामाजिकों पर जादू डालने वाली मीठी वाणी, उत्तम संवाद पटुता, लोगों को चकित बनाने वाली मौलिकता व प्रत्युत्पन्नमतित्व। प्रधान नायिका की भूमिका में स्व. श्री कोपल्ले हनुमंतराव को ले कर, जब वे रंगमंच पर जाते थे, दर्शकमण्डली अपना अहोभाग्य मानती थी। चारों ओर से साधुवाद की बौछार होने लगती। श्री प्रसादराव को स्टेज पर देखने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले एकाध बूढ़े कला-मर्मज्ञों का कहना है कि आज तक प्रसादराव जैसा अभिनय उनके देखने नहीं आया। श्री प्रसादराव ने सन् १९०५ में अपनी मण्डली के साथ मद्रास में कई नाटक खेले थे, जिनकी प्रशंसा से मद्रास के प्रमुख दैनिक "हिन्दू" के पन्ने भरे पड़े हैं। श्री प्रसादराव के बाद तेलुगु रंगमंच के प्रतिष्ठित कतिपय कलाकारों के नाम इस प्रकार हैं—स्व० श्री बल्लारि राघव, नेल्लूर के श्रीनिवासन तथा नगराजराव। ब्रह्मजोस्युल सुब्बाराव, यडवल्लि सूर्यनारायण, कपिलवायि रामनाथशास्त्री, पिल्ललमर्रि सुन्दररामय्या, संजीवराव, निडुमुक्कल सुब्बाराव, वेल्लम कोण्डा सुब्बाराव, डी. वी. सुब्बाराव, माधवपेद्दी वेंकटरामय्या, अद्दंकि श्रीराममूर्ति तथा पद्मश्री स्थानम् नरसिंहराव।

यह हुई अभिनेताओं की बात।

इसी प्रकार रंगमंच के एक प्रधान स्तंभ नाटक-रचना में भी आन्ध्र ने हरिप्रसादोत्तर युग में काफ़ी प्रगति की है। उस समय के सफल नाटककारों में सर्वश्री पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहम् पन्तुलु, कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् पन्तुलु, वेदं वेंकटरायशास्त्री, वड्डादि सुब्बारायुडु, बलिजेपल्लि लक्ष्मीकान्त कवि, तिरुपति वेंकटकवुलु, चिलकमूर्ति, डी. गोपालाचारी, के. बाल सरस्वती, श्रीपादकृष्णमूर्ति, के. नारायण राव, मल्लादि अच्युतराम शास्त्री आदि ने अपनी सुन्दर कृतियों से तेलुगु रंगमंच की श्रीवृद्धि की है। कालिदास के शाकुन्तल-नाटक के रूपान्तर, प्रतापरुद्रीयमु, राधाकृष्ण, सत्य हरिश्चन्द्रीयमु, पाण्डव उद्योग विजयमुलु, गयोपाख्यानमु, रामदास, भक्त तुकाराम, वर-विक्रयमु, बोब्बिलियुद्धमु, सक्कुबायि, वेणी संहारमु, तुलाभारमु इत्यादि नाटक आज भी

नाटक प्रेमियों को बरबस आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें से कुछ पौराणिक नाटक हैं तो कुछ ऐतिहासिक, और अन्य, सामाजिक समस्याओं पर आधारित। इन नाटकों में पद्यों (छन्दों) की भरमार रहती थी। ये पद्य कई रागों में गाये जाते थे, जिससे कि आजकल का दर्शक शीघ्र ही ऊब उठता है। संभवतः इसके लिए उत्तरदायी प्राचीन यक्षगान-परम्परा की शिथिल स्मृतियाँ और आन्ध्रों का संगीत प्रेम है। यह भी हो सकता है कि फारसी या मराठी "थियेट्रिकल" कंपनियों से वे प्रभावित रहे हों। साँप के काट खाने पर हरिश्चन्द्र के पुत्र मरणासन्न रोहिताश्व को विभिन्न रागों में अपनी वेदना व्यक्त करते हुए देख कर आज का दर्शक बरदाश्त न कर सकेगा। इसी प्रकार युद्ध भूमि में खड़े हो कर अर्जुन और कर्ण का एक दूसरे की भर्त्सना व अवज्ञा लम्बे-लम्बे समासों वाले संगीतमय पद्यों में बड़े धैर्य के साथ करते रहना भी कम अस्वाभाविक और उपहासास्पद नहीं होगा। औचित्य से कोसों दूर, निरर्थक संगीत के साथ-साथ लंबे स्वगत-भाषण भी, नाटक को बोझिल बनाते थे। उसकी गति और दर्शकों की उत्कंठा पर पानी फिर जाता था। नाटक-रचना सम्बन्धी यह प्रणाली बीस वर्ष तक अविच्छिन्न चली आयी। सन् १९४० के आसपास जा कर गद्य-नाटकों का महत्त्व लोग समझने लगे। पढ़े-लिखे समाज में उन्हें समादर मिलने लगा। साथ ही रंगमंचीय दृष्टिकोण तथा प्रसाधन संबंधी मान्यताओं में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। प्रारंभिक दशा के रंगबिरंगे परदों का स्थान दृश्य लेने लगे। नाटक प्रदर्शन में अधिक वास्तविकता तथा सजीवता पैदा करने की ओर कलाकारों का ध्यान गया। पुराने सात या पाँच अंकों वाले नाटकों को हटा कर, तीन अंक वाले अथवा एकांकी विकसित होने लगे। पश्चिमी नाटक साहित्य का पठन-पाठन, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों का वातावरण, समाज की बदलती हुई समस्याएँ तथा मान्यताएँ इन सबने मिल कर नाटक रचना मे आमूल परिवर्तन कर दिया। मनोवैज्ञानिक, समस्या-मूलक, रूपात्मक तथा बुद्धि प्रधान विषयों पर नाटक लिखे जाने लगे। साहित्यिकता से बढ़ कर नाटक की अभिनेयता को मान्यता मिलने लगी। साथ ही रेडियो ने इस क्षेत्र में भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। रेडियो नाटकों की एक सर्वथा अलग तकनीक चल पड़ी। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की तरह रंगमंच की दिशा में भी नित्य नूतन प्रयोग होने लगे। रंगमंच आज सभी दृष्टियों से जन-जीवन का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

आजकल के नवीनतम विचारों के प्रतिनिधि लेखकों में सर्वश्री विश्वनाथ सत्यनारायण, आचार्य आत्रेय, के. गोपालराव, जस्टिस राजमन्नार,

डी. वी. कृष्ण शास्त्री, एस. रामराव, एन. नरसिंह शास्त्री, आचार्य शिवशंकर-स्वामी, एन. वेंकटेश्वरराव, भमिडिपाटि कामेश्वरराव (सफल हास्य नाटककार), वी. वी. सोमयाजुलु, सी. नारायण रेड्डी आदि कितने ही लोग अपनी सुन्दर रचनाओं द्वारा तेलुगु साहित्य का भण्डार भर रहे हैं।

इस प्रसंग में कतिपय साहित्यिक एवं कला सम्बन्धी प्रतिनिधि संस्थाओं का स्मरण करना आवश्यक हो जाता है। आन्ध्र नाटक कला परिषद् एलूर, आन्ध्र संसद् गुण्टूर, आदि संस्थाएँ नाटक कला की श्रीवृद्धि में बराबर योगदान देती आ रही हैं। और इधर आन्ध्र प्रदेश में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हुई जो कि तेलुगु रंगमंच की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील है।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब बात रह जाती है नाट्यशालाओं या थियेटरों की। ढाई-तीन शताब्दी पूर्व तंजाऊरु में नायक राजाओं ने अपने-अपने राजमहलों में 'संगीत महल' के नाम से एक सुन्दर भवन निर्मित किया था जो कि आज भी अपने निर्माताओं की कलाप्रियता, वास्तु तथा ध्वनि-प्रयोग सम्बन्धी प्रतिभा का परिचय कराता है। उसमें गायन आदि कार्यक्रमों के साथ-साथ यक्षगान प्रदर्शन भी होते थे। नाटक महल, तथा संगीत महल के इन पक्के भवनों के अतिरिक्त खुले मैदान में भी वीथी नाटक या 'वीथी भागवत' के प्रदर्शन होते थे। उस लोकमंच का परिचय ऊपर दिया जा चुका है।

इधर हाल ही में, आन्ध्र प्रदेश के प्रसिद्ध बौद्ध-यात्रास्थल नागार्जुन-कोण्डा में जो खुदाई पुरातत्व विभाग की ओर से हुई, उसमें अन्यान्य विस्मय-जनक तथ्यों तथा खण्डहरों के साथ-साथ उस ज़माने के, अर्थात् आज से १८०० वर्ष पूर्व के रंगमंच पर प्रकाश डालने वाला एक अद्भुत निर्माण बाहर आया है। वह उस युग का एक खुला रंगमंच है। आजकल का स्टेडियम जैसा उसका नमूना है। बीच में एक विशाल रंममंच है, जिसके चारों ओर सीढ़ीनुमा आसन-पंक्तियाँ आजकल की गैलरी जैसी ४०-५० फ़ीट ऊँचाई तक ऊपर को चली गयी हैं। उन पर सैकड़ों दर्शक सुविधापूर्वक बैठ सकते थे। किन्तु सबसे आश्चर्यजनक, तथा आज के ध्वनि-विशेषज्ञों को चक्कर में डालने वाली बात यह है कि, उन आसन-पंक्तियों में सबसे निचली पंक्ति में रंगमंच के बिलकुल निकट बैठा हुआ व्यक्ति, मंच पर खड़े हो कर बोलने वाले आदमी की आवाज़ जितनी स्पष्टता से सुन लेता है, उतनी ही सुगमता और स्पष्टता

के साथ, सब से ऊँची क़तार में, सबसे दूर बैठा हुआ दर्शक भी सुन पाता है। पुरातत्व का यह प्रबल एवं अकाट्य प्रमाण इस विषय का साक्षी है कि आन्ध्र में नाटक कला और रंगमंच का पूर्ण विकास आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ही हो चुका था! जहाँ ऐसे सुन्दर व व्यवस्थित रंगमंच का निर्माण इतने वर्ष पूर्व हुआ हो, वहाँ उतने ही विकसित व परिष्कृत रूप में नाटक और नाटक मण्डलियाँ अवश्य रही होंगी। इसमें शंका करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती।

यह तो हुई सैकड़ों वर्ष पूर्व की बात! और इधर बीसवीं शती में भी, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शताब्दी-समारोह के परिणाम स्वरूप देश के अन्यान्य प्रान्तों की तरह आन्ध्र में भी आधुनिक ढंग के नाट्य गृह बनने लगे हैं। हैदराबाद नगर का विशाल और सर्वांगसुन्दर नाट्य-गृह रवीन्द्र-भारती का आविर्भाव आन्ध्र रंगमंच के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है। इसके निर्माण का श्रेय डा. बी. गोपालरेड्डी को है। आज हम देख रहे हैं कि प्रायः प्रतिदिन वहाँ कोई न कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम बराबर चलता रहता है और उसका पूरा-पूरा उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार कई वर्षों पुरानी कठिन समस्या का, आदर्श नाटक-गृहों के अभाव का, हल होने लगा है। इस प्रकार दूसरे प्रादेशिक रंगमंचों के साथ-साथ तेलुगु रंगमंच भी विकास की ओर बढ़ता जा रहा है और उसके आगे भविष्य स्पष्ट गोचर हो रहा है।

आन्ध्र शतक वाङ्मय

मु. भ. इ. शर्मा 'ईश'

सातवाहनों की राजभाषा प्राकृत थी; प्रसिद्ध आन्ध्र राजा 'हाल' की 'सप्तशती' के आधार पर कुछ भाषा-शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आन्ध्र राजाओं की भाषा प्राकृत थी। 'कवित्ववेदी' का कहना है कि आन्ध्रों की आदिम भाषा पैशाचिक प्राकृत रही होगी। जो कुछ भी हो, ईस्वी सन् की आठवीं सदी तक तेलुगु में प्राकृत शब्दों की संख्या अधिक हो गयी। इसलिए वह गीर्वाण-वाणी की पुत्री बनी। पंडितगण तत्सम शब्दों से पूर्ण भाषा को 'आन्ध्र' तथा देशज शब्दों से युक्त भाषा को 'तेलुगु' कहने लगे।

सातवाहनों के पश्चात् आन्ध्र साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। छोटे-छोटे भूभाग पर अनेक राजा राज्य करने लगे। ये राजा किसी न किसी रूप में अंग्रेज़ों के भारत में प्रवेश होने तक राज्य करते रहे। उन राज-वंशों में पल्लव, राष्ट्रकूट, चोल, चालुक्य, काकतीय, रेड्डी, नायक, रायलवंश मुख्य हैं। वैदिक काल से ले कर पुराणों की रचना तक तथा पौराणिक काल से ले कर दसवीं शती तक संस्कृत वाङमय में हमें अनेक प्रकार के स्तोत्र मिलते हैं। इन स्तोत्रों तथा विविध प्रकार के मंत्रों के जप तथा पाठ की संख्या शत, सहस्र अथवा लक्ष निर्धारित की गयी। शिशुपाल के वध के प्रसंग में श्रीकृष्ण शिशुपाल के दुष्कर्मों और दुर्नीति के विषय में कहते हैं कि इसकी माता की प्रार्थना के अनुसार मैंने इसके शत अपराधों को क्षमा कर दिया है[१]। शतरुद्रीय आदि शब्द वेदों में पाये जाते हैं। संस्कृत-वाङमय का यही संख्या-नियम शतक वाङमय का आधार बना। लेकिन संस्कृत में शतक-रचना की ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया। केवल भर्तृहरि का 'शतक-

---

१. "शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने।"
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४५—श्लोक २३)

त्रय', 'अमरुशतक', 'मूकपंचाशती', कुट्टिकवि का 'महिषशतक' आदि ही प्राचीन संस्कृत वाङमय में उपलब्ध होते हैं।

प्राकृत-रचनाओं के आधार पर अनेक शतकों की रचना हुई। प्राकृत-भाषा के शतकों में जो नाम-दशक, अवतार-दशक आदि दशकों के विभाग तथा भावों के परिवर्तन पाये जाते हैं उन्हें आन्ध्र-शतकों में भी देखे जा सकते हैं। स्व. पंडित वंगूरी सुब्बाराव पंतुलु ने अपने शतक कवियों के चरित्र में सूचित किया है कि प्राकृत भाषा में 'अवदान शतक', 'कर्म शतक', 'दिव्याव-दान शतक' आदि पन्द्रह शतक हैं जो बौद्ध तथा जैन धर्मों के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। कुछ आलोचकों का विश्वास है कि बौद्ध तथा जैन वाङमय प्राकृत में उपलब्ध हैं, उसमें शतक भी मिलते हैं। शतकों की यह परम्परा शैवों ने आन्ध्र में प्रारम्भ की। इसलिए आन्ध्र-वाङमय के प्रारंभिक शतक शैव-धर्म को प्रतिपादित करने वाले हैं। पहले इन शतकों का लक्ष्य भक्ति था; परन्तु कालक्रम से उनकी वस्तु श्रृंगार, नीति तथा दर्शन प्रधान बन गयी। शतक-रचना के द्वारा कवि अपने इष्टदेव को संतुष्ट करके कार्य-सिद्धि प्राप्त करते थे। सातवीं सदी ईस्वी के मयूर कवि ने 'सूर्यशतक' की रचना करके कुष्ठ से मुक्ति पायी थी। १८ वीं सदी के गोगुलपाटि कूर्मनाथ कवि ने 'सिंहाद्रिनारसिंह शतक' की रचना करके आश्रयदाता के शत्रुओं को भगाया था। इस शतक के द्वारा कवि ने सिंहाचल क्षेत्र के गौरव तथा अपनी कविता की सार्थकता प्रकट की थी।

किसी उत्कृष्ट काव्य-रचना से पहले अभ्यास के लिए या अपने जीवन में किये गये पापों के पश्चाताप के रूप में कवि जन प्रायः शतक-रचना करते थे। अपने ग्राम में प्रतिष्ठित किसी देवी-देवता की स्तुति शतक-रूप में करके कवि अपनी कविता को सार्थक करते थे। इस तरह शतक-रचना के द्वारा आत्मानन्द की अपेक्षा पुरुषार्थ प्राप्त किया जाता था। चूंकि पुरुषार्थ का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, इसलिए शतक-रचना का प्रयोजन मोक्ष-प्राप्ति था। धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करने के लिए प्रबन्ध रचना की जाती थी, लेकिन मोक्ष की प्राप्ति शतक-रचना के द्वारा हो सकती थी, ऐसा कवि-गण मानते थे। इसलिए शतकों के द्वारा भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि परमार्थों का बोध होने की संभावना होती थी और शतक-वाङमय आन्ध्र भाषा के अपूर्व आभूषण के रूप में स्वीकृत हुआ था। ये शतक पंडित, पामर, बालक और बालिकाओं के पठनीय समझे जाते हैं।

आन्ध्र वाङमय में शतक-रचना-विधान के लिए एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इसका आधार संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य है, फिर भी अपने अलग अस्तित्व के कारण इसे आन्ध्र साहित्य में अपूर्व आदर मिला। आन्ध्र शतक-रचना विधान ही एक स्वतन्त्र प्रक्रिया है।

शतक मुक्तक काव्य हैं, जो भगवान की स्तुति करने के लिए लिखे जाते हैं। साधारणतया शतक के पद्यों की संख्या सौ होती है। इसीलिए उनका यह नाम पड़ा। शतक के सभी पद्यों के अन्तिम पाद में एक ही मकुट होता है। कवि अपने शतक में भक्ति, पश्चात्ताप आदि भावों को अभिव्यक्त करता है। आन्ध्र वाङमय के जितने शतक मिलते हैं उन सब के विषय को ध्यान से देखने पर दृष्टिगोचर होता है कि कतिपय शतक नीति का प्रतिपादन करते हैं तो कुछ शतक कथाओं से सम्बन्धित हैं। इस वाङमय के अन्तर्गत एक हज़ार शतकों का पता अब तक चला है लेकिन प्रकाश में आये हुए शतकों की संख्या केवल ६०० तक ही सीमित है। इन सब शतकों को पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, नीति, भक्ति, व्याजस्तुति, तत्व और सामाजिक। यह विभाजन कथ्य वस्तु के आधार पर किया गया है। पुनः हर एक शतक की कथा-वस्तु को दृष्टि में रख कर उसका विभाजन सात भागों में कर सकते हैं :—

"(१) आदि दशक (२) अवतार दशक (३) दिव्य रूप दशक (४) नाम दशक (५) कृष्णावतार दशक (६) ज्ञान विंशति तथा (७) मोक्ष विंशति। इस प्रकार शतक का विभाजन करने का आशय यह है कि इस काव्य का प्रारम्भ भगवान के अवतारों के वर्णन से प्रारम्भ होता है और उसका अन्त मोक्ष-प्राप्ति की अपेक्षा के साथ किया जाता है[1]।"

किसी भी शतक के लिए 'मुकुट' का होना अनिवार्य है जिसका आधार 'यति' और 'प्रास' है। सभी पद्यों का 'मुकुट' एक ही होने के कारण शतक के सभी पद्य एक छन्द में लिखे जाते हैं। अब तक प्रकाशित शतकों के छन्द-विधान को देखने पर विदित होता है कि कि नीतिशतक 'कंद' छन्द में, भक्ति-शतक संस्कृत-वृत्तों में और शृंगार-हास्य-शतक 'सीस' छन्द में लिखे गये हैं।

प्राप्त शतकों में शृंगार और भक्ति शतक ही सब से अधिक हैं। इसका कारण यह है कि नव विध भक्तियों में शृंगार का भी स्थान है;

---

१. स्व. काशीनाथुनि नागेश्वरराव पंतलु की पीढ़ी का 'शतक कवुल चरित्रमु'

शेष शतकों में से कुछ 'वेमना', 'आत्मलिंग,' 'अप्पालयोगी' आदि के शतक हैं जो दार्शनिक सिद्धान्तों से ओतप्रोत हैं। संन्यासियों में इनका अधिक प्रचार है, क्योंकि अद्वैत-मत का प्रचार करने में ये अति समर्थ होते हैं। बचे हुए शतक नीति तथा हास्य से सम्बन्धित हैं। नीतिशतकों में 'राजनीति,' 'सेवकनीति', 'लोकनीति' और 'बालक-बालिका नीति' से संबंधित पद्य रहते हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण देना उचित होगा।

राजनीति :— "मंत्रियुक्त राज्य
तंत्र से भला बनता।
मंत्री न हो तो 'सुमति'।
कीलहीन यंत्र न चलता[1] ॥"

लोक नीति :— "जड का कीट नाशक वृक्ष का
घुन का कीट भी नाशक उसका।
कुजन करता नाश सज्जन का
विश्वदाभिराम सुन रे 'वेमा'[2] ॥"

बालक-बालिका नीति :— "बुरा हो यदि पुत्र तो
दोष लगता पिता पर।
माता-पिता की कीर्ति को
बचा देता है 'कुमार'[3] ॥"

इन शतकों में से कुछ शतक संस्कृत के अनुसरण पर लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए 'बद्देना' के 'सुमति शतक' को ले सकते हैं। कहा जाता है कि वह काकतीय प्रभु प्रताप रुद्र के संस्कृत 'नीतिसार' का अनुकरण है।

संस्कृत-भाषा में जो शतक-रचना हुई वह श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव के लिए थी; लेकिन इसके विपरीत आन्ध्र की शतक-रचना भक्ति-भाव से ओतप्रोत है। कुछ संस्कृत शतकों का अनुवाद आन्ध्र कवियों ने अपनी भाषा में किया है। भर्तृहरि के शतक-त्रय का अनुवाद तेलुगु में करने वाले कवि एनुगु लक्ष्मण कवि, पुष्पगिरि तिम्मन्ना, एलकूचि बालसरस्वती आदि थे। लेकिन लक्ष्मण कवि के अनुवाद का ही अधिक प्रचलन है[4]।

---

१. लेखक की पुस्तक 'सुमति शती' से उद्धृत। २. लेखक की पुस्तक 'वेमन शती' से उद्धृत। ३. लेखक की पुस्तक 'कुमार शती' से उद्धृत। ४. "तेलुगु का शतक साहित्य"—श्री पि. विजयराघव रेड्डी जी का निबन्ध ("दक्षिण भारत"—जुलाई, १९५९ में प्रकाशित)।

'अमरु शतक' का अनुवाद अभी हाल ही में गुंटूर के क्रिश्चियन आर्ट्स कालेज में संस्कृत-तेलुगु के अध्यापक श्री अक्कीराजु वेंकटेश्वर शर्मा जी ने और 'मूक पंचाशती' का अनुवाद तेलंगाना के प्रख्यात कवि पंडित मुदिगोंड वीर भद्रमूर्ति जी ने बहुत सफलता से किया है। 'नृसिंह शतक', 'रामकर्णामृत', 'कृष्णकर्णामृत', 'मुकुंदमाला', 'महिष शतक', 'सूर्य शतक' आदि काव्यों का भी आन्ध्र में अनुवाद होने के कारण आन्ध्र शतक वाङमय की वृद्धि हुई है।

संतोष का विषय है कि कुछ आन्ध्र कवियों ने गीर्वाण-वाणी में शतक रचना की। आन्ध्र के प्रसिद्ध पंडित, बहुभाषा कोविद, 'हरिकथा-पितामह' स्व. आदिभट्ट नारायणदास जी ने 'काशी शतक' की रचना सन् १९१४ ई. में की थी जिसमें काशी का वर्णन बड़ी निपुणता से किया गया गया है। कहीं-कहीं हास्य के छींटे स्व. भारतेंदु हरिश्चन्द्र के काशी वर्णन का स्मरण कराते हैं। अभी थोड़े ही महीने हुए, कृष्णा ज़िले के चिट्टि गूडूर की श्री नरसिंह संस्कृत पाठशाला के संस्थापक तथा प्रधान आचार्य श्री एस. टि. जि. वरदाचार्युलु एम. ए. तेलुगु के सात प्रसिद्ध तथा प्रचलित शतकों का अनुवाद संस्कृत में किया है और उन सब को 'आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी' ने प्रकाशित करके आन्ध्रेतर संस्कृत-पण्डितों के लिए आन्ध्र शतक वाङमय सुलभ कर दिया है। वे हैं—(i) दाशरथी शतक, (ii) श्री काल हस्तीश्वर शतक, (iii) श्री कृष्ण शतक, (iv) श्री नारसिंह शतक, (v) सुमति शतक, (vi) भास्कर शतक और (vii) वेमना शतक।

आन्ध्र शतक वाङमय का परिचय आन्ध्रेतर भाषा-भाषिओं को विशेषतः उत्तर भारत के विद्वानों और विद्यार्थियों को कराने के उद्देश्य से इन पंक्तियों के लेखक ने 'सुमति शतक', 'कुमार शतक' तथा 'वेमना शतक' का अनुवाद हिन्दी पद्यों में किया है। सुमति शतक तथा कुमार शतक सन् १९५९ ई. में छप चुके हैं।

आन्ध्र साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन कई तरह से किया गया है। किसी लेखक ने कवि को प्रधानता दे कर काल-विभाजन किया है तो किसी ने कवि के आश्रयदाता राजा को प्राधान्य देकर। कुछ विद्वानों ने विचार-धारा के अनुसार भी काल विभाजन किया है। इन तीनों पद्धतियों में तीसरी पद्धति ही मेरी दृष्टि में ठीक मालूम होती है। उसके अनुसार आन्ध्र-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इस तरह कर सकते हैं :—

(i) अज्ञात-युग (सन् २८ ई. पू. से ले कर सन् १००० ई. तक)
(ii) पुराण-युग (सन् १००१ ई. से ले कर सन् १३८० तक)
(iii) काव्य-प्रबन्ध-युग (सन् १३८१ ई. से ले कर सन् १६५० तक)
(iv) शतक-गेय-युग (सन् १६५१ ई. से ले कर सन् १८७५ ई. तक)
(v) आधुनिक युग (सन् १८७६ ई. से ....)

यह विभाजन सम्बन्धित काल की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है, इसलिए यह न समझना चाहिए कि किसी एक विशेष काल में दूसरी तरह की रचना की ही नहीं गयी[1]।"

यद्यपि उपर्युक्त काल-विभाजन के अनुसार शतक-रचना का काल ईस्वी सन् की १७ वीं सदी से ठहरता है, फिर भी आन्ध्र वाङमय में शतकों की रचना का प्रारम्भ ईसा की १२ वीं सदी से ही पाया जाता है। तब से ले कर आज तक शतकों की परम्परा चलती आ रही है। दक्षिण की दूसरी द्राविड भाषाओं की अपेक्षा आन्ध्र वाङमय में ही शतकों की संख्या अधिक है।

आज तक तेलुगु शतकों में से ६०० शतक ही प्राप्त हुए हैं। इनके अन्तः साक्ष्य तथा कवि जीवनियों के बहिःसाक्ष्य के आधार पर शतकों का विकास निम्न प्रकार है।

सब शतकों में पाल्कुरिकि सोमनाथ (१२वीं सदी) का 'वृषाधिशतक' प्राचीन है। इसमें तेलुगु मुहावरों के साथ आन्ध्र प्रजा की शिवभक्ति के स्वभाव का परिचय मिलता है। यथावाक्कुल अन्नमय्या (१३वीं सदी) का 'सर्वेश्वर शतक' भी इसी कोटि का है जो बाद में आने वाले शतक-कवियों के लिए आदर्श बन गया। चौदहवीं सदी में राविपाटि त्रिपुरांतक ने 'अंबिका-शतक' की रचना की। शतक के नाम से ही स्पष्ट होता है कि यह रचना भी शैव-संप्रदाय से संबंधित है। १२वीं और १५वीं सदियों के बीच में जो शतक लिखे गये उनमें 'सुमति शतक' और 'भास्कर शतक' अत्यन्त मुख्य हैं।

"'सुमति शतक' नीति की निधि है। इसके पद्य अकारादि क्रम से रखे गये हैं। इसकी भाषा व शैली मृदु मधुर है। इसमें लोकानुभव, बंधु-मित्र, राजा, मंत्री, रसिक जन आदि के संबंध में बहुत-सी बातें कही गयी हैं। इस शतक को छोटे और बड़े सभी लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसका पठन-पाठन

---

१. "आन्ध्र वाङमय की एक झाँकी"—१९५९ मार्च के "दक्षिण भारत" में प्रकाशित मेरा निबन्ध।

आन्ध्र-प्रान्त में क़रीब ६०० सौ वर्ष से होता आ रहा है। इस शतक कर्ता के और उसके काल के संबंध में इतने मतभेद हैं कि अब तक निश्चित रूप से कोई पंडित नहीं कह सकता कि इसके लेखक कौन थे। इस ओर अब तक जो शोध-कार्य हुआ उसका फल यह निकला कि सुमति शतक के कवि बद्देभूपति (बद्देना) थे जो ईसा की १२वीं शताब्दी में विद्यमान थे[1]।"

'भास्कर शतक' के कर्ता के नाम, धाम और काल के संबंध में अनक मतभेद हैं। आन्ध्र-शतक-वाङमय के विषय में विशेष श्रद्धा रख कर अपने अथक शोध-कार्य के द्वारा 'वेमना' आदि के शतकों को प्रकाश में लाने वाले प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् श्री सी. पी. ब्राउन ने मारन वेंकय्या को इस शतक का कर्ता माना जो संभवतः १५वीं सदी में वर्तमान थे। स्व० श्री वंगूरि सुब्बाराव पंतुलु जी ने इस कवि का नाम जनश्रुतियों के आधार पर मारव कवि माना। चाहे जो हो, इस शतक का प्रचार प्राचीन काल से होता आ रहा है। भर्तृहरि के नीतिशतक की भाँति भास्कर शतक भी सुभाषितों की खान है।

१६वीं सदी में वैष्णवमत का अधिक प्रचार हो रहा था; उस धर्म के प्रचार के लिए जो शतक लिखे गये वे अगणित हैं। भक्ति-शतकों के अतिरिक्त हास्य और निन्दा शतकों की प्रधानता भी इस शताब्दी के अन्तिम पाद में तथा १७वीं सदी के प्रथम पाद में पायी जाती है। इन शताब्दियों में लिखे गये 'रघुवीर शतक', 'देवकीनंदन शतक' 'मरुन्नंदन शतक', 'बालगोपाल शतक' आदि वैष्णव-मत-प्रचार से संबंधित हैं; 'वेणुगोपाल शतक', 'चन्द्रशेखर शतक', 'कुक्कुटेश्वरशतक', 'रामलिंग शतक' और 'कविचौडप्प शतक' निन्दा और हास्य प्रधान हैं, जो उसी काल के थे। शतक-रचना-विधान में पराकाष्ठा को प्राप्त शतक महाकवि धूर्जटि का 'श्रीकाल हस्तीश्वर शतक' है जिसमें भक्ति मूर्तिवंत हो गयी है। यौवन में किये गये दोषों के लिए पश्चिमे-वयसि अपने इष्टदेव से क्षमा-याचना किये जाने वाले शतकों के लिए यह उत्तम उदाहरण है। इसका एक पद सुनिए :—

"कायल्गासे वधूनखाग्रमुलचे गायंबु, वक्षोजमुल
रायन् रापडे रोम्मु, मन्मथ विहार क्लेश विभ्रांतिचे
बायंवायेनु बट्ट कट्टेदल, चेप्पन् रोत, संसारमे
जेयंजाल, विरक्तु जेयगदवे, श्रीकाल हस्तीश्वरा ॥"

---

१. लेखक की पुस्तक 'सुमतिशती' से उद्धृत (दे. परिचय)

"हे श्री कालहस्तीश्वर, वधू नखाग्रों से मेरा शरीर घायल हुआ है, वक्षोजों के रगड़ने से मेरी छाती घिस गयी है; कामदेव की क्रीडाओं से भ्रांति में अपने जीवन का दुरुपयोग करता रहा; अपनी दशा कह नहीं सकता। गृहस्थ-जीवन अब नहीं बिताया जाता। (इन सांसारिक प्रलोभनों से) मुझे विरक्त बनाओ न[१] ?"

१७ वीं सदी में शतक-रचना की अत्यन्त वृद्धि हुई। कूचिमंचि तिम्म-कवि का 'कुक्कुटेश्वर शतक', कासुल पुरुषोत्तम कवि का 'आन्ध्रनायक शतक', भद्राद्रि के 'भक्त रामदास'-कंचर्ल गोपन्ना-का 'दाशरथी शतक', अडिदमु सूर-कवि का 'रामलिंगेश शतक' आदि इस शताब्दी के भक्ति शतक हैं। भर्तृहरि के सुभाषितों का तेलुगु में अनुवाद करने वाले एलकूचि बालसरस्वती आदि कवि भी इसी युग में उत्पन्न हुए। भक्तिशतकों में ये दोनों शतक—श्रीकाल-हस्तीश्वर शतक और दाशरथी शतक श्रेष्ठ हैं। 'दाशरथी शतक', 'दाशरथी करुणापयोनिधि' के मुकुट से सुशोभित हैं। कवि ने आत्मवेदना को इस शतक-रचना में उँडेल दिया है। इसमें ज्ञान और वैराग्य की धाराएँ भक्ति-धारा में मिलती हैं। इस शतक को 'भावगीत' कहें तो अत्युक्ति नहीं है। उदाहरण के लिए एक पद्य की ओर आपकी दृष्टि को आकर्षित कराना चाहता हूँ—

"मुप्पुन काल किंकरुलु मुंगिट वच्चिनवेल रोगमुल
देप्परमैनचो गफमु कुत्तुक निंडिनवेल बाँधवु
ल्दप्पिन वेल मीस्मरण गल्गुनो गल्गदो नाटिकिप्पुडे
तप्पक जेतु मी भजन दाशरथी करुणादयोनिधी ॥"

"हे दाशरथे, करुणा के वारिधे, जब मृत्यु आसन्न होगी, यम-भट आ धमकेंगे, रोगों का सन्निपात होगा, कफ गले में अटकेगा और भाई-बंधु आशा छोड़ कर चले जाएँगे, मालूम नहीं तब तुम्हारा स्मरण होगा या नहीं; इसलिए, अभी से नियम के अनुसार तुम्हारा भजन करूँगा।"

क्या यह पद्य कुलशेखर आल्वार की 'मुकुंदमाला' के निम्नांकित श्लोक की ओर हमारे ध्यान को आकर्षित नहीं करता ?

"कृष्ण त्वदीय पदपंकज पंजरांतम्
अद्यैव मे विशतु मानसराज हंसः।
प्राण-प्रयाण समये कफवात पित्तैः
कंठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते ?"

१. श्री पी. विजयराघवरेड्डी जी के निबन्ध के आधार पर।

पेद्दापुर संस्थान के अधीश्वर श्री बलभद्र जगपतिराजू तथा रामजगपति राजू केवल राजा ही नहीं थे, कवीश्वर भी थे। उन्होंने क्रम से 'राम' और 'भद्राद्रिराम' शतकों की रचना की थी। ताल्लपाक अन्नमाचार्य आदि भक्तवरों के शतक भी इसी काल में रचे गये।

१८वीं सदी में मदिना सुभद्रय्यम्मा नामक कवयित्री ने पाँच या छह शतकों की, मंडपाक पार्वतीश्वर शास्त्री ने ३४ शतकों की और अमला पुरपु संन्यासी नामक एक कुम्हार ने एक सौ शतकों की रचना की थी।

पं. सुब्बाराव पंतुलु का कथन है कि १९वीं सदी में हज़ारों शतकों की रचना हुई थी। उनमें तीन सौ शतकों की पांडुलिपियाँ मिल चुकी हैं और तीन सौ शतक छप गये हैं। इस शताब्दी के शतक-कर्ताओं में प्रमुख व्यक्ति योगी वेमना थे जिन्होंने 'विश्वदाभिराम विनुर वेमा' मुकुट से 'आटवेळदि' छन्द में हज़ारों पद्य लिखे।

वेमना के जीवन-काल के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। श्री सी. पी. ब्राउन महाशय ने वेमना को ईसा की १७वीं सदी का बताया है। 'शतक-वाङमय-सर्वस्व' भी ऐसा ही मानता है। श्री कैंपबेल ने वेमना को १६वीं सदी में रखा है। पं. सुब्बाराव पंतुलु आदि आलोचकों ने वेमना का काल १५वीं सदी स्थिर किया है[1]। 'कवित्व वेदी' ने वेमना के समय को १७वीं सदी माना है। विज्ञान सर्वस्वकारों ने उन्हें १९वीं सदी का बताया है[2]। सबसे अर्वाचीन शोध होने के कारण मैंने इस पुस्तक के आधार पर वेमना को अपने युग के समीपवर्ती काल में ठहराया है।

अपने पद्यों में वेमना ने अपने समय के दुराचारों का खंडन किया है, अंधविश्वासों की हँसी उड़ायी है और गुरुघंटालों पर तीखे व्यंग्य कसे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं, फिर भी उनकी कविता दार्शनिक है और कठिन से कठिन दार्शनिक सिद्धान्तों को उन्होंने अपने छोटे-छोटे पद्यों के द्वारा व्यक्त किया है। इनके पद्यों की भाषा सुलभ, मुहावरेदार, प्रवाहयुक्त और हृदय पर चोट करने वाली है। साथ ही मनोहर भी। वेमना की तुलना हम हिन्दी के कबीरदास से करते हैं।

---

१. दे० "आन्ध्र-कवि-सप्तशती"—ले० बुलुसु वेंकटरमणय्या, पृ. २६१

२. दे० "विज्ञान सर्वस्व" Vol–VI (विश्वसाहिति)–तेलुगु सारस्वत चरित्र (पृ. ३८२), प्रकाशक :–तेलुगु भाषा समिति।

"वेमना के पद्यों की शैली इतनी सुलभ है कि तेलुगु बोलने या समझने वाला छोटा बालक भी उनके पद्यों का भाव बिना किसी की सहायता के समझ जाता है। कम शब्दों में गंभीर भाव को भर देना वेमना की विशेषता है। वेमना के पद्यों को प्रमुख स्थान मिलने का कारण उनकी सूक्ष्म दृष्टि है। उन्होंने समय-समय पर जो पद्य कहे, उनकी संख्या ५००० से अधिक होगी, लेकिन आज तक केवल ३०० पद्य ही मिल सके हैं। जब जो भाव मन में आया तब उस भाव को किसी न किसी छन्द में वेमना ने व्यक्त कर दिया। अधिकांश पद्य 'आटवेलदि' छन्द में कहे गये हैं।...इस कविता का मूल तत्व जानने वाले पंडितों में प्रथम पाश्चात्य विद्वान् ब्राउन थे; उन्होंने वेमना के पद्यों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उनको प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया[1]।"

इसी शताब्दी के सैकड़ों शतक-लेखक हैं जिनमें से वड्डादि सुब्बाराय कवि (१८५४-१९३८) हैं जो 'वसुराय कवि' के नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने 'भक्त चिंतामणि', 'आर्तरक्षामणि' और 'नंदनंदन' शतकों की रचना की जिनमें से 'भक्तचिंतामणि' शतक के कुछ पद्य आन्ध्र के आबालवृद्ध अवश्य कंठस्थ करते हैं। एक उदाहरण—

"तन देशंबु स्वभाष नैजमतमात्मः प्राक्कुलाचारमुल्
तन देहात्मल नेत्तेरुंगन सदा तानट्लु भाविंचि तद्–
घनता व्याप्ति कि साधनंबुलगुसत्कार्यबुलन् सल्पगा–
ननुवौ बुद्धि योसंगु नी प्रजकु देवा भक्तचिंतामणी ॥"

हे भक्त चिंतामणे, अपने देश, भाषा, मत, आचार, देह, आत्मा आदि जैसी कहते हैं वैसा आचरण करके उनकी श्रेष्ठता की व्याप्ति के लिए तथा आवश्यक सत्कार्य करने के लिए अपनी प्रजा को सद्बुद्धि दो।)

'कुमार शतक' के कवि फक्कि अप्पल नरसु इसी सदी के थे। बालकों को नीति-बोध कराने के लिए उन्होंने इस शतक की रचना १८६० ई. में की थी। वे संस्कृत तथा आन्ध्र भाषा के बड़े पंडित थे। प्रमुख गेय कवि स्व० आदिभट्ट नारायणदास के 'काशीशतक' का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उनके अन्य शतक हैं—राम शतक, शिव शतक, मुकुंद शतक, मृत्यंजय शतक, सूर्यनारायण शतक आदि। आन्ध्र के प्रमुख कवि श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी ने 'विश्वेश्वर शतक' लिख कर शंकर की भक्ति का सांगोपांग विवेचन किया है। 'मा स्वामि' शीर्षक से यह शतक बहु प्रसिद्ध हुआ है। व्यावहारिक

१. लेखक की पुस्तक 'वेमनशती' से

भाषा में डा० गिडुगुवेंकट सीतापति जी ने 'भारती' मुकुट से एक शतक-रचना की है जो सर्वथा नवीन है।

बीसवीं सदी में अनेक आधुनिक कवियों ने सैकड़ों शतकों की रचना की है। अभी बहुत से उत्साही साहित्यिक व्यक्ति शतक रचना कर रहे हैं। मेरे मित्र 'विद्वान्' श्री यडवल्लि आदिनारायण एम. ए. ने मछलीपट्टन स्थित, शिवगंगा-क्षेत्र की अधिष्ठात्री तथा प्रस्तुत आन्ध्र शासन के स्वास्थ्य मंत्री राजा श्री यार्लगड्डु शिवरामप्रसाद की कुलदेवी शिवगंगा के स्तोत्र के रूप में सन् १९४८ ई. में 'शिवगंगा' शीर्षक से एक शतक की रचना की। इस शतक के सभी पद्यों का मुकुट एक नहीं है, इसलिए शतक एक वृत्तात्मक भी नहीं हैं; फिर भी हरेक पद्य रस से भरा हुआ और ललित पदों से समन्वित है। इस शतक के पद्यों में प्रयुक्त शब्दालंकार और इसकी शैली पोतना की भागवत के पद्यों का स्मरण कराती है। कुछ पद्य प्राचीन भारतवर्ष की प्रशस्ति तथा प्रस्तुत भारत की दीनता को सूचित करते हैं। देवी-भक्तों के लिए यह शतक बहुत प्रिय है। उदाहरण के लिए एक पद्य देखिए—

नीवे तल्लिवि नेनु बिड्डन तल्ली नन्नु लालिंतुवो
यीवे देविवि नेनु सेवकुड देवी नन्नु मन्निंतुवो
नीवे सर्वमु नेनु त्वन्मयुड वाणी नन्नु लोगोंदुवो
रावे म्रोयवे आत्म तंत्रि कडु नार्द्रंबटये सर्वेश्वरी'[1]

(हे सर्वेश्वरी, तू ही माँ है, मैं पुत्र हूँ; क्या तू मेरा लालन-पालन नहीं करेगी ? तू देवी है, मैं सेवक हूँ; क्या तू मुझे क्षमा नहीं करेगी ? तू सर्वस्व है, में तुझ में लीन हूँ; क्या तू मुझे अपने वश कर लेगी ? मेरी आत्मा की वीणा आर्द्र है, शीघ्र आ कर उसे बजा दे।)

ऊपर कहा गया है कि कुछ आन्ध्र कवियों ने संस्कृत में शतक रचना की थी। इस शताब्दी में संस्कृत भाषा में मौलिक काव्य-रचना करने वाले पंडितों में 'आर्षविद्याभूषण' श्री जटावल्लभुल पुरुषोत्तम जी, एम. ए. प्रमुख हैं जिन्होंने सन् १९५७ ई. में 'चित्रशतकम्' की रचना की। इस सतक के विषय में आन्ध्र विश्वविद्यालय के नूक्लियर फिजिक्स विभाग के अध्यक्ष डा० स्वामी ज्ञानानंद ने यह मत प्रकट किया है :—

---

1 A review broadcast from the A.I R, Vijayawada on 25 th June 1950.

"...The work deals with topics of varied interast embodying therein many ennobling and inspiring ideas. The style of the original as well as of the Telugu poetic render.ng is extremely lucid and excellent..." इस शतक के विभाग दस दशकों में किये गये हैं—(i) गीर्वाणवाणी (ii) भारत विभूति, (iii) आर्षविद्या, (iv) अस्मदुत्तमर्णः, (v) वैराग्यम्, (vi) जीवित कला, (vii) कुटुंबम्, (viii) समाज समीक्षा, (ix) ईश्वराराधानम्, (x) चित्रलोकः।

'मूक पंचाशती' का तेलुगु में अनुवाद करने वाले तेलंगाना के प्रमुख कवि श्री मुदिगोंड वीरभद्र मूर्ति जो ने एक शतक की मौलिक रचना की। वह है 'श्री गिरि मल्लिकार्जुन शतक'। इसकी शैली प्रसादयुक्त और मनोहर है। भद्राचलम् तालुका के रुद्रकोट ग्राम के निवासी श्री यामुजाल वेंकट शास्त्री जी ने बडी दीनता के साथ सन् १९६० ई. में 'चिन्मय शतक' की रचना की। पंडितों ने इस शतक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सन् १९६१ ई. में मद्रास के श्री यामिजाल पद्मनाभ स्वामी जी ने मयूर के 'सूर्य शतक' का तेलुगु में अनुवाद किया है।

अधुनातन शतक रचनाओं में देश, काल तथा समाजगत परिस्थितियों का वर्णन पाया जाता है। उन में शिष्ट हास्य का प्रयोग हुआ है। ऐसे शतकों में 'आन्ध्र ज्योति' के संपादक श्री नार्ल वेंकटेश्वरराव जी का एक शतक है जो 'वास्तवम्मु नार्लवारि माट' (नार्ल जी की बात सच्ची है) के मुकुट से लिखा गया है। सन् १९५१ ई. में कृष्णा ज़िला गुडिवाडा के निवासी श्री काकालि नरसिंहराव जी ने 'वत्सा' मुकुट से 'बाल प्रबोध' शीर्षक शतक की रचना की थी, जिसमें शताधिक पद्य हैं। दैव, देश, गुरु, बड़ों के प्रति गौरव, सत्य, शौच, सदाचार आदि गुणों का प्रचार बच्चों में करने के लिए उन्होंने यह शतक लिखा है। इसके पहले उन्होंने दो भक्ति शतकों की रचना की थी—'श्रीहरि' शतक और 'भक्त संरक्षक' शतक।

आन्ध्र शतक वाङमय के विकास पर ध्यान दे कर देखने से विदित होता है कि ईसवी १२ वीं शती से ले कर आज तक शतकों की रचनाएँ जारी हैं। प्रो. निडदवाले वेंकटराव जी का मत है कि आन्ध्र-शतक-रचना एक स्वतंत्र विधा है, फिर भी "त्रैलोक्य चूडामणि" आदि कन्नड शतक रचनाएँ आन्ध्र शतक-रचना के लिए आदर्श मानी गई थीं। तमिल साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ

'कुरल' के रचयिता तिरुवल्लुवार, तेलुगु साहित्य के योगी वेमना और कन्नड साहित्य के सर्वज्ञ जिन्होंने 'त्रिपादी' छन्द में अपने लोकानुभव को व्यक्त किया, एक श्रेणी के कवि हैं।

शतकों को भावगीत (Lyrics) के रूप में मानने में मत-भेद है। स्व. वगूरि जी का कहना है कि शतक भावगीत हैं। क्योंकि कवि अपने हृदय के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति शतकों के द्वारा करता है। "रागात्मक अनुभूति जो वैयक्तिक हो कर भी साधारणीकरण द्वारा सार्वभौम और सार्वजनीन बन जाती है, गीति काव्य की जननी है[१]।" इसके अतिरिक्त शतक मुक्तक हैं। इन कारणों से विद्वान अलोचक ने शतकों को भावगीत कहा है। पाश्चात्य अलोचकों के अनुसार "A Lyric is a comparatively short poem expressing a single emotion, a poem in which the poet is principally occupied with himself, concerned with his own experiences and feelings"[२]

स्व. काशीनाथुनि नागेश्वरराव पंतुलु ने श्री सुब्बाराव के विचार का खण्डन किया है। उनका कहना है कि भावगीतों में कवि प्रकृति के स्वरूप के गुणों तथा सौन्दर्य का वर्णन मनोहर ढंग से करते हुए भाव-विकास का परिचय कराता है। इस भाव-विकास के द्वारा मानसिक आनंद मिल सकता है। लेकिन आत्मानंद नहीं, जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। शतकों के द्वारा अधिक आत्मानंद की उपलब्धि होती है। शतकों का प्रयोजन आत्मानंद देना है, हर्ष प्रदान करना है। इसलिए शतक भावगीत नहीं हो सकते[३]।

शतक वाङ्मय को लाक्षणिकों ने मान्यता नहीं दी। पंडित वंगूरि जी का यह मत है कि शतकों की गिनती काव्य में नहीं की जा सकती। इसका कारण बतलाते हुए वे अपने 'शतक कवुल चरित्र' में कहते हैं कि काव्य के लक्षणों का पालन न होने के कारण शतकों का आदर नहीं हुआ। परंतु प्रो. वेंकटराव जी इस मत से सहमत नहीं हैं। श्री पंतुलु के मत का खंडन करते हुए वे कहते हैं कि आन्ध्र के अप्पकवि आदि लाक्षणिकों ने अपने लक्षण ग्रन्थों में शतक कवियों के पद्यों को दिया है—इससे स्पष्ट होता है कि शतक-रचना हमारे लाक्षणिकों को मान्य थी।

---

१. "गीति काव्य" (पृ. २४८), ले. राम खेलावन पाण्डेय, एम. ए.
२. "Introduction to study of Literature"—Hudson.
३. "शतक कवुल चरित्र" की पीठिका

अन्त में निवेदन है कि इस छोटे से निबन्ध में कई विशेष बातों को छोड़ देना पड़ा है। अब तक प्राप्त होने वाले ६०० शतकों का विषय विवरण सहित देना यहाँ असंभव है। एक-एक कवि के विषय में एक-एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। जब तक हमारे वाङमय की हरेक शाखा का परिचय हिन्दी-माध्यम द्वारा न दिया जाए, आन्ध्रेतर भाषा-भाषियों को इस विधा का पूरा परिचय नहीं मिल सकता। यह एक गुरुतर कार्य है, जिसे एक–दो व्यक्ति संपन्न नहीं कर सकते। इस युग में प्रजा-संस्थाएँ ही इस तरह के कार्यों को पूरा कर सकती हैं। आशा करता हूँ कि इस निबन्ध के द्वारा मोटे तौर पर आन्ध्र-शतक-वाङमय का परिचय आन्ध्रेतरों को थोड़ा बहुत हो सकेगा।

"प्रजकुन स्वस्ति महीपतुल् वसुमतिन् बालिचुतन् न्याय्यतन्
द्विजगंबुन् भजयिंचुगात सुखमी देशंबसंक्षोभमौ
द्विज गौसंततिकौ शुभंबनुचु दीविंत्रार्युलेप्रोद्दुद
त्सुजनाशीस्सुल मोघमुल् सलुपु देवा भक्त चिंतामणी ॥

"हे देव, भक्त चिंतामणे, प्रजा का मंगल हो। राजा लोग भूमि का पालन ठीक तरह से करें, तीनों लोकों की सेवा हो; यह देश बिना किसी क्षोभ के सुखी बने। द्विजों तथा गायों की संतति का कल्याण हो; ऐसा सदा आर्य-गण आशीर्वाद दें—सज्जनों के इस आशीर्वाद को सफल बनाओ।"

तेलुगु में प्रयुक्त अरबी, फारसी तथा हिन्दी के शब्द : भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

श्री हनुमत् शास्त्री अयाचित

तेलुगु भाषा में अन्य भाषा-शब्दों को आतमसात् करने की अद्भुत क्षमता है। मूलतः द्राविड भाषा परिवार की होते हुए भी, तेलुगु भाषा ने सदियों पहले संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं के शब्दों को सहस्रों की संख्या में अपना लिया। आज की स्थिति यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों एवं तद्भव शब्दों का भरपूर प्रयोग किये बिना, तेलुगु भाषा अपने विचारों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक नहीं कर पाती। तेलुगु ने अपने उदार दृष्टिकोण को केवल संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश तक ही सीमित नहीं रखा, मध्ययुग में हिन्दी, मराठी जैसी भारतीय भाषाओं से ही नहीं बल्कि अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं से भी निस्संकोच भाव से शब्दों को ग्रहण करने लगी। तेलुगु की यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में भी जारी है। फलतः बहुत से अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्द भी आन्ध्र की जनवाणी में खप गये हैं। केवल वाणी और व्यवहार में ही नहीं, ये शब्द अधिक मात्रा में, और कभी-कभी एवं कहीं-कहीं, अनुचित मात्रा में भी, आधुनिक लेखकों के द्वारा अपने काव्यों, कहानियों और उपन्यासों में भी प्रयुक्त होते जा रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति तेलुगु में अद्यावधि बनी हुई है और भविष्य में भी बनी रहेगी।

तेलुगु भाषियों की इस मनोवृत्ति के पीछे कई कारण रहे हैं। जैसे :— १. मनोवैज्ञानिक, २. भौगोलिक, ३. ऐतिहासिक, ४. धार्मिक आदि-आदि।

मनोवैज्ञानिक कारणों का मूल तत्त्व एक ही है। नवीन वस्तु, नवीन विचार, नवीन धारणा, नवीन शब्द यहाँ तक कि नवीनता के नाम पर जो भी आये, उसका स्वागत करने की उदार चेतना। नवीनता के प्रति तेलुगु भाषा-भाषियों की यह उत्सुकता अथवा मोह किसी-किसी दिशा में अनुचित सीमा

तक पहुँच जाती थी, इसीलिए एक कहावत भी चल पड़ी है, "पोरुगिंटि पुल्ल-कूर रुचि"। इससे मिलती-जुलती कहावत अथवा लोकोक्ति हिन्दी में है— "घर की खांड़ किरकिरी लागे, चोरी का गुड़ मीठा"। इस चेतनागत मनोवैज्ञानिक मूल कारण के अतिरिक्त भौगोलिक, ऐतिहासिक और धार्मिक कारण भी नयेपन के मोह के पीछे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आन्ध्रप्रदेश की भौगोलिक स्थिति इसका प्रमुख कारण है। उत्तर-दक्षिण के बीच अवस्थित यह भूखण्ड दोनों का संगम स्थल है। यह भूखण्ड शतियों से कई सभ्यताओं, संस्कृतियों तथा धर्मों का संघर्ष-क्षेत्र और संगमस्थल रहा है। प्राचीन युग में यह भूखण्ड वैदिक एवं बौद्ध धर्म-संबंधी विवादों का साक्षी रहा। यह प्रदेश प्राचीनोत्तर तथा मध्ययुग के आरम्भ में शैव-वैष्णव आदि धर्मों का संघर्ष देख चुका था। यहाँ की जनता ने इन सबके फलस्वरूप और समन्वित रूप में आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को अपनाया है और आज भी इस प्रदेश की अधिकांश जनता की धार्मिक भावना इसी से अनुप्राणित है। साहित्यिक क्षेत्र में यही अद्वैत भावना महामनीषी एवं महान् साहित्यिक विभूति कविब्रह्म तिक्कन्ना के हरिहरनाथात्मक तत्त्व में प्रस्फुटित हुई थी। कालांतर में इस भूखण्ड ने आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को आगे बढ़ाने वाले, महान् तपस्वी और दार्शनिक, स्वामी विद्यारण्य को उपहार रूप में भारत की दार्शनिक मनीषा को विश्व भर में फिर एक बार देदीप्यमान बनाने के हेतु, भारतमाता के चरणों में समर्पित किया था। सभी प्रभावों की सम्यक् रूपरेखा खड़ी करने के लिए इस छोटे से निबंध में न पर्याप्त अवकाश है न इसकी आवश्यकता। अब मध्ययुग की बात सुनिए। अल्लाउद्दीन खिल्ज़ी के शासन काल में सिपहसालार मलिक काफ़ूर की मातहती में जिस दिन वरंगल पर हमला हुआ था, उस दिन राजनैतिक एवं ऐतिहासिक धरातल पर तेलुगु प्रदेश पहली बार इस्लामी संस्कृति के संपर्क एवं संघर्ष में आया था।[1] कालांतर में मुसलमानों के हमले बढ़ते गये। बहमनी सल्तनत के क़ायम होने के बाद तो तेलुगु प्रदेश के स्थानीय राजाओं तथा मुसलमान बादशाहों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा।

---

१. इतिहासविदों के अनुसार इन दिनों वरंगल पर तीन बार हमले हुए। सन् १३०३ में पहली बार, सन् १३१० में दूसरी बार तथा सन् १३२१ में दिल्ली पर गयासुद्दीन तुग़लक के शासन काल में तीसरी बार। पहले हमले का कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखायी देता। आन्ध्र विज्ञान सर्वस्वमु, तृतीय भाग, पृ. २३३।

बहमनी सल्तनत का शासन सन् १३४७ से १५२७ तक रहा। इनके राजत्व में बाहरी मुल्कों से भी, विशेषकर अरब, ईरान, तुर्किस्तान आदि से कई मुसलमान परिवार आ बसे। इधर स्वदेश में भी कई हिन्दू इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उत्तर भारत से कई हिन्दू परिवार भी समय-समय पर आ बसे। स्वदेशी मुसलमान और हिन्दू अपना कामकाज हिन्दवी अथवा हिन्दी के द्वारा करते थे। बाहरी मुल्कों से आये हुए मुसलमान अरबी और फ़ारसी का सहारा लेते थे। बहमनी सलतनत के बादशाहों में कई हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वित रूप की साधना करते थे। इनमें फ़ीरोज़शाह प्रथम (१३९७ से १४२२) उल्लेखनीय हैं। "फ़ीरोज़ बहमनी ने अरबी-ईरानी संस्कृति से हट कर दक्खिनी मुसलमानों, उत्तर भारत से आये हिन्दुओं और स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त किया और उनकी संस्कृति में अधिक रुचि ली। गुलबर्गा कन्नड भाषी क्षेत्र में पड़ता था। यहाँ की जन-संस्कृति का उसने आदर किया। कर्णाटकी ब्राह्मणों को ऊँचे पद दिये। नरसिंह नामक ब्राह्मण बहमनी वंश का गुरु बना और विजयनगर की राजकन्या का विवाह फ़ीरोज़ के साथ हुआ।" १

कालांतर में स्वदेशी मुसलमान और विदेशी मुसलमानों के दो राजनैतिक दल बने। अंततोगत्वा इन्हीं गुटों की वजह से बहमनी सलतनत का अन्त भी हुआ। विदेशों से आये हुए मुसलमान आफ़ाक़ी[२] कहाने लगे और स्वदेशी मुसलमान दक्खिनी। विच्छिन्न बहमनी सलतनत में से चार शाही ख़ानदान खड़े हुए—१. बरीदशाही, २. निज़ामशाही, ३. आदिलशाही और ४. कुतुबशाही ख़ानदान।

इनमें गोलकुण्डा पर शासन करने वाले कुतुबशाही ख़ानदान से तेलुगु प्रदेश का घनिष्ठ संबंध था। गोलकुंडा को राजधानी बना कर ये बादशाह तेलुगु प्रदेश के विस्तृत भूखण्ड पर राज करने लगे। प्रशंसनीय बात यह है कि इन बादशाहों ने फ़ीरोज़शाह की संस्कृति संबंधी उदार-नीति-परंपरा को आगे बढ़ाया था, जिसके कारण स्थानीय साहित्य और ललितकलाओं को भी काफ़ी संवर्धन और प्रोत्साहन मिला।

---

१. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास, पृ. ९।

२. वही पृ. ९।

इनमें इब्राहीम कुत्बशाह[1] और मुहम्मद कुली कुत्बशाह[2] का राजत्वकाल बड़ी शांति एवं अमनचैन के साथ व्यतीत हुआ था। इब्राहीम कुत्बशाह की लोकप्रियता इस दर्जे की थी कि जनता की वाणी में ये इब्राहीम नहीं रहे थे परन्तु मल्किभराम बन गये। कवियों की वाणी में वे अयोध्या के राजा रामचन्द्र से भी अधिक थे। व्यतिरेक और अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया और इनकी प्रशंसा में कई प्रशस्ति-छंद गाये गये। उनके पुत्र मुहम्मद कुली कुत्बशाह[3] तो गण्यमान्य कवि थे। दक्खिनी हिन्दी के रूप को सँवारने में इनका बड़ा हाथ था। इन्होंने सन् १५९१ में हैदराबाद जैसे सुन्दर और शानदार नगर का निर्माण किया था। जहाँ आज हम सभी प्रकार की संस्कृतियों का संगम, अनेक भाषाओं का सहजीवन तथा पारस्परिक आदान-प्रदान देखते हैं। इस प्रकार इस महान् उपलब्धि का सारा श्रेय इन्हीं बादशाहों को मिलना चाहिए। एक ओर दक्खिनी हिन्दी का साहित्यिक रूप जिसमें से कालान्तर में उर्दू के सर्वमान्य प्रथम कवि वली औरंगाबादी निकले, निखर रहा था और दूसरी ओर स्थानीय कलाएँ और साहित्य प्रोत्साहन पाने लगे। समन्वय-वादी परंपरा बीजापुर के सुलतानों के द्वारा भी खूब विकसित हुई। इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय के नवरस नामक ग्रंथ में कन्नड के शब्दों ने यथेष्ट मात्रा में स्थान पाया है[4]। उसी प्रकार से मुहम्मद कुली कुतुब्शाह की रचना में भी यत्रतत्र तेलुगु शब्द पाये जाते हैं[5]। स्थानीय साहित्य के प्रोत्साहन का परम सुन्दर और उज्ज्वल उदाहरण पोन्निकंटि तेलगनार्य[6] की रम्य कृति 'ययाति चरित्रमु' है। कवि ने अपने काव्य को मलिक इब्राहीम कुत्बशाह और मुहम्मद कुली कुत्बशाह के यहाँ मीर जुमला के ओहदे पर विराजमान मुहम्मद अमीन अमीनुल् मुल्क को

---

१. इब्राहीम कुत्बशाह का राजत्वकाल १५५०–१५८० तक था।

२. मुहम्मद कुली कुत्बशाह का राजत्वकाल सन् १५८० से १६१२ तक था। ३. कहा जाता है कि मुहम्मद कुली कुत्बशाह ने तेलुगु में भी काव्य-ग्रंथ लिखे, परन्तु इनमें से कोई पुस्तक अब प्राप्त नहीं है। इनकी माता तेलुगु महिला थी, अतः तेलुगु में रचना करना इनके लिए स्वाभाविक बात है। दे. आ. वि. स. विश्वसाहिति पृ. ३०५। ४. दे. आ. वि. स. विश्वसाहिति पृ. ३०५। ५. वही। ६. पोन्निकंटि तेलगनार्य का जीवन काल किसी समालोचक के अनुसार १५१० से १५८० तक था तो किसी समालोचक के अनुसार वे १५९२ ई. में भी मौजूद थे। कृपया दे. आ. वि. स. विश्वसाहिति पृ. ७०३ तथा आन्ध्रकवि सप्तशती पृ. ९१।

समर्पित किया था। जनता में ये अमीनखाँ नाम से विश्रुत थे। तेमगनार्य की ठेठ तेलुगु की यह कृति तेलुगु प्रदेश के तेलंगाने के इस पवित्र भूखण्ड पर इन मुसलमान बादशाहों के प्रोत्साहन से रची गयी। आदि से अंत तक इस साहित्यिक अनुष्ठान में तेलुगुपन का मिठास भरा हुआ है। गर्व की बात यह है कि इस माधुर्य का स्वाद लेने वाले सहृदयों में, गोलकुण्डा के उदारचेता मुसलमान बादशाह और उमराव भी थे।

कुत्बशाही खानदान का राजत्व सन् १६८७ तक चलता रहा। अन्तिम बादशाह अबुल हसन कुत्बशाह तेलुगु के बड़े प्रेमी थे। इन्होंने बहुत-सी जायदाद गोदावरी नदी के किनारे पर स्थित भद्राचल के राम मन्दिर के लिए इनाम में दी। जनता में यह शासक तानाशाह अथवा तानीषा नाम से अधिक विश्रुत थे। तेलुगु के महान् भक्त भद्राचल रामदास की भक्तिपूर्ण जीवनी कुछ कटुता के साथ इस बादशाह से जुड़ी हुई है। फिर भी ये अपनी उदारता और धर्म सहिष्णुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि इनके क़ैद होने पर न केवल मुसलमान दुःखित हुए अपितु तेलुगु कवि भी बहुत दुःखित हुए थे[1]।

मैं जानता हूँ कि मैं बहुत दूर बहक गया हूँ। मगर मकसद से, जान-बूझ कर। जब हम इस समन्वायात्मक परिवेश में, और इस समरसवादी वातावरण को ध्यान में रख कर तेलुगु में आये हुए अनेकानेक अरबी, फारसी, हिन्दी आदि शब्दों का भाषायी विश्लेषण करते हैं, तब सचमुच इन आगत शब्दों का महत्त्व और उपादेयता हृदयंगम होंगे। इन शब्दों का हमारी भाषा में प्रविष्ट होना भी स्वाभाविक लगेगा। नहीं तो, ऐसी आशंका होगी कि ये शब्द वैसे ही हमारी भाषा में घुस आये हैं और उनकी उपस्थिति अवांछनीय है। जब सुदीर्घ काल तक इस प्रकार की भाषायी एकता की साधना, आदान-प्रदान के धरातल पर चलती रही, क्या आश्चर्य है कि अरबी, फ़ारसी, हिन्दी आदि शब्द हमारी भाषा में सहज ही स्थान पा चुके हैं।

इन आगत अथवा गृहीत शब्दों के विषय में राजनैतिक दृष्टि से साधारणतः एक दलील प्रस्तुतः की जाती है कि विजेता जाति अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के साथ, अपनी भाषा के शब्दों को भी विजित जाति के माथे पर थोप देती है। मेरे नम्र विचार में यह अपने आप में सामंतयुगीन भावना है, जिसके पोषक-तत्व पराजित मनोवृत्ति में मिलते हैं। भारत के आधुनिक लोकतंत्रात्मक जीवन में इस घृणास्पद चित्तवृत्ति को आश्रय नहीं मिलना

---

१. आ. वि. स. विश्वसाहिति पृ. ३०६।

चाहिए और जनता की नित्य प्रति की वाणी में एवं मध्ययुग के कवियों की कृतियों में प्राप्त इन गृहीत शब्दों का अध्ययन, वास्तव में जनता और लेखकों की महती भाषायी एकता की साधना के मूल्यांकन के रूप में करना चाहिए, जिससे भावात्मक तथा राष्ट्रीय एकता की सिद्धि में उपादेय पुष्टि एवं तुष्टि मिल सके। इस महदाशय से प्रेरित हो कर ही मैंने तेलुगु में प्रयुक्त अरबी, फ़ारसी और हिन्दी के शब्दों का सर्वेक्षण आगामी पृष्ठों में किया है। विषय विशाल और बहुत गंभीर है, अतः मैंने इस अवसर के लिए कुछ सीमाएँ निर्धारित कर ली हैं। मेरा यह प्रयास पूर्ण तलस्पर्शी और कूलंकष है, इसका दावा मैं नहीं करता। मैं यहाँ जनवाणी से सम्बन्धित शब्दों पर ही विचार करना चाहता हूँ—

१. लोकवाणी में प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन

बोलचाल की तेलुगु में अरबी, फारसी आदि कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

१. धार्मिक शब्दावली, २. सांस्कृतिक शब्दावली, ३. प्रशासकीय-शब्दावलीक, ४. शैक्षणि शब्दावली, ५. नित्यप्रति व्यवहार आने वाली वस्तुओं से सम्बन्धित शब्दावली, ६. विभिन्न पेशों से सम्बन्धित शब्दावली, ७. वैज्ञानिक शब्दावली, ८. ललित कताओं से सम्बन्धित शब्दावली तथा ९. प्रकीर्ण शब्दावली।

क. धार्मिक शब्दावली

इस्लाम से सम्बन्धि पर्व-त्यौहारों तथा विश्वासों से सम्बन्धित शब्दावली तेलुगु में यथेष्ट मात्रा में घुलमिल गयी है। उदाहरण के लिए :—

तेलुगु में तद्भव रूप	**तत्सम रूप**	**अर्थ**
१. अल्ला	अल्लाह् अ.	ईश्वर

तेलुगु में प्राप्त गृहीत शब्द	मूल	अर्थ
२. ईदु[1]	ईद अ.	मुसलमानों का त्यौहार
३. दरगा	दरगाह् फा.	किसी वली का मजार।

संकेत विवरण :—अ. अरबी। फा. फारसी। तु. तुर्की। प्र. प्रत्यय। वि. विशेषण। क्रि. वि. क्रिया विशेषण। अव्य. अव्यय। आ. बो. अ. आश्चर्य बोधक अव्यय।

१. तेलुगु की लोकवाणी में मिश्रित शब्द इंदुपंडुग भी पाया जाता है जिस में अरबी और तेलुगु शब्दों की भाषायी एकता दर्शनीय है।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

४. पीरु	पीर फा.	धर्म-गुरु
५. मसीदु	मस्जिद अ.	मुसलमानों का प्रार्थना-मन्दिर।
६. मोहरमु	मुहर्रम	एक मास का नाम
७. मोल्वि	मौलवी अ.	विद्वान
८. सेतानु	शैतान	शैतान

स्पष्ट है कि इन शब्दों का प्रयोग सीमित क्षेत्र में ही होता है। इन शब्दों के पीछे जो विशिष्ट धार्मिक वातावरण है, उसके कारण इन शब्दों का सार्वजनिक जीवन में अधिक प्रयोग नहीं हो सका।

ख सांस्कृतिक शब्दावली

अरबी, फारसी के शब्द एक विशिष्ट संस्कृति से सम्बन्धित हैं। धर्म आर संस्कृति में विभाजक रेखा खींचना कठिन है। अतः इन शब्दों का व्यवहार क्षेत्र भी सीमित ही रह सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्द लीजिए।

तेलगु में प्रयुक्त तदभव रूप	**तत्सम रूप**	**अर्थ**
१. कुरानु अ.	कुरान	मुसलमानों का धार्मिक ग्रंथ
२. खुदा	खुदा फा.	ईश्वर
३. जोहारु	जोहार हि.	नमस्कार[1]
४. टपाकाय[2]	पटाका हि.	पटाका, एक आतिशबाजी
५. तावीजु	तावीज़ अ.	तावीज़
६. नमाजु	नमाज़ फ़ा.	नमाज
७. पकीरु	फ़कीर अ.	भिक्षुक, मँगता, संन्यासी

---

१. तेलुगु में जोहारु शब्द आजकल किसी आदरणीय व्यक्ति के प्रति सम्मान अथवा श्रद्धा दिखाने के अवसर पर श्रदांजलि के पर्याय में प्रयोग किया जाता है। २. वर्णव्यत्यय के नियमानुसार हिन्दी का पटाका तेलुगु में पहले टपाका बना और शब्द का दीर्घांत रहना तेलुगु भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है, इस शब्द का चरमांश काय बना दिया गया मानों वह भी कोई अच्छा फल हो। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। ३. पकीरु शब्द का तेलुगु में अर्थ-विस्तार के साथ अर्थापकर्ष भी हो चला। वैसे यह शब्द आजकल किसी भी भिखमंगे के लिए प्रयुक्त हो सकता है परन्तु निन्दार्थ में ऐसा भी कहा जाता है कि वाडु वट्टि पकीरु सन्नासि, अर्थात् अयोग्य व्यक्ति जो किसी काम का नहीं।

८. पराकु[1]	फ़राग़ अ.	सुख, आराम
९. बिक्का पकीरु	भीख फ़क़ीर हि.	भिखमंगा
१०. बुक्का पकीरु	वही	वही
११. मताबु	महताबी फा.	एक आतिशबाजी जिसे छुड़ाने से चाँदनी-सी छिटक जाती है।
१२. मेजुवाणी	मेजबानी फा.	आतिथ्य[2]
१३. सलामु	सलाम अ.	प्रणाम
१४. सुन्ती[3]	सुन्नत अ.	सुन्नत
१५. हज्जु	हज अ.	हज

---

१. पराकु शब्द की चलनशीलता तो बहुत ही सराहनीय है। तेलुगु में यह शब्द मध्ययुगीन संस्कृति में बहुत ही ऊँचे दरजे पर प्रयोग किया जाता था। देवी-देवताओं को और राजा-महाराजाओं को जगाने अथवा सुलाने के लिए बंदी मागध उनकी प्रशस्ति में बहुपराकु-बहुपराक कहते थे। इस प्रकार अरब संस्कृति से यह शब्द भारतीय संस्कृति तक सफ़र करके उसके साहित्य और संस्कृति का अंग बन गया है। २. मेजुबानी भी बहुत ही सुन्दर शब्द है जो तेलुगु संस्कृति का एक अविभाज्य अंग बन गया है। इस शब्द का तेलुगु में अर्थविस्तार हो चला है। वैसे मूल फारसी में इसका अर्थ आतिथ्य है परन्तु तेलुगु में इसका यह अर्थ नहीं रह गया है। तेलुगु प्रदेश के हिन्दू घरों में कन्याओं के विवाहों में शाम को वर और वधू की बैठक होती है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ और गाँव के सज्जनों से परिवेष्टित हो कर वर-वधू उनकी उपस्थिति में फलों और माला आदि से आपस में विलास के साथ खेला करते हैं। एक ओर शहनाई की मंगलध्वनि बजती है और दूसरी ओर पुण्यस्त्रियाँ प्रेम और शृंगार से भरे हुए मधुरगीत गाती रहती हैं। अन्त में वर-वधू की मंगलकामना करते हुए आरती उतारी जाती है। इस सारे कार्यक्रम को मेजुवानी कहा जाता है, जिससे आम जनता भलीभाँति परिचित है। इसको हम आजकल के वेड्डिंग रिसेप्शन का प्रारूप मान सकते हैं जिसके पीछे वही आतिथ्य भाव निहित है। इस प्रकार इस शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ हम तेलुगु में पाते हैं। पराकु और मेजुबानी इन दोनों शब्दों के पीछे केवल भाषायी एकता का ही नहीं, परन्तु भावात्मक एकता का भी सुन्दर रूप छिपा हुआ है। ३. सुन्ती— इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग कुछ घृणित अर्थ में तेलुगु में चल रहा है। उदा० वानि पनि सुन्ती अयिंदि—उसका काम विफल हो गया।

इन शब्दों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें धार्मिक शब्दों की कट्टरता ही नहीं है। कम से कम, कुछ शब्द तो अधिक व्यापक अर्थ में, इनके पीछे उपस्थित धार्मिक वातावरण के बावजूद ,प्रयोग किये जा सकते हैं। अतः ये शब्द स्वाभावतः अधिकतर चलनशील है। ऊपर की तालिका में चलनशील शब्द भाषाओं के अनुसार इस प्रकार है—

हिन्दी	**अरबी**	**फ़ारसी**
१. जोहार	१. तावीज़	१. मताबु
२. टपाकाय	२. पकीरु	
३. विक्कापकीरु हि.+अ.	३. सुन्ती	

हिन्दी के टपाकाय तथा फ़ारसी के मताकु दोनों तेलुगु प्रदेश के बालकों और बालिकाओं के लिए दिवाली के अवसर पर अपरिहार्य वस्तुएँ बन गयी हैं। तेलुगु माताएँ अरबी के तावीज़ शब्द से भी अपरिचित नहीं हैं। मेरे विचार में यह शब्द द्राविड भाषाओं से ही अरबी में गया होगा। इतिहास बताता है कि अरब के बहुत-से सौदागर केरल आदि दक्षिण भारत के प्रदेशों के साथ ईसा पश्चात् प्रथम शती में व्यापार करने लगे। इन भाषाओं में प्राप्त अब्बा, अम्मि भी दक्षिणी भाषाओं की देन समझना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांस्कृतिक शब्दावली आमतौर पर इतने संकीर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त नहीं होती। यह धार्मिक शब्दावली की अपेक्षा अधिक चलनशील होती है और भिन्न धर्मावलंबी एवं भिन्न संस्कृति के लोग भी इन शब्दों में से कुछ को बिना झिझक के आवश्यकतानुसार अपनाने लगते हैं।

ग. प्रशासकीय शब्दावली

वास्तव में तेलुगु में अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्द सबसे अधिक मात्रा में प्रशासकीय क्षेत्र में ही प्रयुक्त हुए हैं। जैसे पहले कहा जा चुका है, शतियों तक मुसलमान बादशाहों के राजत्व के फलस्वरूप प्रशासकीय शब्दावली का अधिक मात्रा में प्रयुक्त होना स्वाभाविक था। इस क्षेत्र की अवांतर शाखाएँ इस प्रकार हैं— १. फौज़ी शब्दावली, २. आर्थिक शब्दावली, ३. क़ानून व अदालती शब्दावली, ४. व्यापार संबंधी शब्दावली तथा ५. राजस्व विभाग की शब्दावली।

ग. १. फौज़ी शब्दावली

तेलुगु में प्रयुक्त तद्भव रूप	**तत्सम रूप**	**अर्थ**
१. कंदकमु	खंदक्	खाई

तेलुग में प्रयुक्त तद्भव रूप गृहीत-शब्द	तत्सम रूप	अर्थ
२. कमानु	कमान फा.	धनुष
३. कवातु	क़वाइद अ.	परेड़
४. कसरतु	कस्रत अ.	व्यायाम
५. कूचि, कूची	कूच फा.	सेना का प्रस्थान
६. खिल्ला	क़िलाअ' अ.	
	क़ल्अ: का ब. व.	दुर्ग
७. गस्ती, गस्तु	गश्त फा.	गश्त
८. डाल	ढाल हि.[1]	ढाल
९. डेरा	डेरा हि.	पड़ाव
१०. पवुजु, पोजु	फ़ौज अ.	सेना
११. सिपायि	सिपाही फा.	सिपाही
१२. हवलुदारु	हवल अ.+फा. दार	फौज़ का एक अफ़सर
१३. सरदारु	सरदार फा.	सेनानायक

ग. २. आर्थिक शब्दावली

१. किफ़ायतु	किफ़ायत अ.	अल्प व्यय
२. किस्मतु	क़ीमत अ.	दाम
३. किरायि	किरा अ.	भाड़ा
४. खर्च्	खर्च फा.	व्यय
५. चंदा	चंदा फा.	चंदा
६. टोकु	थोक हि.	सामूहिक, ढेर की
७. दिवाला	दिया+बालना हि.	टाट उलट देना
८. दीनारमु	दीनार फा.	सोने की एक मुद्रा
९. दुबारा[2]	दुबार: फा.	दूसरी बार

१. संस्कृत शब्द भी माना जाता है।

२. दुबारा–तेलुगु में इसका प्रयोग अधिकव्ययिता के अर्थ में होता है। अतः यह शब्द अर्थादेश का उदाहरण है। लोकवाणी में 'दुबारा खर्च्' प्रयोग भी है। दरअसल पहला प्रयोग दुबारा खर्च् ही है। इस हालत में मूल अर्थ ज्यों का त्यों ठीक घटित होता है। परन्तु कालांतर में खर्च् शब्द का लोप हो गया है और विशेषण दुबारा शब्द को ही अकेला पूरा अर्थ देना पड़ा। इस प्रकार विशेषण संज्ञा शब्द हुआ। दुबारा भी प्रचलित है।

१०. बजाना, बयाना	अ. बे+आना फा.	अग्रिम धन
११. बटुवाड	बँटवारा हि.	बाँटने की क्रिया
१२. बाकी	बाक़ी अ.	ऋण
१३. बाकीदारु	बाक़ी अ.+दार फा.	क़र्ज़दार
१४. बोणि	बोहनी हि.	प्रथम बिक्री
१५. रायिति	रिआयती अ.	मूल्य में कमी
१६. लुगसानु	नुक़सान अ.	नष्ट
१७. षराबु	सर्राफ़ अ.	चाँदी, सोना बेचने वाला।
१८. सादर[1]	सादिर अ.	चालू ख़र्च
१९. हुंडि[2]	हुंडी हि.	अर्थादेश पत्र

पैसा दमड़ी आदि बहुप्रचलित शब्द भी इनके साथ जोड़े जा सकते हैं।

ग. ३. क़ानूनी-अदालती व कर्मचारी सम्बन्धी शब्दावली

१. अमानत्तु	अमानत अ.	थाती, धरोहर
२. अमीनु	अमीन अ.	अमानतदार
३. अवाल्लि	हवालः अ.	सिपुर्दगी
४. उम्मारावुलु	अमीर अ.	रईस
५. कैफीयतु	कैफ़ियत अ.	जवाबतलब
६. खासावाड़	ख़ासा अ.	अंतःपुर का नौकर
७. खूनी[3]	ख़ूनी फा.	हत्यारा
८. खैदी	क़ैदी अ.	बंदी

---

१. सादर भी इसी प्रकार का उदाहरण है। २. तेलुगु में हुंडि शब्द की कहानी कुछ रोचक मालूम पड़ती है। तेलुगु में हिन्दी से दो शब्द आये हुए हैं हुंडी और हुंडि। तेलुगु प्रदेश के मंदिरों में यत्रतत्र भक्तों के द्वारा समर्पित धन इकट्ठा करने के लिए हंडी रखी जाती है। हुंडी शब्द का संबंध भी अर्थ से ही तो है। अतः भ्रम के कारण हंडी को ही लोग हुंडी कहने लगे हैं। उदा० एडु कोंडलवानि हुंडी लो एंत डब्बु वेसावु ?—बालाजी की हुंडी में तुमने कितना धन डाला है ?

३. तेलुगु में इस शब्द का अर्थ हत्या ही है। यह भाववाचक संज्ञा है।

९. खेदु	क़ैद	कारागार
१०. जामीनु	जामिन अ.	जमानत
११. जामीनुदारु	जामिनदार अ. फा.	जो जामिन रहता है
१२, जुलुमु	जुल्म अ.	अत्याचार
१३. तनिकी	तनक़ीह अ.	जाँच
१४. दरियाप्तु	दरियाफ़्त फा.	पूछताछ
१५. दर्बारु	दरबार फा.	दरबार
१६. दस्तरमु[1]	दस्ता फा.	कागज़ों का फाइल
१७. दाखला	दाखला फ़ा.	प्रवेश
१८. दाखलु	दाखिल फा.	दर्ज करना
१९. दिवानु	दीवान फा.	मंत्री
२०. नवाबु	नव्वाब अ.	नवाब
२१. नजराना	नज्रानः अ.	उपहार
२२. नगदु	नक़द अ.	रुपया पैसा
२३. नज़रु[2]	नज़ अ.	उपहार दृष्टि
२४. नदरु	नज़	दृष्टि
२५. निशानी[3]	निशानी फा.	अपढ़ आदमी का अँगूठा लगाना।
२६. फिर्यादु	फ़रियाद अ.	शिकायत, नालिश
२७. फिर्यादि	फ़र्यादी अ.	नालिश करने वाला
२८. फैसला	फ़ैसलः	निर्णय, तय
२९. बंदिखाना	बंदीख़ाना फा.	कारागृह
३०. बंदोबस्तु	बंदोबस्त फा.	इन्तज़ाम
३१. बत्ता	भत्ता हि.	भत्ता
३२. भत्ता	वही	वही

---

१. 'दस्त्रालुं मसिपातलुन्' कवि श्रीनाथ की प्रासंगिक कविता।

२. लोकप्रयोग—नीवु चेप्पे दानिकि दाखला एमिटि? तुम्हारे कथन का क्या प्रमाण है? अतः यह शब्द तेलुगु में सबूत के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। ३. तेलुगु में नज़र और नदरु शब्दों का व्यवहार उपहार के अर्थ में भी हुआ है। जनता में इन शब्दों का प्रयोग दृष्टिदोष के अर्थ में पाया जाता है। जनवाणी में निरक्षर आदमी को निशानी पडु कहा जाता है।

३३. मंजूरु	मंजूर अ.	स्वीकृत होना
३४. माज़ी	माज़ी अ.	भूतपूर्व
३५. मामूलु[1]	मामूल अ.	मामूल
३६. मिराशि	मीरास अ.	बपौती
३७. मुद्दायि	मुद्दआ अ.	दोषारोपित व्यक्ति
३८. मुनसबु	मुन्सिफ़ अ.	न्यायकर्ता
३९. मुच्चिल्क	मुच्चलका तु०	किसान की ओर से मालिक के नाम पर लिखा हुआ प्रतिज्ञा पत्र
४०. मुसायिदा	मसविदा अ.	मसौदा
४१. मोहरु	मोहर फा.	मोहर
४२. रद्दु	रद अ.	काटना
४३. रयितु	रैयत अ.	किसान
४४. रयितुवारी	रैयतवार अ.	किसान का
४५. रवाणा	रवानः फा.	पत्र पहुँचने की जगह
४६. रसीदु	रसीद फा.	रसीद
४७. राज़ी[2]	राजी अ.	अंगीकृत
४८. राज़ीमा	राज़ीनामः	संधिपना[3]
४९. लावा देवीलु	लावा देवा हि.	लेनदेन का व्यवहार
५०. वकीलु	वक़ील	वकील
५१. वज़ीरु	वज़ीर	मंत्री
५२. षरतु	शर्त अ.	शर्त
५३. वायिदा	वादः अ.	अवधि
५४. शिस्तु	शिस्त फा.	

---

१. इस शब्द को बख़्शिश या इनाम के अर्थ में भी व्यवहृत करते हैं। जहाँ शब्द अपना पुराना अर्थ रखते हुए एक नवीन अर्थ को प्रश्रय देता है वहाँ वह शब्द अर्थागम का उदाहरण माना जा सकता है। २. तेलुगु में यह शब्द समझोते के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो एक प्रकार से मूल अर्थ का ही विस्तार माना जा सकता है। ३. तेलुगु में यह शब्द बिलकुल भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है। राजीनामा का अर्थ तेलुगु में इस्तीफ़ा है, अतः यह अर्थादेश का ही उदाहरण है।

५५. सुबेदारु	सूबःदार अ+फा.	एक सूबे का मालिक
५६. हयामु	हयात अ.	शासनकाल
५७. हामी	हामी अ.	हामी

ग. ४. व्यापार-संबंधी शब्दावली

१. कारखाना	कारखाना हि.+फा.	कर्मागार
२. चिट्ठा	चिट्ठा हि.	हिसाब की वही
३. चीटि	चिट्ठी	पत्र
४. जाबु[1]	जवाब अ.	पत्र
५. किराना	किराना हि.	मेवा-मसाला आदि
६. दिनुसु[2]	जिन्स अ.	वस्तु, चीज़
७. दुकाणमु	दूकान फा.	दूकान
८. पचारी	पंसारी हि.	पंसारी

ग. ५. राजस्व विभाग की शब्दावली

१. आबुकारी	आबकारी फा.	आबकारी
२. तहश्शीलु	तहसील अ.	मालगुज़ारी
३. तासीलु	वही	वही
४. तासीलुदारु	तहसीलदार अ.+फा.	मालगुज़ारी का अफ़सर
५. तालुका	तअल्लुक़ा अ.	जिले का भाग
६. तालुकादारु	तअल्लुका-दार अ. फा.	रईस आदमी
७. पंचायिती	पंचायत हि.	पंचायत
८. परगणा	पर्गनः फा.	जिले का एक भाग
९.. पेष्कारु	पेशकार फा.	पेशकार

---

१. जाबु शब्द जवाब से बना है, परन्तु तेलुगु में यह किसी भी ख़त के लिए प्रयोग किया जाता है। यहाँ अर्थ का विस्तार हुआ है।

२. साधारणतया तेलुगु में द की ध्वनि ज में परिर्वातत होती है, परन्तु यहाँ ज की ध्वनि द में परिवर्तित होती दिखायी देती है जो कुछ विचित्र है। अन्य उदाहरण नदरु आदि शब्द हैं जो नज़र आदि से बने हैं।

१०. फिर्का	फ़िर्क़: अ.	दल. गुट
११. महसूलु[1]	महसूल अ.	महसूल

३. घ शैक्षिक शब्दावली

शिक्षा-संबंधी शब्दावली भी प्रचुर मात्रा में मिलती है।

१. कलमु	कलम अ.	लेखनी
२. कलंदानु	कलमदान अ.–फा.	कलम-दवात रखने का पात्र
३. काकितमु, कागिदमु कायितमु	काग़ज़ अ.	लिखने का कागज़
४. किताबु	ख़िताब अ.	उपाधि
५. कत्तु[2]	ख़त अ.	पत्र
६. कबुरु	ख़बर अ.	सूचना, संवाद
७. चिरुनामा	सरनामः फा.	सरनामा, पता
८. हाजरुपट्टी	हाज़िरी अ.	हाजरी डालने का रजिस्टर

ङ. नित्यप्रति व्यवहार में आने वाली शब्दावली

इस शब्दाबली के कई विभाग हो सकते हैं। जैसे १. वेशसंबंधी, २. आभूषण संबंधी, ३. भोजन संबंधी, ४. फल-पेय आदि से संबंधित, ५. सुगंध द्रव्य आदि से संबंधित। इस्लामी संस्कृति और सभ्यता के साथ प्रतिदिन के जीवन में कई नयी चीज़ों का प्रवेश हुआ। परिधान-संबंधी ठाटबाट में मुसलमान हिन्दुओं से आगे थे। जीवन के कई पहलुओं में उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं वैभवशाली रहा है। अतः कई नये शब्दों ने भारतीय भाषाओं में स्थान प्राप्त किया। तेलुगु भाषा भी इस साधारण नियम का अपवाद नहीं थी।

---

१. तेलुगु में अर्थादेश से इस शब्द का व्यवहार आजकल फसल काटना, अनाज घर लाना आदि सभी व्यापारों को सूचित करने वाला एक समूहवाचक शब्द बना है। २. कत्तु शब्द मैत्री के अर्थ में भी है। उदाहरण-वारिद्दरिकि कत्तु कलिसिदि—उन दोनों में घनिष्ठ मैत्री है।

ङ. १. पहनावे से संबंधित शब्दावली

तेलुगु में प्रयुक्त तद्भव शब्द	तत्सम शब्द	अर्थ
१. अंगरका	अंगरखा हि.	अचकन
२. अंगि	अंगिया हि.	चोली
३. कुड़तिनी	कुर्तः तु.	पहनने का कमीज जैसा वस्त्र
४. कमीजु	कमीस अ.	विशेष प्रकार का कुर्ता
५. गलीबु	गिलाफ़ अ.	तकिये आदि की खोली
६. गावंच	गमछा हि.	गमछा, अंगवस्त्र
७. चोक्का	चोग़ा तु.	कुरता
८. टोपि[1]	टोपी तु.	टोपी
९. मेजोड़ु	मोज़ा फा.	मोजा
१०. पाजामा	पाजामा फा.	पायजामा
११. बिस्तरु	बिस्तर	बिस्तर
१२. रप्पु	रफ़ू अ.	रफ़ू
१३. लुंघी	लुंगी फा.	जाँघिया
१४. लंगोटी	लगोटी हि.	लंगोटी
१५. रुमालु	रूमाल फा.	रूमाल
१६. शालुवा	साल फा.	शाल
१७. होदा	होदअ अ.	अम्बारी

परदा, बुरखा, नीमा, जामा आदि भी उल्लेखनीय हैं।

ङ. २. आभूषणों से संबंधित शब्दावली

हमें आभूषण संबंधी शब्द बहुत कम मिलते हैं। भारतीय नारी के अलंकरण में आभूषणों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान पहले से था, अतः जितने शब्द आर्य संस्कृति के मिलते हैं उतने मुस्लिम संस्कृति से संबंधित शब्द नहीं। फिर भी कतिपय शब्द आ ही गये हैं।

१. तुरायि	तुर्रः अ.	कलगी
२. तोड़ा	तोड़ा हि.	तोड़ा

---

१. टोपि पहले टोप्पि रूप में भी व्यवहृत हुआ है। नाचन सोमन की पंक्ति स्मरणीय है—पिडुगु वेसिन तलटोप्पि यागुने विवेकमेन वलदे।

३, बाज़ु बंदुलु	बाजूबंद फा.	बाजूबंद
४. बाविलीलु	वाली	कर्ण का एक आभरण
५. बेसरि	बेसर हि.	नाक का एक आभरण
६ जुमिकीलु	झुमकी हि.	झूमकी

ङ. ३. भोजन संबधी शब्दावली

१. किच्चडि	खिचड़ी हि.	खिचड़ी
२. कुर्मा	ख़ुरमा अ.	एक पकवान
३. कोवा	खोवा हि.	एक पकवान
४. पकौड़ी	पकौडी	पकोड़ी
५. पुलावु	फा. पुलाव	पुलाव
६. नास्ता	नाश्ता फा.	कलेवा
७. नानुरोट्टि	नान फा.–रोटी हि.	एक प्रकार की रोटी
८. चप्पति	चपाती हि.	फलका
९. पुदीनाकु	पोदीना फा.–आकु ते.	एक सुगन्धित पत्ती
१०. मसाला	मसालह् अ.	लौंग, जीरा आदि मसाला
११. मिठायि	मिठाई हि.	मिठाई
१२. मुरब्ब	मुरब्बा अ.	वह मेवा जो विशेष रूप से गला कर शक्कर के क़िवाम में रखा गया हो।
१३. मैदापिंडि	मैदा फा.	बारीक छना हुआ आटा
१४. रोट्टि	रोटी हि.	रोटी
१५. लड्डूवु	लड्डू हि.	प्रसिद्ध पकवान
१६: षर्बत्तु	शरबत अ.	शक्कर डाल कर मीठा किया हुआ पानी।
१७. सूजा	सूजी फा. सूदः फा.	
१८. सोपु	सौंफ़ हि.	मसाले में पड़ने वाली एक चीज़।

वालुषा[1], बरफी, दूधपेड़ा, हल्वा आदि शब्द भी तेलुगु में प्रयुक्त होते हैं।

---

१. वालुषा, बादुषा भी कहा जाता है।

फल आदि से संबन्धित शब्दावली :

१. अंगूरु	अंगूर फा.	एक प्रसिद्ध फल
२. आलुबुकारा	आलूबुखारा	
३. किस्मिस्सु	किशमिश	
४. कर्बूजा	खरबूजा	
५. तर्बूजा	तर्बूजः	
६. बादपप्पु	बादाम	
७. सीमबादम् पप्पु	बादाम	
८. सारा[1]	सारा फा.	एक पेय पदार्थ -
९. हुक्का	हुक्कः अ.	हुक्का

इन शब्दों से संबन्धित कैपु=कैफ़, निषा=नशा, आदि शब्द भी इसी प्रसंग में स्मरणीय है। आम की किस्मों में इमामपसंदु, दिलपसंदु, जहाँगीरु मामिठ आदि भी उल्लेखनीय हैं।

सुगन्धित द्रव्य आदि

१. अत्तरु	इत्र अ.	पुष्पसार
२. अत्तरु सीसा	शीशः फा.	इत्र की शीशी
३. सब्बु	साबून अ.	साबुन
४. सुर्मा	सुर्मः फा.	एक पत्थर जो पीस कर आँखों में लगाया जाता है।
५. सीसा[2]	शीशः फा.	दर्पण आदि

च. विभिन्न पेशों से संबन्धित शब्दावली :

१. खासावाडु	खासा	रईसों और ज़मींदार के-

---

१. सार शब्द का अर्थ फारसी में खालिस हैं, अर्थात् जिस में किसी अन्य वस्तु का मेल-मिलाप न हो, जो बिलकुल शुद्ध हो। तेलुगु में यह शब्द उस मादक पेय पदार्थ के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो शुद्ध माना जाता है। फारसी का विशेषण तेलुगु में एक संज्ञा बन गया।

वि. सू. जहाँगीरी शब्द जो फारसी में विशेष प्रकार की चूड़ियों के लिए प्रयुक्त है, वह तेलुगु में इमरती के लिए प्रयुक्त होता है।

२. फा० में शीशः और हिन्दी में सीसा शब्द का अर्थ दर्पण है, परन्तु तेलुगु में उसी अर्थ में इस्तेमाल होता है, जिस अर्थ में हिन्दी में सीसी शब्द का प्रयोग होता है।

		महलों में काम करने वाला नौकर ।
२. चपरासि	चपरासी हि.	चपरासी
३. कसायिवाडु[1]	कसाई हि. कस्साब अ.	निर्दय, निठुर
४. दलालु, दलाली	दल्लाल अ.	दलाल
५. दर्ज़ीवाडु	दर्ज़ी	कपड़ा सीने वाला
६. दुकाणंदारु	दूकानदार	
७. मजदूरी, मजदूर	मजदूरी	मेहनताना, पारिश्रमिक
८. मिरासी	मिरास अ.	मीरास
९. मालीषु	मालिश फा.	मालिश
१०. मेस्त्री	फा० मिस्तरी तथा अं० मेस्टर	मिस्त्री, हाथ सफ़ाई करने वाला ।
११. वकीलु	वकील अ.	वकालत करने वाला
१२. षाहुकारु	साहूकार हि.	बड़ा सेठ
१३. अलमारु	अलमिरा पु. अलमारी हि.	अलमारी
१४. कुरिची, कुर्चीं	कुर्सी अ.	कुर्सी
१५. किटिकि	खिड़की हि.	झरोखा
१६. कूजा	कूजा फा.	मिट्टी की सुराई
१७. केवु	खेवा हि.	नाव का किराया, उतराई
१८. कोठे	कोठी हि.	हवेली, बँगला
१९. कोर्	खोरा हि.	पानी का लोटा
२०. आपुकोरा	आबखोरा फा.	पानी पीने का लोटा
२१: इस्तिरी	इस्तरी हि.	इस्त्री लोहे की
२२. इस्तरी पेट्टे	इस्तिरी हि.– पेट्टे ते.	इस्त्री लोहे की
२३. गार	गारा हि.	गारा
२४. गिलाव	गिलाबू: फा.	गिलावा
२५. गुमाश्तागिरी—		गुमाश्तागिरी
२६. गौटु	गौट हि.	कपड़े का किनारा

१. कसाई का अर्थ किसी निष्ठुर व्यक्ति का बोध दिलाता है परन्तु तेलुगु में अर्थसंकोच के कारण यह शब्द केवल मृतपशुओं की खाल निकालने वाली एक विशेष जाति के व्यक्ति के लिए रूढिबद्ध हो गया है ।

२७. चप्परमु	छप्पर हि.	छप्पर
२८. जामारु[1]	जामा अ.	पहनने का कपड़ा
२९. तनाबि[2]	तिनाव अ.	तनाव
३०. तराजु[3]	फा. तराज़ू	तोलने का यन्त्र, तुला
३१. बिचाना	बिछाना हि.	बिछाना, बिस्तर
३२. बोरेमु	बोरा हि.	थैला, बोरी
३३. पुनादि	बुनियाद फा.	आधार, नींव
३४. बर्मा	बर्मः फा.	लकड़ी में छेद करने का यंत्र
३५. दरवाजा	दरवाजः फा.	द्वार
३६. बुरुजु	बुर्ज अ.	गुंबद, मंडप
३७. मरम्मतु	मरम्मत अ.	जीर्णोद्धार, टूटी फूटी चीज़ की दुरुस्ती ।
३८. रैतु[4]	रैय्यत अ.	किसान
३९. बंजरु	बंजर हि.	ऊसर भूमि
४०. फसलु	फ़स्ल अ.	खेत की उपज
४१. फसली	फ़स्ली अ.	अकबर का चलाया एक सन् जो तेलुगु के पंचांगों में भी पाया जाता है ।
४२. तक्कवी	तक़ावी अ.	सरकारी क़र्जा जो किसान को बैल और बीज आदि के लिए दिया जाता है ।

१. जामार शब्द का तेलुगु में अर्थापकर्ष हुआ है । आजकल यह केवल विधवा स्त्रियों के कपड़ों के लिए इस्तेमाल किया जाता है । फिर भी जामा शब्द ने नीमाजामा समासित प्रयोग में अपना गौरवपूर्ण अर्थ निभा रखा है। लौकिक व्यवहार में वाडु नीमाजामा वेसिकोनि वच्चाडु जैसे प्रचलित वाक्य सुनाई देते हैं जहाँ इस शब्द का असली अर्थ में प्रयोग होता है । २. यह शब्द मकान के छप्पर में डालने वाले बड़े लकड़े के लिए भी तेलुगु में इस्तेमाल होता है। ३. एक छंद में चाटूक्ति इस प्रकार है– ई राजुसु राजुले पेनु तराजुलु गाक धरातलम्मुनन् । इस शब्द का अन्य प्रचलित रूप त्रासु है । ४. तेलुगु में नेल्लुरु से 'जमीनु रैतु' नामक एक तेलुगु पत्रिका निकलती थी । इस शीर्षक के दोनों शब्द तेलुगु के नहीं, इससे तेलुगु भाषा-भाषियों का अन्यभाषा के शब्दों के प्रति जो सहज प्रेम है, वह साफ़ लक्षित होता है ।

४३. वरंडा	बरामदा फ़ा.	दालान, बराम्दा
४४. लंगरु	लंगर फा.	लंगर
४५. वस्तादु	उस्ताद फा.	शिक्षक, अध्यापक
४६. फलुमाणु	पहलवान फा.	पहलवान
४७. कुस्ती	कुश्ती फा.	कुश्ती

छ. वैज्ञानिक शब्दावली

तेलुगु में इन भाषाओं से कई वैज्ञानिक शब्द प्राप्त हुए हैं। ये शब्द चिकित्सा, गणित आदि विज्ञानों से संबंधित हैं। सभी शब्दों का निदर्शन इस छोटे से लेख में नहीं हो सकता। केवल कतिपय शब्द दिये जा रहे हैं।

१. एक्कमु[1]	एक्कम् हि.	पहाड़ा
२. सरासरि[2]	सरासर हि.	नितांत, बिलकुल
३. लेक्क	लेखा हि.	गणित, हिसाब
४. मलामु	मरहम अ.	पलस्तर
५. मलामु पट्टी	मरहम पट्टी अ. हि.	मल्लम पट्टी
६. सुस्ति[3]	सुस्ती फा.	ढीलापन

---

१. तेलुगु में यह शब्द बहुत प्रचलित है। हिन्दी में पहाड़े इस प्रकार आरम्भ होते हैं। उदा. एक एक्कम् एक, दो एक्कम् दो। तेलुगु में इस शब्द को यहीं से लिया गया है और इस शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ है। फलतः तेलुगु में सभी पहाड़ों के लिए ' एक्कम '़सामान्य शब्द बन गया है। इस प्रकार हिन्दी का अध्ययन अनजान में तेलुगु का बालक करने लगता है। उदा. एक्कालु चदुवक पोते वीपु मरम्मतु चेसेस्तानु सुमा– यदि पहाड़े नहीं पढ़ते तो पिटाई होगी।

२. इस शब्द पर तेलुगु में अर्थादेश और अर्थसंक्रमण दिखाई देता है। उदा. सरासरि पौम्मु। यहां अर्थादेश हुआ है। इस वाक्य का अर्थ है सीधे जाओ, यहां सरासरि का अर्थ सीधा है। सरासरि तेक्कलु में यह हिसाब का शब्द है, जिससे पाठशाला जाने वाला हर तेलुगु विद्यार्थी परिचित ही है।

३. सुस्ति शब्द के अर्थ में अर्थसंकोच काम करता दिखाई देता है। अर्थसंकोच के साथ यह पद रूढिग्रस्त हो गया है। तेलुगु में यह शब्द केवल अस्वास्थ्य, बीमारी के अर्थ में प्रयुक्त होता हैं।

७. दाणा	दान: फा.	प्रतिदिन घोड़े को दिया जाने वाला अन्न।
८. अरकु	अर्क़ अ.	दवाओं का खींचा हुआ अर्क
९. कलेजा[1]	कलेजा हि.	कलेजा

ज, ललित कलाओं से संबंधित कतिपय शब्द

१. तंबूरा	तानपूरा सं. हि.	तंबूरा
२. तबला	तब्ल फा.	तबला
३. तासामबां	तास अ.	एक बाजा
४. नगारा	नगारा फा.	एक बाजा
५. नगिषी[2]	नक्शी फा.	जिस पर बेलबूटे का काम-हो।
६. सन्नायि[3]	शहुनाई फा.	शहनाई
७. सितारु[4]	सितार	सितार आदि

झ प्रकीणक शब्दावली

हिन्दी, अरबी, फारसी आदि से आये हुए विविध विषयों के शब्दों की सख्या बहुत बड़ी है। इन में पशु-पक्षी तथा जीवन से संबन्धित वस्तुओं के बहुत से नाम तेलुगु में प्रयुक्त होते हैं, अतः इस प्रकार के शब्दों का ठीक-ठीक वर्गीकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस क्षेत्र के कतिपय मुख्य शब्द दिये जा रहे हैं।

१. अरबी	अरबी	अरब का घोडा

---

१. तेलुगु में इस शब्द का अर्थविस्तार हुआ है। लाक्षणिक ढंग से इसका प्रयोग आम जनता किया करती है। उदा. नीके कलेजा उंटे ई पनि चेयिय चूस्तानु—यदि तुम्हारी हिम्मत पड़ती तो यह काम करो, देखा जाएगा। इस प्रकार यह तेलुगु में धैर्य आदि अर्थ देता है।

२. फारसी का विशेषण तेलुगु में संज्ञा बन गया। ३. यह शब्द भारतीय संस्कृति का और खास कर तेलुगु सांस्कृतिक जीवन का एक अंग ही बन गया है। शह्नाई के मधुर संगीत के बिना कोई मंगलकार्य संपन्न हो ही नहीं सकता। ४. यह एक प्रकार से भारतीय संगीत और ईरानी संगीत कला के समन्वित रूप का फल है, जिसके आविष्कर्ता अमीर खुसरो माने जाते हैं।

२. इराकी	इराक़ी अ.	पूर्वी अरब के एक देश का घोड़ा।
३. इरानी	ईरानी फा.	ईरान का घोड़ा
४. तुरानी[1]	तुर्की तु.	तुर्की देश का घोड़ा
५. अस्तबलमु	अस्तबल फा.	घुड़साल
६. रकाबु	रिकाब अ.	रिकाब
७. जीनु	ज़ीन फा.	घोड़े की पीठ पर कसी जाने वाली काठी।
८. स्वारि[2]	सवारी	वाहन
९. लाडमु[3]	नाल अ.	नाल-लोहे का हल्क़ः।
१०. बातु[4]	बत फा.—बतख हि.	बतख़
११. बुलबुलु, बुल्बुलु	बुलबुल फा., अ.	बुलबुल
१२. अगावु[5]	अगाऊ हि.	बंधक, धरोहर।
१३. अयिवेजु	आवाजाई हि.	आनाजाना, जन्ममरण
१४. अमानुदस्ता	हावनदस्त फा.	इमामदस्ता
१५. अडावुडि	हड़बड़ी हि.	उतावली
१६. अमांबापतु	आम बाबत अ. वि.	सभी प्रकार के प्रकीर्णक
१७. अल्लाटप्पा	अललटप्पू हि.	अटकलपच्चू

१. ईरानी शब्द के मिथ्यासादृश्य के आधार पर यह शब्द तेलुगु में आप ही आप बना है क्योंकि इस प्रकार का कोई शब्द उन भाषाओं में नहीं है।

२. इसे समध्वनि लोप का उदाहरण मान सकते हैं। इसमें एक ही ध्वनि की आवृत्ति से एक ध्वनि का लोप हो गया है। इस शब्द के पहले अक्षर स में जो अ की ध्वनि है उसका लोप हुआ है क्योंकि उसके बाद के व में भी यही 'अ' है। ३. नआल में वर्णव्यत्यय होना भाषा-विज्ञान का साधारण नियम है। और इसी प्रकार का ल और ड भी विनिमयेय ध्वनियाँ मानी जाती है। इस प्रकार अरब का ना'ल शब्द तेलुगु में लाडमु बना है। ४. बतख की ख ध्वनि में ह की ध्वनि के मिथ्यासादृश्य से उसका लोप हुआ जैसे वाहवाह में अंतिम ह ध्वनि का लोप होता है और तदनन्तर भाषा-विज्ञान का क्षतिपूरक दीर्घीकरण। उसके बाद तेलुगु की उकारांत प्रवृत्ति के अनुसार शब्द बातु हुआ है। ५. अगावु में अर्थादेश हुआ है। तेलुगु में इस शब्द का अर्थ है अतिरिक्त धन आदि।

१८. कबुरु, कबुरुलु[1]	ख़बर अ.	समाचार
१९. गप्पालु[2]	गप हि.	गप्प
२०. गरुज़ु[3]	ग़रज़ अ.	आशय
२१. गाबरा	घबराहट	
२२. चाकु	चाकू तु.	चाकू
२३. जेंडा	झण्डा हि.	पताका
२४. जंजाटमु	झंझट हि.	नाहक झगड़ा
२५. जबाबु, जाबु	जवाब अ.	उत्तर, समाधान
२६. जागा	जगह हि. जायगाह फा.	स्थान
२७ जोडा	जोड़ा हि.	युगल, युग्म
२८. जोडु	हि. जोडा	जोड़ा
२९. जोरु	हि. जोर	ज़ोर
३०. टालाटोलि	टालटूल हि.	टालमटोल
३१. डोंगु	ढोंग हि.	चालाकी, दग़ा
३२. दोंग[4]	ढोंग हि.	वही
३३. ढक्कामुक्कीलु[5]	धक्कामुक्कियाँ हि.	धक्कामुक्की
३४. तंटा[6]	टंटा हि.	झगड़ा

१. एक वचन में यह शब्द समाचार का पर्याय है परन्तु बहुवचन में यह गपशप के अर्थ में आता है।

२. गप्पालु नित्य ब. व. रूप में ही इस्तेमाल होता है । इसका एकवचन रूप तेलुगु में नहीं है ।

३. इस शब्द में भी अर्थपरिवर्तन पाया जाता है । तेलुगु में यह आवश्यकता के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त होता है ।

४. यह शब्द तेलुगु कोशकारों की दृष्टि में देशज है अर्थात् ठेठ तेलुगु को है, दे. शब्दरत्नाकरमु पृ. ४०१ । परन्तु यह विचार भ्रामक मालूम पड़ता है । कारण यह है कि द्राविडकुल की अन्य भाषाओं–तमिल़, कन्नड, और मल़–यालम में इसके समानार्थवाची शब्दों में और इस में रूपगठन का कोई सादृश्य नहीं दिखाई देता । तमि. कल्लन्, कन्न. कल्लु और मल. कल्लन् शब्द है । अतः यह माना जा सकता है कि यह सब्द तेलुगु में हिन्दी से ही प्राप्त हुआ है ।

५. इस शब्द का प्रयोग तेलुगु में सुखदुःख, जीवन का उतार चढ़ाव आदि के अर्थ में होता है । ६. अर्थादेश के अनुसार इस शब्द का अर्थ झगड़ा है ।

३५. तगादा	तक़ाज़ा अ.–तगादा हि.	माँग
३६. तपिसीलु	तफ़सील अ.	विवरण, ब्यौरा
३७. तफावतु	तफ़ावत् अ.	अंतर, दूरी
३८. तमाषा	तमाशा अ.	बाजीगरों या मदारियों आदि का खेल
३९. तयनायति[1]	तैनाती अ.	नियुक्ति
४०. तैयारु	तय्यार अ.	सिद्ध, तैयार
४१. तरहा[2]	तरह् अ.	भाँति
४२. तर्जुमा[3]	तर्जुमः अ.	अनुवाद
४३. ताहतु	ताक़त अ.	शक्ति, बल
४४. तीन्तारु	तीन-तेरह होना हि.	तितर बितर हो जाना
४५. दंडुरा[4]	ढिंढोरा हि.	मुनादी
४६. दगुलुबाजी	दग़ेल बाजी	दाग़ –एल – बाजी, वंचना धोखा
४७. दवुडु	दौड़ हि.	दौड़
४८. दाचिन चेक्क	दालचीनी हि.	दारचीनी
४९. नाजूकु[5]	नाज़ुक फा.	कोमल
५०. नामर्दा[6]	नामर्दी फ़ा.	भीरुता

१. इस शब्द के अर्थ का बिलकुल अपकर्ष हुआ है। इस का अर्थ आजकल प्रेमी–प्रेमिकाओं के बीच दौत्य करने वाला हो गया है। २. इस शब्द के अर्थ की छाया कुछ बदल सी गयी है, चालचलन के अर्थ में तेलुगु में व्यवहृत हो रहा है। ३. अर्थसंक्रमण के अनुसार तेलुगु में यह शब्द वादविवाद के लिए भी आता है— उदा. वाल्लिदुद्दरु चाल संपु तर्जुमा पंड्डारु —वे दोनों बहुत समय तक वादविवाद करने लगे। ४. अर्थादेश विधि से इस का अर्थ लोकवाणी में पीडा देना, तंग करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है 'वाडु नन्नु दंडूरा चेयडं मोदलु पेट्टाडु' –वह मुझे तंग करने लगा।

५. नाजूकु संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दे. 'नाजूकु लेदुरा नंडूरि सुब्बिगा। ६. इदि नामर्दा पनि—यहाँ विशेषण के रूप में है। कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जो मूलतः विशेषण हैं परन्तु जिनके यत्किंचित् परिवर्तित रूप संज्ञा के रूप में तेलुगु में प्रयुक्त होते हैं। वैसे ही कुछ शब्द जिनका मूल रूप संज्ञा है, तेलुगु में विशेषण के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

५१. नामोषी	नामूस अ.	लज्जा, शरम
५२. पत्ता[1]	पता हि.	पता
५३. परवा[2]	परवाह् फा.	ध्यान, चिन्ता
५४. पायकाना	पाखान फा.	शौचालय
५५. पुकारु[3]	पुकार हि.	हाँक, टेर
५६. बलादूरु	बलिहारी हि.	बलैया लेना
५७ बाजा	बाजा हि.	बाजालु
५८. बाजाबजंत्रीलु	बाजा हि.–बजंत्री हि.	बाजा बजाने वाले, बजनियाँ
५९. मज़ा[4]	मज: फा.	स्वाद, आनन्द
६०. मजाका[5]	मज़ाक अ.	मजाक
६१. मोतुबरि	मोतबर अ.	रईस
६२. आसामि	असामी अ.	जमींदार से जोतने के लिए खेत लेने वाला
६३. रास्ता[6]	रास्त: फा.	मार्ग, पथ

१. एन्नाल वेदकिना वानि पत्ता दोरक लेदु इस प्रकार के वाक्य लोकवाणी में बहुत मिलते हैं । हिन्दी में अतापता भी कहा जाता है ।आश्चर्य है कि इसको भी तेलुगु ने तद्भव रूप में ग्रहण किया है– वानि अजापजा कनुक्कोन्नवाडु लेडु । परन्तु अर्थ में थोड़ा परिवर्तन हो चला है– उसके बारे में ध्यान देने वाला अथवा उसकी देखरेख करने वाला कोई नहीं है ।

२. तेलुगु में अर्थादेश विधि के अनुसार इस शब्द का अर्थ अंग्रेज़ी के अर्थ में प्रयुक्त होता है । मीरु कुर्चीलो कुरुचोंडि निल्चुन्नारु पापमु । दानिकेमि । परवा लेदु । आप कुर्सी में बैठिये, यों ही खड़े हो रहे हैं । कोई बात नहीं ।

३. अर्थादेश के अनुसार यह तेलुगु में किंवदंती अथवा अफ़वाह के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

४. तेलुगु में इस शब्द की द्विरुक्ति भी बातचीत में हुआ करती है जिससे और भी मज़ा मिलता है । ई आट मजा मजागा उंदि—यह खेल बहुत ही मज़ेदार रहा है ।

५. इदेमि मजाका अनुकोन्नावा ? इस प्रकार का व्यवहार आमजनता में बहुत चलता है। इसका भाव है– यह काम करना आसान नहीं हैं ।

६४. वतनु[1]	वतन अ.	जन्मस्थान
६५. वाकबु[2]	वाक़िफ़ अ.	परिचित
६६. वापसु[3]	वापस फा.	प्रत्यागत
६७. षरा[4]	शर्ह अ.	विशेष सूचना
६८. षिकारु[5]	शिकार	शिकार, मृगया
६९. सरंजामु	सरंजाम फा.	सामान, सामग्री
७०. सामानु	सामान फा.	माल असबाब
७१. सेम्मे	शमअ अ.	दीवट
७२. हंगामा	हंगामा फ़ा.	हंगामा
७३. हद्द	हद अ.	सीमा
७४. हयामु	हयात अ.	
७५. हामी	हामी अ.	
७६. हुषारु	होशियार फा.	

जब दूसरी भाषा अथवा संस्कृति का प्रभाव पड़ता है तब यह प्रभाव गाली गलौज में भी लक्षित होता है। तेलुगु की गालियों में भी इन भाषाओं का प्रभाव देख सकते हैं। कतिपय उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

७७. बदमाषु	बदमाश	फा. बद + अ. मआश।
७८. लमिडी	लौंड़ी हि.	दासी
७९. लुच्छा	लुच्चा हि.	कुमार्गी

---

१. अर्थ-संक्रमण विधि के अनुसार इस शब्द का अन्यार्थ तेलुगु में किसी काम को आदतन करने के भी हैं। उदा० 'वाडु माकु वतनुगा पालु पोस्तुन्नाडु' वह हमको दूध दिया करता है।

२. यह शब्द मूलतः विशेषण होते हुए भी तेलुगु में संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है।

३. वापसु का हाल भी वाकबु की तरह ही है।

४. तेलुगु की आम जनता में यह शब्द बहुत प्रचलित है। इस सब्द का प्रचार नाटक कंपनियों के द्वारा बहुत हुआ है। उदा० षरा — समयानुकूलमुगा रेट्लु हेच्चिप्पु बड्डुनु।

५. अर्थसंकोच विधि के अनुसार इस शब्द का व्यवहार केवल टहलना और हवा खाने के लिए सीमित रह गया है।

८०. लफ़ंगु	लफंगा हि., फा. लफ़ंग	आवारा
८१. षोदा	शोहदा अ.	लंपट, व्यभिचारी
८२. हरामखोरु	हराम अ. + फा. खोर	पाप की कमाई खाने वाला

इस क्षेत्र की खूबी यह है कि इस में अन्य भाषा के शब्दों का तुरन्त स्वागत किया जाता है। खिताब, उपाधि आदि से भी सम्बन्धित कतिपय शब्द मिलते हैं।

खानसाहब, खानबहादुर, षेकु, मीर्जा, मौल्वी, बख्षी, साहब आदि उपाधियाँ प्रायः मुसलमानों के साथ ही लगती हैं। दिवानबहद्दरु, रावसाहेब, रावबहद्दरु, आदि प्रायः हिन्दुओं के साथ प्रयुक्त होती हैं। केवल साहेबु शब्द अथवा इसका तद्भवरूप सायिबु बोलचाल में मुसलमान शब्द का पर्यायवाची है।

कभी-कभी व्यक्तियों के नामों में सामाजिक संस्कृति और भाषायी एकता की झलक मिलती है। इन शब्दों के पीछे धार्मिक विश्वास तथा ऐसा ही कोई कारण छिपा रहता है। 'मस्तानु रेड्डी' आदि नाम इसी प्रकार के हैं। गुंटूर में मस्तान नामक औलिये के नाम पर हर वर्ष उर्स भरता है, जिसमें हिन्दू भी बड़ी तादाद में शामिल होते हैं। जिनके कोई बच्चा नहीं होता वे इस पीर की मनौती करते हैं और जब बच्चा होता है तो अपनी संतान को उस औलिये के नाम से पुकारते हैं।

साधारणतया जब कोई सशक्त भाषा अन्य भाषा के शब्दों को ग्रहण करती है, तब अधिकतर संज्ञाएँ ही ली जाती हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् एस्पर्सन् का मन्तव्य है कि अन्य भाषा से आतिथेयी भाषा संज्ञा शब्दों और कुछ हद तक विशेषण शब्दों को ही ग्रहण किया करती हैं[1]। और आतिथेयी भाषा बिरले ही, अतिथि-भाषा से प्रत्यय, क्रिया आदि ग्रहण करती है। इस महान् भाषाविद् का यह भी विचार था कि जब कोई शब्द गृहीत होता है तब प्रायः यह देखा जाता है कि शब्द का प्रथम रूप ही लिया जाता है और उस शब्द के विभिन्न व्याकरणिक रूप जो लिंग, वचन आदि के कारण बनते हैं, नहीं लिये[2] जाते। परन्तु हमें यह देख कर महान् आश्चर्य होता है कि तेलुगु ने न केवल आभिधानिक रूपों को ही अतिथि-भाषा से ध्वनि संबन्धी आवश्यक परिवर्तनों के साथ अपनाया है, न केवल संज्ञाओं के प्राथमिक रूप ही लिये हैं न केवल कतिपय विशेषणों को ही अपनाया है, अपितु कहीं-कहीं अतिथि भाषा के प्रत्यय

१. देखिये एस्पर्सन लैंग्वेज पृ० २११।
२. देखिए वही पृ० २ ३।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चिह्नों को भी स्वीकार कर लिया है। अन्य भाषाओं से क्रियाविशेषण, आश्चर्य बोधक शब्द आदि भी स्वीकार किये हैं, क्रियावाचक शब्द भी अपनाये गये हैं, यहाँ तक कि वाक्यांशों और वाक्यों तक को स्वीकार किया गया है। हाँ ऐसा करते हुए तेलुगु ने उन्हें अपनी प्रकृति के अनुसार ढाला है। अतिथि भाषाएँ हिन्दी, अरबी, फ़ारसी तथा आतिथेयी भाषा तेलुगु में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व अथवा सहजीवन का उपादेय सिद्धांत इतनी सुन्दरता के साथ लागू हुआ है कि कहीं इन में वैमनस्य तक दिखाई नहीं देता। ऐसे अनेकानेक मिश्रित शब्द तेलुगु भाषा में घुलमिल गये हैं। इन सभी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन हम निम्नलिखित पंक्तियों में कराते हैं।

गृहीत विशेषण	अर्थ	प्रयोग
१. असलु	वास्तविक	असलुमाट–सही बात
२. कोरा	नहीं धुला हुआ	कोरा गुड्ड
३. गरम	गरम	गरम चाय, गरम मसाला गरम गरम चाय।
४. चालाक	चालाक	चालाकी पिल्ल
५. खाली	शून्य	खाली गदि
६. ताजा	ताजा	ताजा कालं
७. नाजुक़	नाजुक	नाजुकु माट।
८. मामूल	मामूली	मामूलु धोरणि।
९. ततिम्मा	बाकी	ततिम्मा विषयमु
१०. तमामु	तमाम	तमामु सामानु
११. तयारु	तैयार	तयारु साद।
१२. सादा	सादा	सादा जीवनमु।

कभी विशेषण शब्द संज्ञा के बाद भी प्रयुक्त होता है। उदा० माट खाली अंते। साद तयारु। कलं ताजा।

कतिपय अवसरों पर संज्ञा विशेषण का काम भी देती है। यह बात तेलुगु भाषा की प्रकृति के अनुकूल है। उदा० नामर्दा पनि, मेहरबानी माट, लाचारी व्यवहारमु। तगादा मनिषि, तफावतु माट आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

सर्वनाम :— अन्यभाषा परिवार के सर्वनाम शब्द भाषाविज्ञान के अनुसार कदापि आतिथेयी भाषा में स्थान नहीं पा सकते परन्तु तेलुगु में एकाध

उदाहरण इस प्रकार का भी पाया जाता है। उदा० पिता अपने बेटे से कहता है– "फलाना वारि अब्बायि अंटे नाकु नामर्दा बाबु। इटुवंटि पनि चेयकु"।

क्रिया विशेषण

तेलुगु में कतिपय क्रि. वि. शब्द भी गृहीत हुए हैं। उदा० आखरुकु, अमेषा, हमेशा,

भेषुग्ग बेशक वानि पाट भेषुग्गा उंदि

जरूरु जवाबु जरूरु।

बहुत से क्रियाविशेषण संज्ञाओं और विशेषण शब्दों के साथ 'गा' जोड़ने से बनते हैं। इस विधान के अनुसार अन्य भाषाओं से भी इस प्रकार के कई शब्द गढ़े गये हैं। जल्दीगा– उदा० जल्दी गा रा, जल्दी रा।

आश्चर्यादि बोधक अव्यय

शाबासु। सेबासु। वाहवा। मज्झा रे। बापु रे[1] आदि। कपड्दार, खबरदार आदि भी अव्ययों के रूप में इस्तेमाल होते हैं।

रचनात्मक प्रत्ययः —

आइ–मुगलाई–दे. मोगलाइ दरबारु।

दारु–दार–उदा. अग्रहारमु दारु आदि।

वार—उदा. रैत्वारी भुमुलु, दफालवारी गा।

भाषायी एकता की साधना का भव्यरूप संकर अथवा मिश्रित शब्दों में मिलता है। तेलुगु में प्राप्त ये संकर शब्द कई प्रकार के हैं।

संकर शब्द

१. अतिथि भाषाओं से ज्यों का त्यों गृहीत संकर शब्द जैसे–

दिलासा—दिल फा.–आसा हि.

निघामानु निगाह फा.–मानु, अं. संतरी।

२. तेलुगु और अन्यभाषा के शब्दों का मिश्रण

अल्लंमुरब्बा—अल्लं ते.–मुरब्बा अ.

चेरुमालु—चेयि ते.—रुमालु रुमाल फा.

१. बापुरे कौरवनाथ नी सर्ग, बिच्चेद जीवितेच्छ गलदेनि वयल्पडुमय्य प्रक्कुनन्। पाण्डवविजय नाटक।

३. अन्यभाषाओं और तेलुगु के मिश्रण से—

जेबुगुड्डा, राजमहलु,

कच्चा पच्चा, कच्चा हि.–ते. पच्चि । कच्चा के साहचर्य से तेलुगु का पच्चि शब्द पच्चा बन गया है ।

खासावाडु खासा–वाडु ।

पामुकोडु पांव हि.—कोडु ते.

संदुकाय पेट्टे संदूक पेट्टे । इस में पहले संदूक शब्द संदुक हुआ । क्षतिपूर्ण दीर्वीकरण नियम के अनुसार संदुका बना । दीर्घान्त शब्द तेलुगु प्रकृति के अननुकूल है, अतः उस पर और भी तेलुगुपन जोड़ा गया । फलतः शब्द संदुकाय बना और उसके साथ समानार्थी पेट्टे भी जुड़ गया ।

सिकारायि सिक्का अ. –रायि ते.

कभी-कभी तेलुगु का प्रत्यय जोड़ने से संकर शब्द बनता है ।

शाणातनमु—शान फा.—तनमु ते. का प्रत्यय ।

हुंदातनमु ओहदा —तनमु ।

कहीं कहीं संकर शब्द के दोनों अंश समानार्थी रहते हैं, परन्तु प्रायः अर्थ पर बल देने के लिए ऐसा प्रयोग किया जाता है । इन शब्दों को अवधारणार्थक शब्द कहते हैं ।

उदाहरणः—

दीपम् सेम्मे

रहदारि —राह-दारि

सिग्गुशरमु सिग्गु ते. शरमु–शरम फा.

'मेजा बल्ल' संकर शब्द होते हुए भी इस अवसर पर हमारे मतलब का नहीं है क्योंकि इस में मेजा पुर्तगाली शब्द है ।

क्रियाएँ:— इन भाषाओं से कई क्रियापद भी लिए गये हैं और बोलचाल में उनका निस्संकोच रूप से प्रयोग होता है। कतिपय उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

१. इंचुट् प्रत्यय जोड कर :—

अटकायिचट—अटकाना हि.

उडायिंचुट उड़ाना हि.

तयारिंचुट—तयारिपु यहाँ क्रियापद क्रि. वि. से बना है ।

दबायिंचुट　　दबाना ।
परकायिंचुट　परखना हि.
फिरायिंचुट　　फिराना हि.
बनायिंचुट　　बनाना हि.
बिडायिंचुट　　भिड़ाना
बुकायिंचुट　　बकना हि.
सतायिंचुट　　सताना हि.
समुदायिंचुट　　समझाना हि.

इन्हीं से निकले हुए अटकायिंपु, बनायिंपु, दबायिंपु, सतायिंपु आदि शब्द भी जनता की वाणी में काफी प्रचलित है ।

टकायिंचुट वस्तुतः अटकाना क्रि. प. से निकला है परन्तु आद्याक्षर लोप होने से टकायिंचुट हुआ है । उदा० 'वाडु नन्नु टकायिंचि अडियाडु' ।

मुहावरे

कुछ मुहावरे भी बनाये गये हैं । उदा० 'तस्सागोय्य वाडेंतवाडु अनुकुन्नावु ?' तस्सा शब्द ठस्सा से है ।

लंकरु अंदुट —नाकु लंगररंड लेदु— मुझे मालूम नहीं हो रहा है । आदि ।

तेलुगु के कतिपय मुहावरों में और इन भाषाओं के मुहावरों में कुछ आकस्मिक सादृश्य दिखाई देता है । परन्तु हमें यह नहीं भुलना चाहिए कि यह सादृश्य आकस्मिक है और किसी एक भाषा के मुहावरों को किसी अन्य भाषा से प्रभावित नहीं माना जा सकता ।

उदाहरण के लिये लीजियेः—

फारसी का मुहावरा	हिन्दी का मुहावरा	ते. मुहावरा
१. दस्त पेश दाश्तन	हाथ पसारना	चेयि चाचुट
२. दिल बार निहादन	दिल पर बोझ रखना	गुंडे मीदि बरवु
३. दिल दादन	दिल देना	मनसिच्चुट
४. पुश्त नमूपन	पीठ दिखाना	वेन्निचुट
५. सर बुलन्द करदन	सिर ऊँचा करना	तल येत्ति तिरुगुट
६. जुबान दादन	वचन देना	माट इच्चुट

कहीं-कहीं तेलुगु ने पूरा वाक्य ही अपना लिया है । उदा० 'वाडु तन

वैरिनि कडेरावु अन्नाडु'– उसने अपने दुश्मन को खड़े रहो कहा। तेलुगु वाक्य में हिन्दी का विध्यर्थक वाक्यांश 'खड़े रहो' पूरा का पूरा अपनाया गया है जो बहुत ही आश्चर्यजनक विषय है। लोकोक्तियों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखायी देती है–'जागा एरिगि बैठो अन्नारु पेद्दलु' लोकोक्ति में 'तीन' ए तेलुगु शब्द है और बाकी दोनों हिन्दी हैं।

निष्कर्ष यह है कि तेलुगु जनता की वाणी में सैकडों हिन्दी, अरबी, फारसी तथा हिन्दी के शब्द घुलमिल गये हैं। इससे यह पता चलता है कि भाषायी एकता की साधना के पथ पर तेलुगु भाषा ने कितनी प्रगति की है और अन्य भारतीय भाषाओं के समक्ष इस दिशा में कितना सुन्दर एवं समुज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया है।



आंध्र का लोक-साहित्य

श्री क० राज शेषगिरि राव

आंध्र-प्रदेश भारत का एक राज्य है । इतिहास तथा भौगोलिक स्थिति के अनुसार आंध्र-प्रदेश का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । आंध्र उत्तर एवं दक्षिण भारत के बीच का भूभाग है । इस प्रदेश के पूर्व में उडीसा, उत्तर में मध्य प्रदेश, पश्चिम में मैसूर तथा दक्षिण में मद्रास प्रदेश है ।

आंध्र-प्रदेश के निर्माण के लिए बहुत दिनों तक आन्दोलन चलता रहा । श्री पोट्टि श्रीरामुलु के आत्म-बलिदान के पश्चात भारतीय संघ का यह प्रथम राज्य है, जिसकी स्थापना भाषा के आधार पर १, अक्टूबर १९५३ को हुई । तत्पश्चात् १ नवंबर १९५६ ई. को हैदराबाद का तेलंगाना क्षेत्र भी इस प्रदेश में मिल गया, इस प्रकार वर्तमान आंध्र-प्रदेश का निर्माण हुआ । आंध्र-प्रदेश अब पूरी तरह से भारतीय संघ का राज्य है । अपने पूर्वजों के प्रताप की स्मृति में वर्तमान आंध्र नेताओं ने 'तेलुगु' शब्द से बढ़ कर प्राचीन 'आंध्र' शब्द स्वीकार किया है । आंध्र-प्रदेश अपने अक्षर-बल से (अंग्रेज़ी वर्ण माला के अनुसार) पहला राज्य है ।

आंध्र-प्रदेश में श्रीकाकुलम, विशाखपट्टनम, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, नेल्लूर, कड़पा, कर्नूल, अनंतपुर, चित्तूर, हैदराबाद, महबूब नगर, आदिलाबाद, निजामाबाद, मेदक, करीमनगर, वरंगल, खम्मम और नलगोंडा नामक बीस ज़िले हैं। इसमें १८९ तालुके हैं, १००० माल-गुजारी के हल्के, २२३ नगर एवं २८,९४५ गाँव हैं। आंध्र-प्रदेश के तीन भाग हैं । तटीय भाग, रायल सीमा, और तेलंगाना । तटीय भाग में श्रीकाकुलम, विशाखपट्टणम, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, नेल्लूर ज़िले हैं । कडपा, कर्नूल, अनंतपुर, और चित्तूर रायल सीमा में । तेलंगाना में हैदराबाद, महबूबनगर, आदिलाबाद, निजामाबाद, मेदक, करीमनगर, वरंगल, खम्मम तथा नलगोंडा ।

आंध्र-प्रदेश की प्रधान नदियाँ कृष्णा, गोदावरी तथा पेन्ना हैं। गोदावरी आंध्र राज्य की उत्तरी गंगा है, कृष्णा नदी मध्य गंगा है और पेन्ना दक्षिणी गंगा है। आंध्र का नागार्जुन सागर विश्व में सबसे बडा बाँध होगा।

तेलुगु में मंदिर को 'देवालय' कहते हैं। आंध्र-प्रदेश में असंख्य मंदिर हैं, जिनमें अनेक प्रकार की स्थापत्य कलाओं का प्रयोग हुआ है। तिरुपति में श्री वेंकटेश्वर स्वामी का दिव्य एवं पवित्र मंदिर है। श्री वेंकटेश्वर स्वामी को उत्तर के लोग 'बालाजी' कहते हैं। श्री कालहस्ती में कण्णेश्वर का मंदिर है। शिव मंदिर के समीप ब्रह्म-मंदिर है। आंध्र-प्रदेश में यही एक मंदिर है जहाँ पर ब्रह्मा की उपासना की जाती है। श्रीशैलम में मल्लिकार्जुन देवालय है। सिंहाचलम 'सिंहगिरि' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहाँ नरसिंह भगवान का मंदिर है। भद्राचलम में श्री रामचंद्रजी का मंदिर है। अमरावती में अमरेश्वर भगवान का मंदिर है। अलमपुर में संगमेश्वर एवं नवग्रहों के मंदिर हैं। वेमुलवाडा में सर्वेश्वर का मंदिर है।

आंध्र, तेनुगु एवं तेलुगु

आंध्र, तेनुगु एवं तेलुगु पर्यायवाची शब्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति के विषय में पंडितों के विभिन्न मत हैं। इन में 'आंध्र' शब्द अति प्राचीन एवं अधिक प्रचलित शब्द है। यह देश, जाति व भाषापरक शब्द है। 'अंध्र' प्राचीन रूप था, आंध्र अर्वाचीन रूप है। श्री भाव राजु वेंकट कृष्णराव ने बताया था कि अंध्र रूप ही शुद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप कथा के संदर्भ में 'आंध्रों' का उल्लेख आया है। इस कहानी से यह पता चलता है कि ऐतरेय ब्राह्मण की रचना से पहले ही आर्य लोग आंध्र जाति से परिचित थे। तेलुगु भाषी प्रदेश 'वेंगी देश' भी कहलाता था। वेंगी कभी दग्ध राष्ट्र था। दंडकारण्य को जला कर निवास योग्य बनाने के कारण यह नाम पडा। 'वेगु' का अर्थ उदय है अर्थात् सूर्योदय। सूर्य का अर्थ है 'अंधारी'। जो सूर्यभक्त थे वे ही आंध्र थे। 'वेंगिनाडु' का संस्कृत अनुवाद है 'अंधारि पथ'। अंधारि पैशाची प्राकृत शब्द है। 'अंधारि' क्रमश अंधर, 'अंध्र' बन गया होगा। 'अंधारि' की पूजा करने वाले आंध्र थे। प्लिनी नामक इतिहास-वेत्ता (प्रथम शताब्दी) ने इस का उल्लेख किया है। 'तालमी' नामक ग्रीक भूगोल शास्त्रज्ञ (ई. १५०) ने लिखा है कि 'अरुवना' नामक जाति के लोग चोल मंडल के उत्तर और कृष्णा नदी के दक्षिण में तटीय भाग पर रहते

हैं। बौद्ध वाङमय में आंध्र अंधक नाम से व्यवहृत हुए। पुराणों में सातवाहन वंश को आंध्र वंश कहा गया है।

तेनुगु : 'तेनुगु' शब्द का प्रयोग तेलुगु साहित्य के आदि कवि नन्नय भट्टारक ने अपने 'आंध्र महाभारत' की भूमिका में किया है। 'त्रिनग' का रूपांतर तेनुगु है। तीन पर्वतों के बीच में स्थित प्रदेश ही त्रिनग है। कुछ विद्वान कहते हैं कि 'तेने' का अर्थ मधु है। 'तेने' की तरह जो मधुर हैं (तेने + अगु) वही तेनुगु है। आन्ध्र-प्रदेश में प्राचीन काल में 'नागु' जाति वाले रहते थे। इनका प्रिय देव 'तिरु नाग' था। इन के नाम पर नागार्जुन-कोंडा प्रसिद्ध हुआ। 'तिरु' का अर्थ है 'श्री' और 'नाग' का अर्थ है पर्वत, तिरु नाग या 'तिरुमला' का अर्थ श्री पर्वत है। तेलुगु का देशी शब्द 'नागु' पैशाची प्राकृत एवं संस्कृत में 'नाग' है।

सन् १३५८ के श्रीरंगम के शिलालेख में दिलिंग की सीमाओं का उल्लेख है। दिलिंग देश के उत्तर में कान्यकुब्ज, पश्चिम में महाराष्ट्र, पूर्व में कलिंग तथा दक्षिण में पांड्य राज्य थे।

विद्यानाथ कवि काकतीय नरेश प्रतापरुद्र द्वितीय (सन् १४००) की राजसभा में थे। इन्होंने प्रतापरुद्र यशोभूषण नामक एक लक्षण ग्रंथ लिखा। उसमें इसका विवेचन किया गया है कि श्रीशैल, द्राक्षाराम और कालेश्वर लिंग के बीच का भूभाग 'त्रिलिंग' प्रांत कहलाता है। 'नागु' कलिंग विंध्य पर्वत के दक्षिण में रहते थे। इसलिए ये तेन् + नागु = दक्षिण के नागु नाम से प्रसिद्ध हुए। द्रविड भाषा में तेन का अर्थ है दक्षिण। अगुवारु का अर्थ है रहने वाले। तेनुगु का अर्थ हुआ दक्षिण के रहने वाले।

कुछ विद्वानों का कथन है कि 'ले' और 'ने' का उच्चारण स्थान 'दंत्य' है। तेनुगु अति प्राचीन शब्द है। 'तेलुगु' उसका विकृत रूप है।

तेलुगु : इस शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भी मतभेद हैं। श्री टेक–मल्ल कामेश्वरराव 'आन्ध्र आदि पदों की व्युत्पत्ति' नामक लेख में लिखते हैं कि 'तिरुलिंग' का संस्कृत रूप त्रिलिंग है। तिरुलिंग जातिवाले मल्लि–कार्जुन की पूजा करते थे।

कुछ विद्वान इसे त्रिकलिंग शब्द से उद्भूत मानते हैं। इन लोगों के विचार से उत्कलिंग, मध्य कलिंग, दक्षिण कलिंग इन तीनों का समवाय ही त्रिकलिंग है। इसी त्रिकलिंग शब्द से तेलुगु शब्द निष्पन्न हुआ।

जनसंख्या :– सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार आन्ध्र-प्रदेश की जन संख्या ३, ६,८०,००० है जो समस्त देश की जनसंख्या की ८.२ प्रतिशत है। आन्ध्र-प्रदेश की जनसंख्या केनाडा, आस्ट्रेलिया, युगोस्लाविया, ईरान तथा संयुक्त अरब गणराज्य इन सबसे ज़्यादा है। जनसंख्या और वर्गफल के हिसाब से यह लंका, आस्ट्रिया, बेलजियम, स्विटजरलेंड से भी अधिक बड़ा है। इस दृष्टि से यह भारत का चौथा राज्य है। क्षेत्रफल के आधार पर इस राज्य का पाँचवाँ स्थान है। ज़िलों में गुंटूर ज़िले की जनसंख्या (३०,०९,९००) सर्वाधिक और आदिलाबाद (१०,०९,२९२) की सबसे कम है।

समग्र राज्य को ध्यान में रखा जाए तो १००० पुरुषों के पीछे ९८१ नारियाँ हैं। तटवर्ती ज़िलों में यह अनुपात अधिक हो जाता है। राज्य की आबादी का १७.४ प्रतिशत भाग नगरों में रहता है। इस राज्य में कुल १२१२ शहर अथवा कस्बे हैं। राज्य की जनसंख्या का ८२.६ प्रतिशत गाँवों में रहता है। राज्य के अनुसूचित वर्गों की जनसंख्या का अनुमान १३.८ प्रतिशत है।

आन्ध्र राज्य की जनसख्या का २१.२ भाग साक्षर है। साक्षरता की दृष्टि से देश में आन्ध्र-प्रदेश का १५ वाँ स्थान है। पुरुषों में शिक्षितों की संख्या ३०.२ प्रतिशत है। सुशिक्षित स्त्रियों का अनुपात १२ प्रतिशत है। आन्ध्र राज्य के श्रमजीवियों को मजदूर और गैरमजदूर दो वर्गों में बाँटा जाता है। फिर श्रमजीवियों को नौ वर्गों में विभाजित किया गया है।

'देशी' परम्परा का ऐतिहासिक क्रम :

प्रोफेसर कोराड रामकृष्णय्या के अनुसार भाषा, छंद एवं साहित्य की दक्षिणी रीति को देशी रीति कहते हैं। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के संपर्क से जो परंपराबद्ध विशिष्ट – रचना– पद्धति अपनायी गयी उसे 'मार्गरीति' कहते हैं। नन्नय्या ने देशी और 'मार्गी' दोनों के समन्वय से अपना काव्य रचा। उन्होंने संस्कृत महाभारत का आन्ध्रानुवाद किया। देशी-भाषा तेलुगु को नये रूप में ढाल कर तथा तरु वोज, मध्याक्कर, अक्कर, मधुराक्कर आदि देशी छंदों को अपनाकर उन्होंने जीवित भाषा की धारा को अविरल बहने दिया। नन्नेचोडु ने 'जानु' (देशी) तेलुगु के संबंध में लिखा है कि यह सरल होती है। पालुकुरुकि सोमनाथ ने शैव-धर्म के प्रचार के लिए देशी गीतों एवं छंदों का प्रयोग किया था। आन्ध्र भाषा के उद्भव पर दृष्टिपात करें तो यह सहज ही परिलक्षित होगा कि आन्ध्र लोक जीवन की समस्त पृष्ठ-भूमि लोक वार्ता एवं लोक तत्वों पर आधारित होगी। लोक-साहित्य समाज

के विकास के साथ-साथ पनपने वाली अनुपम लोक संपत्ति है। परंतु इसके उत्थान की भी एक धारा है। लोक साहित्य के विकास की कहानी प्राचीन ग्रंथों में अस्पष्ट रूप में मिलती है। विभिन्न ग्रंथों से गीतों के प्रचलन का ज्ञान होता है, किन्तु लोक गीतों के गाने की पद्धति का परिचय नहीं मिलता। फिर भी यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रंथों में लोक-संबंधी प्रचुर सामग्री समय-समय पर परिष्कृत करके संकलित की गयी। कुछ काव्य ग्रंथों में राग, ताल आदि का भी उल्लेख है। लोक गीतों के द्वारा शिष्ट साहित्य की रक्षा युग-युगों से होती आरही है। आन्ध्र साहित्य के इतिहास में तीन ऐसे अवसर आये जब लोक गीतों ने साहित्य को जीवित तथा सशक्त बनाया। सर्व प्रथम अनुवाद युग या पुराण युग के शैव एवं वैष्णव कवियों की रचना में, दूसरा अठारहवीं शताब्दी में यक्षगान एवं निर्गुण संत कवियों के समय मेंऔर तीसरा वर्तमान काल में। इन अवसरों पर आन्ध्र के लोकगीतों के द्वारा 'शिष्ट' साहित्य की धारा पुष्ट होने के साथ-साथ सुरक्षित रही। ' पद कविता पितामह ' ताल्ल पाक अन्नमाचार्य (१५वीं शताब्दी उत्तरार्ध) ने लोक-गीतों की शैली पर अनेक गीतों का प्रणयन किया। उनकी धर्मपत्नी एवं प्रथम आन्ध्र कवयित्री ताल्लपाक तिम्मक्का ने ' सुभद्रा कल्याणमु ' नामक गीत स्त्रियों के गाने के लिए लिखा।

तेलुगु कविता ' आशु, मधुर, चित्र एवं विस्तार ' नामक चार भागों में विभाजित है। मधुर कविता के अंतर्गत 'पद' एवं 'गेय' रूप आते हैं। देशी कविता को तेलुगु में ' मधुर कविता ' कहते हैं। गंधर्व गान मार्गी और यक्ष गान देशी शैली का है। यक्षगानों में देशी लोक गीतों की अनुपम संपत्ति है। यों यक्ष गानों का अध्ययन लोक गीतों के क्रमिक विकास की जानकारी के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। गीत प्रबंधों का आधार यक्ष गान है। यक्ष गानोंका कथा-नक समाज में प्रचलित लोक कथात्मक गीतों से लिया जाता था, स्त्रियों की रचनाओं से यह स्पष्ट विदित होता है कि यक्षगान केवल प्रबंधात्मक ही नहीं होते उनमें लोक प्रचलित गीतों का संकलन भी रहता है। यों यक्षगान देशी साहित्य का उज्वल एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। तेलुगु में निर्गुण संतों को ' अचल योगी ' कहते हैं। इन के पदों को तत्वमु (लु) या ' वचन (मु) लु ' कहते हैं। इन के पदों को ' तित्ति ' तत्वालु भी कहते हैं। साधु संत ' तित्ति ' वाद्य को बजाते हुए पद गाया करते हैं। लोक गीतों के रूप में इनके गीत अधिक प्रचलित हैं। नयी कविता पर लोक गीतों का जो प्रभाव लक्षित होता

है उसे हम मोटे तौर पर पाँच भागों में बाँट सकते हैं– (१) लोक वस्तु (२) लोक-प्रतीक (३) लोक-संगीत (४) लोक-भाषा (५) लोक-सरलता। यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए समकालीन लेखकों ने लोक गीत एवं लोक कक्ष के शिल्प का सहारा लिया है। प्रगतिशील लेखकों ने लोक गीतों की उपेक्षा कभी नहीं की।

लोक साहित्य और उसके विभिन्न रूप .—

लोक साहित्य को प्रधानतया चार भागों में विभक्त किया जाता है।

(क) लोक-गीत एवं कथात्मक गीत

(ख) लोक कथा

(ग) लोक–नाट्य

(घ) लोक सुभाषित

(क) लोक गीत :—

लोक साहित्य में लोकगीतों का प्रमुख स्थान है। लोक-जीवन के अनु–कूल लोक-गीत अनेक प्रकार के हैं। लोक-जीवन की आवश्यकताएँ पूर्णतया स्पष्ट हैं। धन-संपत्ति, संतान, दीर्घायु एवं शत्रुओं पर विजय। इनकी प्राप्ति देवी-देवताओं की अनुकंपा के बिना नहीं हो सकती। अतः देवी-देवताओं की अनुकंपा और उनकी अप्रसन्नता का अभाव भी प्रयोजनीय है। इसीलिए स्त्रियों के अधिकांश लोकगीत अनुष्ठानों से संबंधित हैं। स्त्रियों के लिए शास्त्रानु-मोदित व्रत विधान का निषेध किया गया है। आन्ध्र प्रांत में स्त्रियों के लिए 'नोमु' का विधान किया गया है। 'नियम' का तद्भव रूप ही 'नोमु' है। 'नोमु' के साथ व्रत-कथा, व्रत-माहात्म्य आदि विशेष अंग जोड़ दिये गय हैं। रचना की दृष्टि से 'नोमु' संबंधी गीत दो प्रकार के हैं।

(१) प्रबंधात्मक (२) मुक्तक।

(१) प्रबधात्मक :— इन गीतों में व्रत-कथा, माहात्म्य, अनुष्ठान-पद्धति, उद्यापन, प्रयोजन एवं व्रत-भंग का प्रायश्चित्त आदि विषयों का उल्लेख रहता हैं। इस श्रेणी के गीतों की संख्या अधिक नहीं है। श्रावण मंगलवार (मु), श्रावण शुक्रवार (मु), 'कामेश्वरी पाट' आदि प्रबंधात्मक गीत हैं।

(२) मुक्तक :— मुक्तक गीत छोटे होते हैं। प्रत्येक 'नोमु' के प्रारंभ अथवा उद्यापन के पश्चात स्त्रियाँ इन्हें गाया करती हैं। इनमें 'नोमु' संबंधी विशेषताओं एवं प्रयोजन का उल्लेख रहता है। यह गीत मंत्र का-सा काम करता है। अट्ल तदिय, उंड्राल तदिय, गोब्बि पंडुण, चिक्कुल्ल गौरी

व्रतमु, चिट्टि बोट्टु, बतकम्मा, बोड्डेम्मा मूगनोमु आदि अधिक प्रचलित आनुष्ठानिक व्रत संबंधी मुक्तक गीत हैं ।

(३) **निरनुष्ठानिक गीत** :— साधारण गीतों में अनुष्ठान की कोई गुंजाइश नहीं होती । इनका प्रधान उद्देश्य विनोद होता है । ये गीत दो प्रकार के होते हैं । कुछ गीत विशेष अवसर पर विशेष व्यक्तियों द्वारा गाये जाते हैं । इन्हें 'अवसर गीत' कहते हैं । कुछ गीत हर समय गाये जाते हैं । इन्हें तीरिक वेळ पाड़ु पाटलु गीत—प्रत्येक अवसर पर गाये जाने वाले गीत कहते हैं । इन गीतों में सामूहिक चेतना अधिक मात्रा में नहीं रहती । श्रोता लोग चुपचाप गीत सुनते रहते हैं । ये गीत दो तरह के होते हैं । (१) बुर्र कथाएँ (२) पुण्य कथाएँ । 'बुर्र' कथाएँ सामंतयुगीन जीवन की प्रतीक हैं । पुण्य कथाएँ स्त्री समाज के लिए निर्देशित पारमार्थिक गीत हैं ।

'बुर्र' कथाओं को 'तंदान पद' कहते हैं । बुर्र कथाएँ सामूहिक रूप से गायी जाती हैं । इन्हें चारण गीत कह सकते हैं । वीर भावना का आदिम स्रोत इनमें परिलक्षित होता है । इन गीतों के लिए वाद्य अनिवार्य हैं । कथानक के अनुसार गति बदलती रहती हैं । 'जंगम' कथाएँ कथात्मक लोकगीतों के ऐतिहासिक विकास क्रम को सूचित करती हैं । रचना-शैली को दृष्टि में रख-कर डाक्टर जोगाराव जंगम कथा को यक्षगान का विकसित रूप मानते हैं ।

रचना के आधार पर बुर्र कथा निम्न लिखित दो रूपों में उपलब्ध है। (१) प्रबंध काव्यों के रूप में (२) मुक्तक गीतों के रूपों में । प्रबंध काव्यों के रूप में उपलब्ध कथाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है

(१) वीर तथा ऐतिहासिक पुरुषों से संबंधित ।

(२) सती स्त्रियों से संबंधित ।

(३) शक्ति से संबंधित ।

मुक्तक वर्ग में कुछ स्फुट पद आते हैं । ये पद किसी घटना विशेष की स्मृति अथवा साक्षी में लिखे गये हैं । इन पदों में वीर-पूजा की गुंजाइश अधिक होती है । वीर-पूजा से संबंधित गीतों में भूत-प्रेत, बैताल, पिशाच, वीर तथा डाकुओं का वर्णन मिलता है ।

इस प्रकार के ये गीत तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं । (१) वीर पुरुष संबंधी । (२) पतिव्रता स्त्रियों से संबंधित । (३) शक्ति-संबंधी ।

(१) वीर-पुरुष-संबंधी : कोंडारेड्डी, गुर्राल गोपीरेड्डी, चिन्नप्परेड्डी, मल्लन्ना, नंदिरेड्डी, सर्वायि पापड्डु, वीर भद्रारेड्डी आदि गीत इसी वर्ग में आते हैं।

(२) पतिव्रता स्त्रियों से सम्बन्धित गीतों में : 'ईरजानम्म', 'मुस-लम्मा', 'कामम्मा' आदि गीतों की गिनती होती है।

(३) शक्ति सम्बन्धी कुछ कथाएँ मुक्तक होती हैं—अंकम्मा, गंगानम्मा आदि की कथाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

'पुण्य' कथात्मक गीत : इन्हें **परमार्थिक** गीत भी कहते हैं। पुण्यकथात्मक गीतों का सम्बन्ध पुराणों की कथाओं से है। रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्-भागवत लोक कवियों के लिए भी उपजीव्य काव्य रहे हैं। सारांश यह कि न्यूनाधिक रूप में सभी पुराण कथाओं को लोक गीतों में ढाला गया है। स्त्रियाँ अत्यन्त भावुक होती हैं, ये पूजा-पद्धति की अपेक्षा पौराणिक आख्यानों से अधिक प्रभावित हुई हैं। इसीलिए आंध्र लोक-साहित्य की श्रीवृद्धि 'पुराण' संबंधी गीतों से हुई है। पौराणिक-कथाओं से सम्बन्धित गीतों के चार मुख्य भेद हैं—

(१) रामायण-संबंधी

(२) महाभारत-संबंधी

(३) भागवत-संबंधी

(४) फुटकर

संस्कार-गीत :

हिन्दू-जीवन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त विभिन्न संस्कारों से आबद्ध है। सोलह संस्कार मुख्य हैं। इनमें जन्म एवं विवाह प्रमुख हैं। इन अवसरों पर गाये जाने वाले गीत उल्लास एवं आनन्द से ओत-प्रोत होते हैं। मृत्यु संबंधी गीत अधिक नहीं हैं।

जन्म-संबंधी गीत :

जन्म से पहले प्रसव और सीमंत आदि संस्कारों के अवसर पर भी गीत गाए जाते हैं। जन्म संस्कार संबंधी गीत मुख्यतः दो प्रकार के हैं :

(अ) जन्म लेने के अवसर से संबंधित

(आ) जन्म विषयक अन्य अवसरों से संबंधित। जन्म लेने के अवसर के गीतों के **चार उपभेद हैं :**

(१) वेविल्ल पाटलु (दोहद-गीत)
(२) नील्लाडु पाटलु (प्रसव-गीत)
(३) पुरुडु पाटलु (सौर-गीत)
(४) बालेंत पाटलु (जच्चा-गीत)

जन्म से सम्बन्धित अन्य गीतों में छठी, कुँआ पूजना आदि के गीत हैं।

विवाह-संस्कार संबंधी गीत :

आंध्र की विवाह-विधि के तीन भाग किये जा सकते हैं। पहला वाग्दान, दूसरा विवाह और तीसरा गर्भाधान। विवाह सम्बन्धी गीतों में तीनों प्रकार के गीतों का समावेश होता है। विवाह के पूर्व गाये जाने वाले गीत, दूसरे विवाह के शुभ अवसर पर गाये जाने वाले और तीसरे विवाहानंतर गाये जाने वाले गीत। विवाह-संस्कार से संबंधित लगभग बाईस प्रकार के गीत गाये जाते हैं। ये गीत औपचारिक गीत हैं जो केवल मांगलिक महत्त्व रखते हैं और बहुधा किसी वैदिक आचार के साथ गाये जाते हैं।

(क) **विवाह के पूर्व** गाये जाने वाले गीत तीन प्रकार के हैं :
(१) पेंड्लि-चूपुलु (परस्पर अवलोकन)
(२) फल-दान (मु)
(३) कोट्णमुलु (कूटन-गीत)

(ख) **विवाह गीत :** ग्रह-नक्षत्रों का योग देख कर विवाह का दिन निश्चित किया जाता है। आंध्रों में साधारणतया विवाह-संस्कार चार दिन तक चलता है। यहाँ मामा की बेटी से भी विवाह हो सकता है। नलुगु (उबटन), स्नान (मु), अबिरेणी (लक्ष्मी) पूजा, बासिगमु (ललाटक) गीत, मंगल-सूत्र, तलंब्रालु (अक्षत), विनोद गीत, बंतुलाट (गुच्छों का खेल), वसंतालु (गुलाल-खेल), पसुपु-गंधमु (हल्दी-गन्ध), अभ्यंग स्नान (मु), तिलकमु (बिंदी-गीत), सोम्मुलु (आभूषण गीत), विर्डेमु (पान-गीत), पति-भक्ति संबंधी गीत, अलुगु-पाटलु (रूठने के गीत), बुव्वंति-पाटलु (भोज-गीत), पानुपु-पाटलु (सेज गीत), नागवल्ली, द्वार गीत आदि।

शोभन पाटलु, अप्पगिंतलु (बिदाई-गीत) विवाहोत्तर गीत हैं। इनमें कन्यापक्ष के गीत करुण रस-प्रधान होते हैं। इन गीतों में वर वधू, गौरी-शंकर, सीता-राम, रुक्मिणी-कृष्ण हैं। पैरों के लिए मट्टेलु (छल्ले) पहनना तेलुगु देश की स्त्रियों का विशिष्ट आचार है। विवाह की विधि में मामा का विशिष्ट स्थान रहता है। वह मंगल-सूत्र व छल्ले बनवा कर लाता है। बिदाई के अव-

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सर पर कन्या के आँचल में चावल बाँध दिये जाते है। इसे तेलुगु में 'ओडिगंटि बिय्यमु' कहते हैं।

व्यवसाय-गीत बड़ी संख्या में गाये जाते हैं। इन गीतों के दो भेद हैं :

(१) कृषि-कार्य सम्बन्धी (२) अन्य व्यवसाय सम्बन्धी।

कृषि-कार्य सम्बन्धी गीतों के अनेक उपभेद हैं :

(१) विन्नंटि पदालु (बीज-वपन गीत)

(२) नाटुलु (रोपनी के गीत)

(३) कलुपु (सोहनी गीत)

(४) कोत (कटाई गीत)

(५) नूर्पुल्लु (अवगाहन गीत)

(६) पोलि (फ़सल-गीत)

(७) मोट पाटलु (मोट या कपिल गीत)

अन्य व्यवसायों से सम्बन्धित गीत दो प्रकार के हैं :

(१) गृह-जीवन-सम्बन्धी (२) बाह्य-जीवन-संबंधी।

गृह-जीवन-सम्बन्धी गीत रोकंटि पाट (मूसल-गीत)

विसुरु राति पाट (जंतसार या चक्की गीत)

कव्वमु (मथनी गीत)

राट्णमु (चरखा गीत)।

बाह्य जीवन-सम्बन्धी गीत विभिन्न क्रियाओं को सूचित करते हैं। कुछ लोग रस्सी बुनते हैं। कुछ लोग ईंट, पत्थर ढ़ोते हैं। कुछ लोग कुल्हाड़ी से पेड काटते हैं। कुछ लोग गाड़ी खींचते हैं। परिश्रम की थकान मिटाना ही इन गीतों का मुख्य उद्देश्य है। इन गीतों में शृंगार का पुट रहता है।

ऋतु-गीत– आंध्र-प्रदेश में इन गीतों की संख्या अधिक नहीं है।

पर्व-गीत– बड़ी मात्रा में मिलते हैं। 'युगादि', 'संक्रांति' जातीय पर्व हैं। 'युगादि' पर्व नववर्ष के आगमन के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। संक्रांति फ़सल का पर्व है, विनायक चतुर्थी एवं दशहरे के अवसर पर आठ-दस वर्ष की आयु के बच्चे गीत गाते हैं। 'बोंडुम्मा' पर्व तेलंगाना प्रांत का जातीय पर्व है। स्त्रियाँ इसे विशेष रूप से मनाती हैं। जातीय पर्वों के अवसर पर गाये जाने वाले गीत 'जातीय पर्व-गीत' कहलाते हैं।

नैमित्तिक गीतों का सम्बन्ध किसी तिथि-विशेष से नहीं होता। चेचक निकलने पर तेलंगाना प्रांत में बोनालु आयोजित होता है। अन्य प्रांतों में 'जातर' या 'कोलुपु' का आयोजन किया जाता है।

नैमित्तिक पर्व-संबन्धी गीत दो प्रकार के हैं।

(१) संक्रामक बीमारियों से सम्बन्धित।

(२) देवी से सम्बन्धित

संक्रामक रोगों से सम्बन्धित अनेक गीत हैं। इनमें 'पोचम्मा' के गीत उल्लेखनीय हैं। आंध्र प्रदेश में 'शीतला' को 'पोचम्मा' कहते हैं। एल्लम्मा, कूनलम्मा, गोंतालम्मा आदि साधारण देवी सम्बन्धी गीत उल्लेखनीय हैं।

जाति-गीत– विशेष जाति के लोग गाते हैं। जाति विशेष के लोग अपना काम करते समय इन गीतों को गाते हैं। इन गीतों में उनके धंधे का उल्लेख रहता है। इन गीतों को हम 'विशेष-जाति-गीत' कह सकते हैं।

कुछ लोग जाति से भिक्षुक रहते हैं। आँध्र प्रदेश में अनेक ऐसी जातियाँ हैं, जो दर-दर घूमते हुए भीख माँगती हैं और गीत गाती हैं। इन लोगों के गीतों को हम 'भिक्षुक-जाति-गीत' कह सकते हैं। इनमें कुछ गीत स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। ये स्त्री-परक-गीत हैं। कुछ पुरुष गाते हैं। ये पुरुष-परक-गीत हैं। विशेष-जाति-सम्बन्धी गीतों में निम्न लिखित गीत उल्लेख-नीय हैं:

(१) कोय मामा पाट, (२) गोल्ल पाट (ग्वाल-गीत), (३) चाकलि-पाट (धोबी गीत), (५) नेतगानि पाट (जुलाहा गीत), (५) पल्लेवानि पाट (मछुआ गीत), (६) पसुलकापरि पाट (चरवाहा गीत), (७) मादिग पाट (चमार गीत), (८) मालित पाट, (९) मेदरि-पाट, (१०) 'यानादि' पाट।

भिक्षुक-जाति-सम्बन्धी गीतों में निम्न लिखित गीत उल्लेखनीय हैं:

(१) काशी-कावडिवाडि पाट (काशी– कावडी वाला गीत)
(२) काशी पेट्टेवानि पाट (काशी पेटिका वाला गीत)
(३) कोतिदानि पाट (मदारिन गीत)
(४) गारडीवानि पाट (मदारी गीत)
(५) गोषाई-पाट (गुसाई-गीत)
(६) गंगिरेद्दु पाट (वृषभ-गीत)
(७) बुडबुक्क-पाट (डमरु वाला गीत)
(८) तुरुकवानि पाट (तुर्क-गीत)
(९) पामुलवानि पाट (सँपेरा-गीत)
(१०) बीद-ब्राह्मणुनि पाट (गरीब-ब्राह्मण गीत)

(११) बिच्चकुल गीत (भिक्षुक गीत)

(१२) सातानिजिय्यरुदासु पाट ।

क्रीडा गीत :

खेल-कूद के समय बच्चों के द्वारा अनेक गीत गाये जाते हैं। खेल सम्बन्धी गीतों का भण्डार समृद्ध है। ये गीत जन-जीवन की व्यवहारिक चेतना व्यक्त करते हैं। इन गीतों से जहाँ मनोरंजन होता है, वहाँ शारीरिक व्यायाम की प्रेरणा भी मिलती है। क्रीडा गीत प्रायः अर्थहीन होते हैं। इनमें यमक और अनुप्रास का बाहुल्य रहता है। ऐसे गीतों को कुछ पंडित 'ताल के गीत' कहते हैं। डा० सदाशिव कृष्ण फडके इन्हें 'ध्वनि गीत' कहते हैं। यों खेल ताल एवं गीतों का समवाय ही बाल गीत का रूप लेता है। इनमें कुछ लय-बद्ध गीत हैं, कुछ अर्थ-हीन गीत हैं व और कुछ हास्य तथा व्यंग्य के गीत हैं।

क्रीडा-गीत दो प्रकार के हैं।

जो खेल अकेला बच्चा खेलता है उसे 'व्यक्तिगत' खेल कहते हैं। जो खेल सामूहिक रूप में खेले जाते हैं उन्हें 'सामूहिक खेल' कहते हैं। कुछ खेल केवल बालिकाओं के लिए निर्दिष्ट हैं। कुछ खेल केवल बालक खेलते हैं। बालक और बालिकाओं के लिए व्यक्तिगत खेल लगभग एक जैसे हैं किन्तु सामूहिक खेलों में भिन्नता होती है।

बालकों के सामूहिक खेल चेडिगुडु, कबड्डी, गोलि-बिल्ला (गिल्ली-डंडा), बट्टे-आट (गोली) आदि हैं।

'चेंम्मचेक्क', 'ओय्यारि माम', 'ओप्पुलकुप्प', 'अच्चेनगाय' आदि बालिकाओं द्वारा खेले जाने वाले सामूहिक खेल हैं।

भक्ति-गीत : अनेक प्रकार के हैं। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(१) सगुण-भक्ति-परक-गीत

(२) निर्गुण-भक्ति-परक-गीत

भक्ति गीत गेय होते हैं। संगीत के बिना नामोच्चारण करने से मन चंचल रहता है। दूसरा कारण यह है कि ईश्वर संगीत से जितना प्रसन्न होता है उतना दूसरे उपचारों से नहीं। सगुण-भक्ति-परक गीतों का संबंध अधिकतर लोक-जीवन से है। 'मेलुकोलुपु' (प्रभात गीत) भजन, संकीर्तन व पूजा-गीत, कोलाट, तलुपु-दग्गरि पाटलु (द्वार-गीत), मंगल-आरती आदि सगुण-भक्ति-परक गीत हैं।

तेलुगु में निर्गुण भक्तों को अचल योगी कहते हैं। साधु-संत निर्गुण-भक्ति-परक-गीत गाते हैं। इनके गीतों को तत्वमु (लु) या 'वचन' (मुलु) भी कहते हैं। निर्गुण संतों के पदों को 'तित्ति' (भोपा) 'तत्वालु' भी कहते हैं।

'प्रकीर्ण' गीत अनेक है।

जोल पाटलु (लोरियाँ), लालिपाटलु (लालन-पालन गीत), प्रेम गीत आदि इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। लोक गीतों में लोरियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। लालि पाट झूले के गीत हैं। एला, तिल्लाना आदि प्रेम-प्रधान गीत हैं।

(ख) लोक-कथा :—

आंध्र लोक साहित्य में लोक कथाओं की संख्या बहुत है। व्यापकता और प्रचुरता कीदृष्टि से इन गीतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लोक कथाओं का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है :

(१) विषयानुसार (२) उद्देश्यानुसार।

हमारे धार्मिक क्रिया-कलापों में लौकिक व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्रतों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। लोकोक्ति-कथाओं का प्रसार गाँवों में पाया जाता है। कुछ कथाओं का उद्देश्य केवल मात्र मनोरंजन है। इन कथाओं को बाल-बच्चे बड़े चाव से सुनते हैं। परमानंद शिष्य की कथाएँ, रामलिंग की कथाएँ हास्यपूर्ण कथाएँ हैं। यों मनोरंजन, नीति-कथन, इन लोक कथाओं का उद्देश्य रहता है।

(ब) लोक नाटच :

नाटच जीवन की अनुकृति है। लोक-नाटच लोक-जीवन का प्रति-बिब है।

कूचिपूडि-भागवतम, कोलाट, तोलुबोम्मलाट (चर्म-पुतली गीत), पगटि वेषालु (दिन-दहाड़े वेष-धारण), बुर्र-कथा, यक्षगान, हरिकथा आदि का आंध्र क्षेत्र के लोक नाटचों में प्रमुक स्थान है।

(घ) सुभाषित

(१) लोकोक्तियाँ :

लोक-साहित्य में लोकोक्तियों का महत्त्यपूर्ण स्थान है। इनकी परम्परा भी अत्यंत प्राचीन है।

आंध्रक्षेत्र की बहु प्रचलित लोकोक्तियों के हिन्दी एवं तेलुगु में समानार्थक कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :

अडविलो वेन्नेल काचिनट्लु

जंगल में मोर नाचा, किसने जाना

असले कोति, कल्लु तागिंदि, पैन तेलु कुट्टिंदि

एक तो करेला, दूसरा नीम चढ़ा

इंटि पेरु कस्तूरिवारु इंटिलो गब्बिलाल कंपु

आँख के अंधे, नाम नैन-सुख

इच्चि पुच्चु को मन्नारु

इस हाथ देना उस हाथ लेना

एद्दु ईनिदंटे कोट्टमुलो कट्टिवेय मन्नारु

हिजड़े के घर बेटा हुआ

एवडु तीसिकोनिन गुंटले वाडे पडुनु

मियाँ की जूती मियाँ के सिर

एमी लेनि विस्तर एगिरेगिरि पडुतुंदी

अध जल गगरी छलकत जाय

ओक्क देब्बकु रेंडु पिट्टलु

एक पंथ दो काज

ओक्क ओरलो रेंडु कत्तुलिमड्वु

एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं

ओडलु बंड्लवच्चु, बंड्लोडल वच्चु

कभी नाव गाड़ी में, कभी गाड़ी नांव में

काकि पिल्ल काकिकि मुद्दु

अपनी छाछ को खट्टा कौन कहे

कोंडनु त्रव्वि एलुकनु पट्टिनट्लु

खोदा पहाड़ निकली चुहिया

(२) पहेलियां :

पद्यात्मक पहेलियाँ आंध्र-लोक जीवन का अविछिन्न अंग है। बालकों एवं वयस्कों, स्त्रियों एवं पुरुषों, शिक्षितों एवं अशिक्षितों का इनसे मनोरंजन होता है। ये मनोविकास के साधन भी हैं। अतः इनसे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों का परिचय भी मिलता है। कतिपय पहेलियाँ उदाहण

के लिए दी जा रही हैं—

गोडमीद बोम्म	दीवार पर खिलौना है
गोलुसुल बोम्म	जंजीरों का बना खिलौना है
वच्चे पोय्येवारिकि	आने-जाने वालों को
वड़िचे बोम्म	डसने वाला खिलौना है।
(तेलु)	(बिच्छू)
चिपिरि चिपिरि गुड्डलु	चिथड़े-चिथड़े कपड़े हैं
मुत्यालवंटि बिड्डलु	मोती जैसे दाने हैं।
(मोक्क जोन्न)	(मकई)
कीसुकीसु पिट्ट	चिल्लाने वाली चिड़िया है
मेंलकेसि कोट्ट	जमीन पर फेंक दें।
(चीमिडि)	(रींट)
वंकरटिंकर 'सो'	टेढ़ी-मेढ़ी 'सो'
वाडि तम्मुडु 'अ'	उसका भाई 'अ'
नल्लनिपिल्ल 'म'	काली लड़की 'मि'
नाके मिस्ताडु 'ते'	मुझे दोगे क्या 'ते'
सो—सोंट	
अ—अदरख	
मि—कालीमिर्च	
ते— तेने (मधु)	
अंतुलेनि चेट्टुकु	अनंत वृक्ष है (आकाश)
अरवै नालुगे कोम्मलु	छियासठ डालियाँ हैं (तारे)
कोम्मकु कोटि पूवुलु	डालियों में करोड़ों फूल हैं
पूवुकु रेंडे कायलु	फूलों में दो फल हैं।
	(चाँद-सूरज)

(३) मुहावरे :—

तेलुगु में मुहावरे को 'नुडि' कहते हैं। लोक-साहित्य में मुहावरों का प्रयोग होता है। इनमें लोक-संस्कृति का सजीव चित्रण मिलता हैं। हिन्दी-तेलुगु में समान रूप से प्रयुक्त होने वाले कुछ मुहावरे—

इंटिलो कूर्चुंटे = घर बैठे

उप्पु दिनुट = नमक खाना

कंटिलो दुम्मु कोट्टुट = आँखों में धूल झोंकना

कालं गडुपुट = दिन काटना

कालु चाचि पंडु कोनुट = टाँग पसार कर सोना

कुडि मुजमु = दाहिना हाथ

कोंड विरिगि पडुट = पहाड़ टूटना

मंडि पडुट = गरम होना

गव्वकु कोरव काडु = कौडी काम का नहीं

गोंतु कोयुट = गला काटना

गोंतु पिसुकुट = गला घोंटना

चेवि मीद पेनु पाकुनट्लु = कान पर जूँ न रेंगना

नागु बामु = काला-नाग

निप्पुलो नेयि वेयुट = आग में घी डालना

नीरगुट = पानी पानी होना

पनिकि वच्चुट = काम आना

बुद्धि गड्डि मेयुट = अकल चरने जाना

मंडि पडुट = आग-बगूला होना

मेड-वंचुट = गर्दन झुकाना

मुद्रित साहित्य :

तेलुगु के लोक-साहित्य का संकलन उसका अनुशीलन एवं वैज्ञानिक ढंग से उसका विश्लेषण का कार्य पाश्चात्य विद्वान गत डेढ़ सौ वर्षों से करते आये हैं। भारतीय लोक-साहित्य का अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने, विशेषकर अंग्रेज़ों ने किया है। उन विद्वानों ने जो कुछ किया उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। सन् १८६८ में मिस फ्रेयर नामक अंग्रेज़ महिला ने 'ओल्ड दक्कन डेज़' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें दक्षिण-भारत की लोक-कहानियों का संग्रह किया गया है। सन् १८७१ में चार्ल्स० ई० गोवर ने 'फोक सांग्स आव सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक का संपादन किया। सन् १८८५ ई० में जे० राबिन्सन ने 'टेल्स अंड पोयट्स आव साउथ इंडिया' नामक पुस्तक में दक्षिण भारत के लोक गीतों तथा कुछ कथाओं का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया था।

सन् १९०६ ई० में ई० थर्स्टन ने 'एथनोग्राफ़िक नोट्स इन सदर्न इंडिया' नामक प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें दक्षिण भारत की विभिन्न जातियों का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। १९०९ ई० में इनकी 'कस्टम्स ऐण्ड ट्राइब्स आव सदर्न इंडिया' प्रकाशित हुई। १९१२ ई० इनकी और एक प्रसिद्ध पुस्तक 'सुपरस्टीशन्स आफ सदर्न इंडिया, प्रकाशित हुई, जिसमें दक्षिण भारत के लोगों के अंध-विश्वास, जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, शकुन आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। 'हाइ मेनडाफ़' नामक अंग्रेज़ विद्वान् ने 'दी रेड्डीज आव दी बिसान हिल्स' में बाल-गीतों का संकलन किया है। एक अन्य पुस्तक 'दी चेंचूज़' में इसी विद्वान ने 'चेंचु' नामक आदि जाति से संबंधित नृत्य-परक बाल-गीतों का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रस्तुत किया है, साथ में मूल गीत भी रोमन लिपि में दिये गये हैं। सन् १९४५ में स्पील ने 'फोक सांग्स आव साउथ इंडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की।

सी० पी० ब्राउन ने एशियाटिक जर्नल (वर्ष १८४१, अंक ३४) में बोब्बिलि, नागम्मा आदि कथात्मक गीतों का उल्लेख किया।

जे० ए० ब्राउन ने 'दी इंडियन एंटिक्वेरी' (वर्ष १८७४, अंक ३) में दक्षिण भारत के कुछ लोक गीतों का सविवरण अनुवाद प्रकाशित किया है, जिसमें 'सर्वायि पापडु कथा' मुख्य है।

आसवाल्ड कूलड्रे ने लोक संगीत पर 'इंडियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स' (वर्ष ९३७, अंक ६) में लेख प्रकाशित किया है।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि पिछली शताब्दी में आंध्र लोक गीतों का प्रथम संग्रह एवं प्रकाशन कब किस भारतीय लेखक ने किया। उपलब्ध आंध्र लोक-गीतों के संग्रह-ग्रंथों में श्री नंदिराजु० चलपतिराव द्वारा संकलित 'स्त्रील पाटलु' (सन् १९००) सबसे पहला प्रयत्न ज्ञात होता है।

सन् १९०५ में म० रंगनाथराव ने 'स्त्रील पाटलु' नामक संग्रह प्रकाशित किया।

मद्रास से एन० पी० गोपाल ऐण्ड कंपनी, आ० रे० राजु (१९०८), रंगस्वामी मुदलियार (सन् १९१५) ने कुछ संकलन प्रकाशित किये।

सन् १९२४ में टेकुमल्ल अच्युतराव ने 'आंध्र पदमुलु, पाटलु' नामक संग्रह सीताराम प्रेस, नरसपुर से प्रकाशित किया।

ई० १९३० में 'पात पाटलु' नामक लोक गीतों का संग्रह श्री टेकुमल्ल कामेश्वरराव ने किया, जो इंडिया प्रिंटिंग वर्क्स की ओर से प्रकाशित हुआ था।

आ० पंतुलु की 'फोकलोर आफ़ तेलुगु' नामक पुस्तक नटेशन कंपनी की ओर से प्रकाशित हुई।

लोक साहित्य के अध्येता श्री एल्लोराव ने कुछ संकलन प्रकाशित किये, जिनमें 'मधुर कवितलु', सरागालु, जानपद गेयालु भाग १–२ उल्लेखनीय हैं।

'स्त्रील रामायणपु पाटलु', 'पौराणिकपु पाटलु', 'पल्ले पदालु', लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान श्री कृष्णश्री के महत्त्वपूर्ण संग्रह हैं।

आंध्र लोक साहित्य के सर्वश्रेष्ठ अन्वेषक ऋषिकल्प श्री गंगाधरम से समस्त आंध्र जगत् भली भाँति परिचित है। इनके संग्रह-ग्रंथों में 'सेलयेरु', 'पसिडि पलुकुलु' और 'जानपद गेय वाङमय व्यासावळी' उल्लेखनीय हैं।

श्री प्रयाग नरसिंह शास्त्रीजी का एक संकलन तेलुगु 'पल्ले पाटलु' कविता पब्लिकेशन की ओर से प्रकाशित हुआ है।

'त्रिवेणी' आंध्र लोक गीतों का आधुनिक संग्रह है।

श्री टेकुमल्ल कामेश्वरराव ने 'जनपद वाङमय चरित्र' नामक लेखों का उत्तम संग्रह प्रकाशित किया है। श्री हरि आदिशेषु ने 'जानपद वाङमय विशेषमुलु' नामक पुस्तक में लोक गीतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इल्लिदल सरस्वती की कृति 'जाति रत्नालु' में लोक प्रचलित कथानक गीतों की विवेचना की गयी है। इनकी अन्य कृति 'जीवन सामरस्यमु' में लोक-गीतों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

'विज्ञान सर्वस्वमु' के तेलुगु संस्कृति नामक खंड में लोक गीतों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'उषः किरणालु' में श्री वात्सव ने लोक गीतों पर कुछ टिप्पणियाँ लिखी हैं।

'आंध्रुल चरित्र–संस्कृति' नामक पुस्तक में नोमु नामक आनुष्ठानिक लोक गीतों का विवरणात्मक अध्ययन है।

'सारस्वत नवनीतमु' में श्री रामानुजम ने लोक गीतों की चर्चा की है।

मलंपल्लि सोमशेखर विरचित 'अनादृत वाङमय' नामक लेख पठ-नीय है।

डाक्टर बी० रामराजु ने आंध्र लोक गीतों पर 'आंध्र जानपद साहित्यमु' नामक शोध-प्रबंध तेलुगु में प्रस्तुत किया है। तेलुगु में लोक गीतों पर यह अपने ढंग की पहली पुस्तक है।

एम० एन० श्रीनिवासन ने बम्बई विश्वविद्यालय की पत्रिका (वर्ष १९४५, अंक ४) में 'सम तेलुगु सांग्स' नामक लेख प्रकाशित किया है।

श्री के० सभा ने रायल सीमा के, विशेषतया चित्तूर जिले में प्रचलित अनेक लोकगीतों का संकलन किया है।

श्री तूमटि दोणप्पा ने लोक साहित्य संबंधी कतिपय लेखों को अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किया।

श्री मल्लेल नारायण 'रायल सीमा' प्रांत के लोक-साहित्य के उत्साही संग्रहकर्ता हैं। वे बड़ी तत्परता से विविध लोकगीतों का संग्रह कर रहे हैं।

श्री बादगानी ने मोट गीतों का संकलन किया है।

श्रीकृष्ण श्री ने 'भारती' नामक तेलुगु पत्रिका में लोकगीतों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

'कामेश्वरी कोलुपु' पर सर्वश्री सोमसुन्दर शर्मा एवं यामिजाल पद्मनाभमु –इन दोनों प्रकांड पंडितों ने आंध्र पत्रिका में विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित किये।

समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ये लेख उल्लेखनीय हैं।

विषय	**लेखक**	**पत्रिका**
आन्ध्र देश जानपद गेयमुलु	कवि कोंडल	आन्ध्र महिला, अगस्त १९५०
जानपद गेय रीतुलु	,,	,, मई १९६०
पडव पाटलु	,,	भारती, १९६०
शिशु संगीतमु	ललितादेवी	गृहलक्ष्मी, १९४१
जोललु	मैत्रेयी	गृहलक्ष्मी, सितंबर, १९४९
पल्ले पदालु, स्त्रील पाटलु	रंगाराव	गृहलक्ष्मी १९४१
एरुक	चिंता दीक्षितुलु	भारती, १९४८
स्त्रील देशीय गेयालु	श्री प्रयाग	आन्ध्र महिला, दिसंबर-१९४७
कोलाट	रा. कृ. चक्रवर्ती	भारती, दिसंबर १९५१
जानपद गीतालु	राज शेषगिरी	आन्ध्र प्रभा

अन्य प्रांतों में रहते हुए भी जिन लोगों ने आन्ध्र के लोक गीतों का संग्रह किया है उनका भी यहाँ उल्लेख होना चाहिए।

स्वर्गीय रामनरेश त्रिपाठी आन्ध्र प्रदेश पधारे और उन्होंने यहाँ के अनेक लोकगीतों का संग्रह किया। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'धरती गाती है' नामक लोक गीत संग्रह में भारत के सभी प्रांतों के गीतों का संग्रह किया है।

तेलुगु भाषा-भाषी हिंदी के लेखकों की दृष्टि भी लोक साहित्य की ओर आकृष्ट हुई है।

सर्वश्री डा. पांडुरंगराव, वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति, डा. मंजुलता, दंडमूडि महीधर, दोनेपूडि राजाराव, बालशौरि रेड्डी, जी. एस. राम, क. राजशेषगिरिराव, भीमसेन 'निर्मल', हनुमच्छास्त्री, वाराणसि राममूर्ति 'रेणु' आदि हिंदी लेखकों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लोक-साहित्य संबंधी लेख प्रकाशित किये।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'आन्ध्र की लोक कथाएँ' नामक पुस्तक लिखी है, जो आत्माराम ऐंड सन्स, दिल्ली की ओर से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकाशक की ओर से आन्ध्र की लोककथाएँ, भाग २, ३ भी प्रकाशित हुई हैं। तेलंगाना की लोक कथाएँ भी इनकी ओर से प्रकाशित हुई हैं। 'आन्ध्र की लोक कथाएँ' नामक अन्य संग्रह दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा ने प्रकाशित किया है।

लोक गीतों में साम्य :—

लोक-साहित्य किसी देश-विशेष की जनता की संस्कृति का प्रतिबिंब होता है। यद्यपि प्रत्येक जनपद के लोक-साहित्य की अपनी विशेषता है, तब भी उसमें समस्त राष्ट्र की आत्मा मुखरित होती है। उसकी विभिन्नता में एकता के दर्शन होते हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि भारत अतीत में राजनीतिक दृष्टि से भले ही विभाजित रहा हो, पर उसका सांस्कृतिक ऐक्य कभी खंडित नहीं हुआ।

लोक-जीवन में व्रत और अनुष्ठान का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आनुष्ठानिक व्रत को तेलुगु में 'नोमु' कहते हैं। 'नोमु' एवं व्रज के आनुष्ठानिक व्रतों में अधिक साम्य विद्यमान है। इनमें पारिवारिक मंगल, कल्याण-समृद्धि, दूध-पूत से फूलने-फलने की भावना, संकट-मोचन की अभिलाषा

व्याप्त है। लोकानुष्ठानों में स्त्रियों की प्रधानता है। अधिकांश लोकानुष्ठानों में पौरोहित्य का लोप हो गया है।

भारतीय लोकगीतों में विवाह–गीतों का वर्ण्य-विषय प्रायः समान है। भिन्न-भिन्न प्रथाओं के कारण कुछ भेद अवश्य हैं, पर इनमें मौलिक एकता विद्यमान है। धंधों से संबंधित गीतों में प्रेम और श्रम गलबाहीं डाल कर चलते हैं। कृषि संबंधी विभिन्न कार्यों को पूरा करते समय कृषि-गीत गाये जाते हैं। शतपथ ब्राम्हण ने कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँडना) चार ही शब्दों में कृषि कर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन किया है। यही क्रम भारत भर में कुछ लौकिक भेदों सहित आज भी विद्यमान है। क्रीडा-गीत बाल-गीत हैं। भारत भर में एक तरह के खेल खेले जाते हैं। 'बुर्र' कथाओं को मराठी में 'पवाडा' कहते हैं। यह वीरों, प्रेमियों, स्थानीय या पौराणिक देवताओं पर लिखे जाते हैं।

लोक गीतों में विश्व बंधुत्व का भाव रहता है। लोकगीतों में कला पक्ष की दृष्टि से निम्नलिखित सार्वभौम प्रवृत्तियाँ मिलती है– (१) टेक (२) निरर्थक शब्दों का प्रयोग (३) पुनरावृत्ति (४) प्रश्नोत्तर - प्रणाली (५) अतिशयोक्ति (६) अंतहीन परिगणना। इन प्रवृत्तियों के उदाहरण भारतीय एवं पाश्चात्य लोकगीतों में मिलते हैं।

उपसंहार :—

अन्त में आन्ध्र के लोक साहित्य की प्रमुख समस्याओं का निरूपण करना चाहता हूँ। आन्ध्र लोक साहित्य के संकलन और प्रकाशन का कार्य जो अब तक हुआ है वह संतोषजनक नहीं है। अच्छे लोकगीतों का रिकार्डिंग किया जाय, इससे लोकगीतों के सौंदर्य की रक्षा और प्रचार सहज ही हो सकेगा। लोकगायकों को उचित आदर एवं स्थान नहीं मिलता, यह स्थान अवश्य मिलना चाहिए। लोक-साहित्य की रक्षा आन्ध्र सरकार पर भी निर्भर है। लोक साहित्य अकादमी की शाखा अलग हो तो सुचारु रूप से कुछ ठोस कार्य करने की संभावना है। भारतीय भाषाओं के लोक साहित्य से आन्ध्र के लोक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन हो तो भावात्मक एकता को अधिक बल प्राप्त होगा। आन्ध्र प्रांत के हिंदी प्रचारक यह कार्य करने के लिए समर्थ हैं, क्योंकि इन्हें दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त है। आन्ध्र लोक-साहित्य के अध्ययन, मनन तथा प्रचार के लिए एक सायान्य मंच की आवश्य–कता है। रायलसीमा, तेलंगाना और तटवर्ती भाग में क्षेत्रीय संस्थाओं की

स्थापना हो, यों पूरे प्रदेश तथा अखिल भारतीय संगठन की गुंजाइश भी है। इस प्रसंग में अखिल भारतीय लोक संस्कृति-सम्मेलन की सेवा प्रशंसनीय है। आन्ध्र लोक साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य से एक पत्रिका का प्रकाशन अंग्रेजी, हिंदी एवं तेलुगु में हो। भारतीय लोक साहित्य भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। हर्ष का विषय यह है कि भारतीय विद्वानों का ध्यान लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ है। यदि प्रत्येक प्रांत या जनपद के लोक साहित्य का इसी प्रकार अध्ययन किया जाय तो भारतीय संस्कृति के सूत्रों को सहज ही एकत्रित किया जा सकता है और यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह भिन्न रूपों में भी अभिन्न है।



तेलुगु का आधुनिक काव्य साहित्य

श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति

हमारा भारत प्राचीनकाल से अनेक भाषाओं, विभिन्न धर्मों और तरह-तरह के आचार-विचारों का संगम रहा है। भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि हमारा देश विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ है फिर भी सांस्कृतिक दृष्टि से एक है। यह अनेकता में एकता ही भारत की सब से बड़ी विशेषता है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण तेलुगु का आधुनिक काव्य साहित्य है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में समान प्रवृत्ति दिखाई देती है।

अध्ययन की सुविधा के लिए तेलुगु का आधुनिक काव्य साहित्य चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. प्रथम उत्थान —सन् १८५७ ई० से १९१० तक।
२. द्वितीय उत्थान —सन् १९१० ई० से १९३५ तक।
३. तृतीय उत्थान —सन् १९३५ ई० से १९५२ तक।
४. चतुर्थ उत्थान —सन् १९५२ ई० से आज तक।

प्रथम उत्थान :—

सन् १८५७ ई० के बाद अन्य प्रांतों की भाँति पढ़े लिखे तेलुगु भाषा-भाषियों में एक ओर अंग्रेज़ी के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था तो दूसरी ओर विजयनगरम, पीठापुरम, वनपर्ती, गद्वाल और आत्मकूर जैसी छोटी-छोटी रियासतों में संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का आदर-सम्मान हो रहा था। तेलुगु साहित्य में द्व्यर्थी काव्यों तथा संस्कृत समासों व क्लिष्ट उक्तियों से युक्त भाषा का प्रयोग होता था। आम तौर पर तेलुगु भाषा और उसके साहित्य के प्रति उदासीन भावना व्याप्त थी। उस समय ऐसे कवियों की आवश्यकता थी जो उपर्युक्त उदासीनता का सामना कर सकें और तेलुगु भाषा और उसके साहित्य को सम्मान दिला सकें। यद्यपि श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री, वड्डादि सुब्बारायडु,

कोक्कोंडा वेंकटरत्नम, वाविलिकोलनु सुब्बराव, पिसुपाटि चिदंबर शास्त्री, मल्लादि सूर्यनारायण शास्त्री और जनमंचि शेषाद्रि शर्मा जैसे प्रकांड विद्वान और कवियों ने भारत, भागवत तथा रामायण आदि के अनुवाद के साथ-साथ कितने ही उत्तम काव्यों का सृजन किया था तथापि उनकी गणना पुरानी काव्य परंपरा के अन्तर्गत ही होती थी। उसी समय दिवाकर्ल तिरुपति शास्त्री और चेल्लापिल्ला वेंकट शास्त्री नामक दो ऐसे महान् कवियों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने विविध काव्यों तथा अष्टावधान व शतावधानों के द्वारा तेलुगु कविता की धूम मचा दी। तिरुपति शास्त्री और वेंकट शास्त्री दोनों मिल कर कविता करते थे। दोनों "तिरुपति वेंकट कवि" कहलाते थे। वे दोनों तेलुगु और संस्कृत के आशुकवि थे। उन्होंने तेलुगु कविता का झंडा अपने सुदृढ हाथों में थामा। वे आंध्र प्रदेश की लगभग सभी रियासतों में गये। वहाँ के पंडितों से इन लोगों ने शास्त्रार्थ किया।

"दोस मटंचेरिंगियुनु दुंदुडु कोप्पग बेंचिनारमी
मीसमु रेंडु भाषलकु मेमे कवींद्रुल मंचु देलपगा
रोसमु गलिगनं गविवरुल ममु गेलवुडु गेलतुरेनियी
मीसमु दीसि मीपद समीपमुलंदललुंचि मोक्कमे।"

"हम जानते हैं कि मूँछें बढ़ाना दोष का काम है। (आंध्र प्रांत के वैदिक ब्राह्मण, जिनके माता-पिता जीवित हैं, मूँछें नहीं रखते।) फिर भी यह जताने के लिए कि तेलुगु और संस्कृत, दोनों भाषाओं के हम कवींद्र हैं, ढिठाई के साथ हमने मूँछें रखाई हैं। हमारे इस कार्य से यदि कविवरों को गुस्सा आता हो तो वे हमें कविता में हरावें। हम अपनी मूँछें कटवा कर उनके चरणों पर रख कर सर झुका के प्रणाम करेंगे।"

इस भीषण प्रतिज्ञा के साथ वे जहाँ जाते वहीं विद्वानों का जमघट लग जाता। उनके अथक परिश्रम से कुछ ही दिनों में आंध्र प्रांत के राजदरबारों से ले कर अनपढ, गरीब देहातियों की झोंपड़ियों तक तेलुगु कविता का प्रचार हुआ। दोनों कवियों ने श्रवणानंदमु, बुद्ध चरितमु, गीरतमु, नानाराज संदर्श-नमु, कामेश्वरी शतकमु आदि काव्यों, महाभारत की कथा के आधार पर लिखे गये नाटकों और अष्टावधानों तथा शतावधानों के द्वारा तेलुगु साहित्य को नया जीवन दिया। तेलुगु की आधुनिक साहित्य धारा के विख्यात कवि विश्वनाथ सत्यनारायण, पिंगलि लक्ष्मीकांतम, काटूरि वेंकटेश्वरराव आदि उन्हीं के शिष्य हैं। उपर्युक्त सभी कारणों से वेंकट कविद्वय के बारे में यह कथा प्रच-

लित हो गयी है कि "उनकी वाणी पुरानी धारा की कविता के लिए भरत-वाक्य और नवीन धारा की कविता के लिए नांदीवाक्य है।"

द्वितीय उत्थान

इस युग का तेलुगु काव्य साहित्य काफी सुसंपन्न है। एक ओर राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज, स्वामी दयानंद सरस्वती के आर्य समाज, तथा रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक आन्दोलनों से, तो दूसरी तरफ़ स्वतंत्रता-संग्राम और अंग्रेज़ी तथा बंगला के प्रसिद्ध कवि शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ तथा रवींद्रनाथ आदि के काव्यों से आंध्र के शिक्षित युवक प्रभावित हुए हैं।

आधुनिक तेलुगु को नयी दिशा प्रदान करने वालों में स्वर्गीय वीरेश-लिंगम पंतुलु और स्वर्गीय गिडुगु राममूर्ति पंतुलु प्रधान हैं। वीरेशलिंगम पंतुलु समाज सुधारक थे। फिर भी अनेक पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। उन्होंने उपन्यास, नाटक, आत्मकथाएँ लिखीं। समालोचना के क्षेत्र में भी वे स्मरण किये जाएँगे। वर्षों से जमे हुये सामाजिक अंधविश्वासों का खंडन करके नवीन क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करने में वीरेशलिंगम की लेखनी ने वज्र की तरह काम किया, लेकिन तेलुगु भाषा के विषय में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का ही अनु-सरण किया।

स्व० गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने भाषा में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। तेलुगु भाषा के दो स्वरूप हैं, ग्रान्थिक और व्यावहारिक। ग्रान्थिक तेलुगु संस्कृतनिष्ठ पंडिताऊ ढंग की होती है। आम जनता के लिए वह दुरूह है। व्यावहारिक तेलुगु पंडितों के विरोध के कारण साहित्य जगत् में मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी। पंडितों ने गँवारू कह कर उसे ठुकराया। ऐसी हालत में गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने व्यावहारिक तेलुगु का पक्ष लेकर जबर्दस्त आन्दोलन किया। उपर्युक्त सभी प्रभावों के फलस्वरूप तेलुगु के आधुनिक काव्य साहित्य में नई प्रवृत्तियों का श्रीगणेश हुआ, जिनमें राष्ट्रीय भावना, भावकविता (छायावाद), मर्मकविता (रहस्यवाद), हालावाद उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय भावना—

तेलुगु की राष्ट्रीय कविता की विशेषताओं में, राष्ट्रीय वीरों का गान, राष्ट्रपतन के लिए दुःख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता व तत्परता, हिन्दू हितैषिता तथा भाषावार

राज्यों के सिद्धांत के अनुसार अलग आंध्र राज्य की स्थापना का समर्थन आदि मुख्य हैं। उस समय आन्ध्र मद्रास राज्य में था। आंध्रों का अपना स्वतंत्र प्रान्त नहीं था। आंध्र की जनता इस स्थिति से असन्तुष्ट थी। आंध्र राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। तेलुगु के कितने ही देश-भक्त कवियों ने आंध्र राज्य की स्थापना का प्रचार किया। ध्यान देने की बात यह है कि आंध्र प्रांत में प्रांतीय भावना किसी भी रूप में राष्ट्रीय भावना के लिए घातक सिद्ध नहीं हुई।

देशभक्ति, समाजसुधार और विश्वप्रेम को अपनी कविता का आधार बना कर, व्यावहारिक तेलुगु भाषा का आश्रय लेकर पहले-पहल स्व० गुरजाड अप्पाराव ने तेलुगु में कविताएँ लिखीं। नये विचार और नयी अभिव्यंजना प्रणाली को अपना कर परवर्ती कवियों के लिए गुरजाड अप्पाराव ने पथ-प्रदर्शन किया। उनकी "देशभक्ति" शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। वे देश-वासियों को संबोधित करते हैं—

देश को तू प्यार कर	भूल जा तू स्वार्थ अपना
भलाई के काम कर	साथियों की मदद करना
व्यर्थ की बकवास तजकर	देश का क्या अर्थ मिट्टी ?
देश हित की बात कर ॥	देश का है अर्थ मानव ॥

आधुनिक तेलुगु साहित्य में श्री रायप्रोलु सुब्बाराव का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय भावना से संबंधित आपके पद्य आँध्र प्रदेश के हर बच्चे की ज़बान से सुनने को मिलते हैं। वे कहते हैं—

"ए देश मेगिना एंदु कालिडिना
ए पीठ मेक्किना एव्व रेमनिना
पोगडरा नी तल्लि भूमि भारतिनि
निलपरा नी जाति निंडु गौरवमु।"

"तुम किसी देश में जाओ, तुम कहीं अपने पाँव रखो, लोग चाहे जो कुछ कहें, किसी की परवाह मत करो, सर्वत्र भारत माता की प्रशंसा करो, राष्ट्र को अपमानित मत होने दो।"

देशभक्ति की कविताओं के अतिरिक्त रायप्रोलु ने अनेक प्रबोधात्मक कविताएँ लिखी हैं, जिनसे सुप्त आन्ध्र जनता जागृत हुई हैं। ये कविताएँ 'आन्ध्रावली' और 'तेनुगु तोटो' में संगृहीत हैं। तेलुगु भाषा-भाषियों की राष्ट्रीय अभिलाषाएँ रायप्रोलु की कविताओं के रूप में साकार हो उठीं।

तेलुगु के आधुनिक साहित्य में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का वही स्थान है जो आधुनिक हिन्दी साहित्य में जयशंकर 'प्रसाद' का है। विश्वनाथ एक ही साथ सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, समालोचक, कुशल संपादक, सफल आचार्य, वक्ता और गायक हैं। वे राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर नहीं रहे। देशभक्ति से संबंधित उनके काव्यों में "कुमाराभ्युदय" या "वल्ली सेना की विजय" तथा "झाँसी रानी" मुख्य हैं। "आन्ध्र प्रशस्ति" और "आन्ध्र पौरुष" विश्वनाथ के प्रबोधात्मक काव्य हैं।

भाव-भाषा, रहन-सहन ओर आचार-विचार में प्रा चीन परम्परा को न छोड़ते हुए, अपनी सच्चरित्रता की रक्षा करने वाले तथा पूज्य बापूजी के सिद्धान्तों का प्रचार तथा अनुसरण करते हुये विभिन्न काव्यों की रचना करने वाले यशस्वी कवि हैं– श्री तुम्मल सीताराममूर्ति चौधरी। उनका "राष्ट्रगान" नामक काव्य राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत है। आप सर्वोदय के प्रबल समर्थक हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा" की "पुष्प की अभिलाषा" तेलुगु सुमन की "आकाँक्षा" बन कर श्री वेदुल सत्यनारायण शास्त्री की कोमल हृत्तंत्री में झंकृत हो उठी। अपनी कड़ी मेहनत, गंभीर अध्ययन और अनुपम प्रतिभा के बल पर अमूल्य काव्यरत्नों का सृजन कर, तेलुगु के आधुनिक कवियों में विशेष स्थान प्राप्त करने वाले तपस्वी कवि श्री जाषुवा ने भी राष्ट्रीयता का गान किया है।

शतावधानी राजशेखर कवि ने महाराणा प्रतापसिंह की देशभक्ति और महान् त्याग का वर्णन करते हुये तेलुगु में प्रबन्ध काव्य की रचना की। उसी प्रकार छत्रपति शिवाजी की जोवनी को लेकर गडियाम् शेष शास्त्री ने "शिव भारतम्" नामक काव्य की रचना की। ये दोनों काव्य पुरानी धारा के अंतर्गत आते हैं। दोनों ने आंध्र जनता में देशभक्ति की भावना को उद्दीप्त करने में सफलता प्राप्त की।

तेलुगु साहित्य जगत् के श्रेष्ठ समालोचक स्व० कट्टमंचि रामलिंगारेड्डीजी ने "मुसलम्मा मरणं" (वृद्धा का मरण) शीर्षक काव्य की रचना की।

उपर्युक्त कवियों के अलावा गरिमेल्ल सत्यनारायण, बसवराजु अप्पाराव, एट्टुकूरि नरसय्या, पिंगली और काटूरि कविद्वय, मगिपूडि, पुट्टपर्ति, पैंडिपाटि, करुणश्री, दाशरथी और कालोजी नारायण कितने ही कवियों ने अपनी रचना

से तेलुगु भाषा-भाषियों में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में महान् योग दिया है।

भाव कविता और मर्म कविता

हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद के नाम से जो काव्य प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं, वे तेलुगु में भाव कविता और मर्म कविता के नाम से प्रचलित हैं। प्रारंभ में इन प्रवृत्तियों का तीव्र विरोध हुआ तो "साहिती समिति" तथा "नव्य साहित्य परिषद्" नामक साहित्य संस्थाओं ने इस धारा को काफी प्रोत्साहन दिया। आत्मपरक गेय काव्यों का सृजन होने लगा। तेलुगु की भाव तथा मर्म कविताओं में संक्षेप में निम्न लिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं।

(१) व्यक्तिवाद या आत्माभिव्यंजना, (२) प्रकृति के साथ तादात्म्य की भावना, (३) सौंदर्य भावना, (४) पुरातन के प्रति प्रेम, (५) प्रणय, आकाँक्षा, विरह और दुःख, (६) देशप्रेम, (७) प्रतीक पद्धति, (८) छन्दों के नियमों का उल्लंघन, नये छन्दों का सृजन, (९) गेय काव्यों की अधिकता, (१०) आध्यात्मिकता का प्रभाव, (११) जड प्रकृति पर चेतना का आरोप, (१२) प्रेम प्रधान काव्यों की रचना।

यद्यपि वेंकट पार्वतीश्वर कवियों के "एकांतसेवा" नामक काव्य में इन प्रवृत्तियों का वर्णन पाया जाता है, तथापि तेलुगु के काव्य साहित्य में अकलुषु श्रृंगार को प्रधानता देकर इन प्रवृत्तियों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय श्री रायप्रोलु सुब्बाराव को ही दिया जाता है। उन्हें शांतिनिकेतन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपने भारतीय साहित्य और संस्कृति को हृदयंगम करके पाश्चात्य साहित्य व संस्कृति से प्रभावित हो कर दोनों का मंगलमय समन्वित रूप काविता में प्रस्तुत किया। भाव और मर्म कविताओं से संबंधित रायप्रोलु के काव्यों में तृणकंकण, रम्यालोक, माधुरी दर्शन, स्वप्न कुमार, वनमाला तथा ललिता—उल्लेखनीय हैं।

फिर इन प्रवृत्तियों के विकास में श्री वायनि सूब्बाराव, अब्बूरि रामकृष्णराव, स्वामी शिवशंकर, नंडूरि सुब्बाराव, बसवराजु अप्पाराव, अडवि बापिराजु, दुव्वूरि रामिरेड्डी तथा पिंगलि काटूरि कविद्वय ने अपना बहुत योग दिया है। इन काव्य प्रवृत्तियों का चरम उत्कर्ष श्री देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री की कविता में दिखायी देता है। कृष्ण शास्त्री की कविता के कारण भाव तथा मर्म कविता को तेलुगु साहित्य में स्थायी स्थान प्राप्त हुआ। भाव-कविता के प्रतिनिधि कवि के रूप में कृष्ण शास्त्रीजी को मान्यता प्राप्त हुई।

कृष्णशास्त्री के कृष्णपक्ष, कन्नीरु (आँसू), प्रवास और ऊर्वशी नामक गेय काव्यों का बहुत महत्त्व है।

प्रणय और विलाप का वर्णन करने में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने अद्भुत प्रतिभा दिखायी। उनके शृंगारवीथि, शशिदूत, गिरिकुमार के प्रेमगीत और वरलक्ष्मी त्रिशती नामक काव्य इस धारा के अंतर्गत आने वाले उल्लेखनीय काव्य हैं। उपर्युक्त कवियों के अलावा इस दिशा में श्री इंदुगंटि हनुमत् शास्त्री, मल्लवरपु विश्वेश्वरराव, पिलका गणपति शास्त्री और पुट्टपर्ति नारायणाचार्युलु आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इस धारा से संबंधित तृणकंकण, रम्यालोक, सौभद्रुनि प्रणययात्रा, येंकिपाटलु, हृदयेश्वरी, वकुलमालिका, वनकुमारी, जलदांगना, तोलकरि, कृष्णपक्ष, कन्नीरु, ऊर्वशी, शशिकला, गिरिकुमार के प्रेमगीत, वरलक्ष्मी त्रिशती, किन्नेरसानि पाटलु तथा नदी सुन्दरी आदि कितने ही कथा प्रधान गेय काव्यों, मुक्तक गीतों तथा प्रगीतों के संग्रह से तेलुगु के आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

हालावाद

अन्य भाषाओं के कवियों की तरह उमरखय्याम की कविताओं का प्रभाव तेलुगु के आधुनिक कवियों पर भी पड़ा है। श्री रायप्रोलु सुब्बाराव ने हालावाद को तेलुगु में प्रस्तुत किया। उमर अलीशा तथा हरिकथा पितामह आदिभट्ल नारायणदास और बुर्गुल रामकृष्णराव ने उमर खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद तेलुगु में किया है। इस धारा के प्रसिद्ध तेलुगु कवि दुव्वूरि रामिरेड्डी है। उमर खय्याम की रुबाइयों का सार ग्रहण कर रामिरेड्डी ने तेलुगु में मौलिक काव्य लिखा है। रेड्डी ने अपने प्रयत्न के बारे में लिखा है—

> "तेलुगुंदोटल बच्चबील्ल ननुरक्ति बानशाला प्रति
> ष्ठलु गाविंचि खयामु काव्यरस भाँडंबु ल गुलाबीलु बु-
> -लबुलि पिट्टलू मधुपान पात्रिकलु सोंपुल गुलकु साखीयु भू
> तल नाकं बोनरिंप निल्पि रसिकांध्र प्रीति गाविंचितिन्।"

"तेलुगु साहित्य के उद्यानों और हरे-भरे चरागाहों में मैंने बड़े प्रेम से मधुशाला स्थापित की है। इसमें मैंने खय्याम का काव्यरस, गुलाब के फूल, बुलबुल, मधु के प्याले और इठलाती बल खाती साक़ी को मैंने इसलिए प्रस्तुत किया है कि पृथ्वी स्वर्ग बन जाये। रसज्ञ आंध्र जनता का हृदय मेरे इस प्रयास से झूम उठा है।" रेड्डीजी की कविता के कारण उमर खैयाम का नाम तेलुगु भाषा-भाषियों के बीच अमर हो गया।

तृतीय उत्थान

सन् १९३५ ई० तक तेलुगु के काव्य जगत् में भाव कविता की धूम रही, लेकिन जीवन के संघर्ष से दूर कल्पना-लोक में विहार करते हुए भाव-कवि जब नभ से उतर कर भूमि पर चरण रखने के लिए तैयार नहीं हुए तो जनता उनसे विमुख होने लगी। इसी समय औद्योगिक विकास और पूँजीवादी सभ्यता का प्रभाव जनता पर पड़ने लगा। रूस की क्रांति ने संसार में क्रांति-कारी शक्तियों को प्रेरित किया। भारत में एक ओर असहयोग आन्दोलन और दूसरी ओर क्रांतिकारी आन्दोलन भी चलने लगा। इसका प्रभाव तेलुगु साहित्य पर भी पड़ा। फलस्वरूप तेलुगु के काव्य जगत् में भावकविता का ह्रास-सा हो गया। प्रगतिवाद का बोलबाला बढ़ गया। साथ-साथ गांधीवाद और अन्य वस्तुओं से संबंधित धाराएँ भी प्रचलित हुईं।

प्रगतिवाद—

सामाजिक कुरीतियों, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि के भावों से त्रस्त तेलुगु भाषी जनता को अप्रैल १९३५ में क्रांति की ललकार स्पष्ट रूप से सुनायी दी। यह आवाज शीघ्र ही आंध्र प्रदेश भर में गूंज उठी। कवि ने गाया—

एक नया जग, एक नया जग, एक नया जग रहा पुकार,
डट के चलो तुम, मिल के चलो, बढ के चलो तुम, बढ के चलो !
पग-पग चलते, पद-पद गाते, अंतर निज गरजाते चलो,
जल प्रपात ध्वनि, नव जग की ध्वनि, नहीं सुनी क्या नहीं सुनी ?

• • •

नव जग का वह बड़ा नगाडा, सुनो-सुनो उद्घोष कर उठा
नाग सर्प से क्षुधित व्याघ्र से अग्निहोत्र से बढ़े चलो,
दृष्टि न आई नव जग की उस अग्नि मुकुट की तड़क-भड़क
लाल ध्वजा की चमक-दमक ! होम ज्वाल की धधक-भभक ?

नंगी भूखी, पददलित, मूक जनता की वाणी इस प्रकार का आवाहन करने वाले क्रांतिकारी कवि के कंठ में मुखरित हो उठी। यह कवि पीडित जनता का प्रतिनिधि कवि बन गया। इस कवि का नाम है— श्रीरंग श्रीनिवास-राव, श्री श्री काव्य नाम है। आंध्र की जनता ने श्री श्री की कविताओं का स्वागत किया। श्री श्री लिखित जयभेरी, अभ्युदय, महा प्रस्थान, कविते हे कविते, और जगन्नाथ रथचक्र नामक प्रसिद्ध काव्य हैं। उत्कृष्ट प्रगति-

वादी 'महाप्रस्थान' नामक काव्य संग्रह प्रगतिवादी कविता में अग्रणण्य है। श्री श्री ने भावपक्ष के साथ-साथ कलापक्ष में भी क्रांति उपस्थित की। भाषा, छंद तथा अभिव्यंजना प्रणाली में नवीनता लाने का श्रेय श्री श्री को है। पूँजीवादी सभ्यता का खंडन, साम्यवादी सभ्यता का मंडन श्री श्री की कविताओं की मूल प्रेरणा है। तेलुगु के आधुनिक काव्य जगत् में श्री श्री के अनुयायियों की संख्या अधिक है। प्रगतिवादी लेखक संघ की स्थापना के बाद ऐसे कितने ही युवक कवियों को प्रोत्साहन मिला।

तेलुगु के अन्य प्रगतिवादी कवियों में श्रीरंगं नारायण बाबू, शिष्ट्ला उमामहेश्वरराव, कालोजी नारायणराव, कुंदुर्ति आंजनेयुलु, बैरागी, पुट्टपर्ति नारायणाचार्युलु, दाशरथी, अनिसेट्टी, सोमसुन्दर तथा रमणारेड्डी के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवाद के कुछ नये विचारों का प्रचार श्री श्री, नारायण बाबू आदि ने किया। इन्हें तेलुगु जनता से उचित प्रोत्साहन उन्हें नहीं मिला। 'पठाभि' नामक युवक कवि का "फ़िडेल रागालु डजनु" (बाइलिन के दर्जन राग) शीर्षक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ।

गान्धीवाद

एक ओर प्रगतिवाद पनपता रहा तो दूसरी ओर गान्धीवाद से संबंधित काव्य धारा भी पुष्ट होती रही। इस दिशा में श्री तुम्मल सीतारामर्मूति के आत्मार्पण, धर्मज्योति और आत्मकथा ये तीन काव्य उल्लेखनीय हैं। बापूजी की आत्मकथा को श्री सीतारामर्मूति ने तेलुगु में काव्य का रूप दिया, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। यह काव्य २६ जनवरी १९५१ को समाप्त हुआ था।

श्री पिंगलि लक्ष्मीकांतम और काटूरि वेंकटेश्वरराव कवियों द्वारा लिखित सौंदरनंदमु नामक काव्य का इस धारा के अन्तर्गत बड़ा महत्व है। दांपत्यप्रेम के विश्वजनीन पुनीत स्वरूप का दिग्दर्शन करा कर समष्टि भावना को प्रस्तुत करना ही इस काव्य का लक्ष्य है। महात्माजी के सत्य, अहिंसा और सेवा भाव का विशेष प्रभाव इस काव्य पर पड़ा है।

देशभक्ति, प्रांतीय अभिमान, व्यथित हृदय की आह, जाति-पांति, ऊँच-नीच के भेदभावों से रहित अहिंसात्मक समाज के निर्माण का संदेश देने वाले श्री जाषुवा का उल्लेखनीय काव्य है "गब्बिलम" (चमगादड)। कवि ने इस काव्य में अरुधंती के पुत्रों की दीन-हीन दशा का करुण चित्रण किया है।

जाषुआ की अन्य कृतियों ने आंध्र में गांधीवादी विचारों के प्रचार में बड़ा योग दिया है।

तेलुगु हिन्दी के विद्वान श्री जंघ्याल पापय्या शास्त्री ने करुणामय बुद्ध भगवान के पावन चरित को रसात्मक काव्य का रूप दिया है। उनका काव्य-नाम है "करुण श्री।" इन पर गांधीजी के सिद्धांतों का बहुत प्रभाव पड़ा है। वह प्रभाव इनकी कविताओं में दृग्गोचर होता है। तेलुगु के आधुनिक काव्य साहित्य के अन्तर्गत गांधीवादी काव्यधारा का विशेष महत्त्व है।

अन्य काव्य

उक्त धाराओं के अतिरिक्त इस समय और भी कई उत्तम काव्यों का प्रकाशन हुआ है। उनमें जाषुवा कवि के बहुचर्चित काव्य फिरदौसी, मुमताज महल, स्वप्नकथा, अनाथा आदि, काटूरि वेंकटेश्वरराव कृत गुडिगंटलु (मंदिर की घंटियाँ), पौलस्त्य हृदय, श्रीं दुव्वूरि रामिरेड्डी कृत पलित केश, कवि-रवि-नैवेद्य, भग्नहृदय शीर्षक काव्य, श्री तुम्मल सीताराममूर्ति के उदयगान आदि कविता संग्रह, श्री नालं कृष्णाराव की बाल सुलभ मधुर कविताओं के संग्रह, श्री बोड्डु वापिराजु की फुटकल कविताएँ और श्री पैडिपाटि सुब्बाराम शास्त्री के आन्ध्र भारती, अभिषेक, शतपत्र आदि कविता संग्रह मुख्य हैं। इस युग में प्रकाशित पुट्टपर्ति नारायणाचार्युलु का "शिव तांडव" शीर्षक श्रेष्ठ गेय काव्य, स्वामी शिवशंकर के शब्दों में तेलुगु सरस्वती का उज्वल नूतन अलंकार है। यह काव्य संगीत, साहित्य और नाट्य का संगम है। अभिनव पोतना के नाम से प्रख्यात श्री वानमामलै वरदाचार्य कृत "पोतना" शीर्षक प्रबन्ध काव्य भी काफी श्रेष्ठ है। इसी प्रसंग में श्री बेजवाड गोपालरेड्डी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने रवींद्रबाबू की कई कविताओं का रूपांतर तेलुगु में किया है।

चतुर्थ उत्थान

भारत स्वतंत्र हो गया। स्वराज्य मिल गया। किन्तु अभी सुराज्य स्थापित नहीं हुआ है। स्वतंत्र भारत में ही बापूजी की हत्या की गयी। आंध्र राज्य की स्थापना के लिए बापूजी के अनन्य शिष्य पोट्टि श्रीरामुलु को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। इससे आंध्र के सभी कवि दुःखी हो गये। तुम्मल सीताराममूर्ति, जाषुवा, विश्वनाथ सत्यनारायण, काटूरि वेंकटेश्वरराव, कालोजी नारायणराव, दाशरथी आदि सभी कवियों ने इन बातों पर असन्तोष प्रकट किया है। सुराज्य की स्थापना का गान आंध्र में शुरू हो गया है।

श्री कालोजी नारायणराव ने राजनीतिक भ्रष्टाचारों और सामाजिक अन्ध विश्वासों का जोरों से खंडन किया है। हैदराबाद रियासत के राजनीतिक आन्दोलन से कालोजी का शुरू से संबंध है। ये कई वार जेल भी गये। स्वतन्त्रता की लड़ाई में वे सदा आगे रहे। पदों के पीछे दौड़ने वाले लोगों को देख कर वे कहते हैं—

फटा पुराना चिथड़ा हो, साम्राज्य का टुकड़ा हो,
मुर्गी का वह अंडा हो, मूल्यवान कोहनूर हो,
उपजाऊ वह मिट्टी हो, चाहे वह प्लैटीनम हो,
बस की चाहे सीट हो, या ब्रह्माजी का रथ ही हो,
होड़ लगा कर लड़ें-भिड़ें तो, जो भी हो, जो भी हो,
सभी बराबर, सभी बराबर ॥

निजाम सरकार के अत्याचारों से पीड़ित कवियों में श्री दाशरथी का नाम भी उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रात दाशरथी की वीर-रसात्मक कविताओं ने तेलुगु भाषा-भाषियों को जागृत करने में बड़ा योग दिया। पीड़ित, दरिद्र, मूक जनता की वाणी दाशरथी के कंठ में मुखरित हो उठी। तेलुगु भाषा-भाषियों में दाशरथी के पुनर्नव और महान्ध्रोदय शीर्षक कविता संग्रहों का अधिक प्रचार है। विशाल आंध्र प्रदेश के निर्माण में इनकी कविताओं ने बड़ी सहायता पहुँचायी। इस दिशा में प्रसिद्ध संपादक श्री नार्ल वेंकटेश्वर के 'नार्लवारि माटा' (नार्ला की वात), नामक कविता संग्रह प्रभावशाली है।

डा० सी० नारायणरेड्डी इसी युग की देन हैं। अपने विभिन्न काव्यों के द्वारा असमानता और अन्ध विश्वास का खंडन करके समस्त संसार में समता और शांति की स्थापना का आपने संदेश दिया है। रेड्डी के नागार्जुन सागर, कर्पूर वसंतरायलु और विश्वनाथ नायडु जैसे कथात्मक गेय काव्यों का आधुनिक तेलुगु साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद से मुक्त हो कर प्रयोगवाद की शैली में श्री आरुद्र ने 'त्वमेवाहम्' नामक काव्य लिखा। हैदराबाद रियासत में जब निजाम की हुकूमत चलती थी तब जनता पर जो अत्याचार किये गये, उन्हें कथावस्तु के रूप में स्वीकार कर, उसके आधार पर आज की सामाजिक, राजनीतिक तथा

साहित्यिक अव्यवस्था का, भाषा के नूतन, विचित्र, दुर्ग्राह्य प्रतीकों के द्वारा स्पष्टीकरण आरुद्र ने किया है। 'सिनीवाली' आरुद्रकृत इसी शैली का प्रभावशाली काव्य है। इस दिशा में आजकल और भी युवक कवि प्रकाश में आ रहे हैं, जिनमें श्री बैरागी तथा दुर्गानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवाद

इस समय के प्रगतिवादी काव्यों में 'नयागरा' का प्रमुख स्थान है। उसमें श्री रामदास, एकचूरि तथा कुंदुर्ति की कविताएँ संगृहीत हैं। श्री कुंदुर्ति आंजनेयुलु की कविताएँ भावपक्ष और कलापक्ष दोनों दृष्टियों से प्रभावशाली हैं। उनके कविता संग्रहों में 'युगे युगे' और 'तेलंगाणा' उल्लेखनीय हैं। प्रगतिवादी कवियों में श्री रमणारेड्डी का 'भुवन घोषा' नामक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। तेलंगाणा में कम्यूनिस्टों ने जो हिंसात्मक काण्ड किये उनके समर्थन में कुछ प्रगतिवादी कवियों ने काव्य लिखे हैं, मगर सरकार और जनता की तरफ से उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला।

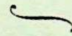
इस युग के दो प्रसिद्ध काव्य प्रकाशित हुए हैं– एक है श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का 'रामायण कल्पवृक्षमु' और दूसरा है श्री मधुना पंतुलु सत्यनारायण शास्त्री का 'आन्ध्र पुराणमु'। तेलुगु प्रांत में नन्नया, तिक्कना तथा एर्रा प्रगडा नामक तीन कवियों के द्वारा लिखित 'तेलुगु महाभारत' तथा भक्त पोतन्ना कृत 'तेलुगु भागवत' का अधिक प्रचार है। रामायण का स्थान तीसरा है। हिन्दी का 'रामचरित मानस' तेलुगु में नहीं हैं। विश्वनाथ ने अपनी सारी शक्ति लगा कर तेलुगु में 'रामायण कल्पवृक्ष' की रचना की है।

इक्ष्वाकुवंश से लेकर आज तक आंध्रों के सम्यक् इतिहास को कथावस्तु बना कर श्री मधुना पंतुलु सत्यनारायण 'आंध्र पुराण' शीर्षक बृहद श्रव्यकाव्य लिख रहे हैं। प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका हैं।

श्री बोयि भीमन्ना के कितने ही काव्य प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें राष्ट्रीय भावना, अछूतोद्धार, भाव कविता, मर्म कविता, प्रगतिवाद तथा वैज्ञानिक विकासवाद के दर्शन होते हैं। इस प्रकार तेलुगु के आधुनिक काव्य साहित्य में प्राचीन परम्परा, राष्ट्रीय भावना, भाव कविता, मर्म कविता, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद आदि सभी प्रवृत्तियों का प्रचलन हो गया है।

भारत पर चीन के आक्रमण तथा जवाहरलाल नेहरूजी के निधन से संसार के कवियों की भाँति तेलुगु के कवि भी काफी प्रभावित हुए हैं।

फलस्वरूप पचासों कविताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस लेख में उल्लिखित कवियों के अलावा श्री पुरिंडा अप्पलस्वामी, विजमूरि शिवरामराव, देवुलपल्लि रामानुजराव, रजनी, अजंता, शशाँक. देवरकोंडा चिन्निकृष्ण शर्मा, मुकुराल रामिरेड्डी, वाणाल रामकवि, बलरामाचार्य, तिलक, इंद्रगंटि हनुमच्छास्त्री, सोमसुन्दर, अरिपिराल विश्वं तथा मादिराजु रंगाराव जैसे कितने ही उदीयमान कवि हैं जो अपने विभिन्न काव्य कुसुमों से तेलुगु के आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।



यक्षगान

श्री बालशौरी रेड्डी

तेलुगु वाङमय की विविध विधाओं में यक्षगान भी एक विधा है। इस विधा के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि यक्ष जाति से संबंधित गान होने के कारण ही इसका नामकरण 'यक्षगान' हुआ। यद्यपि यह शब्द संस्कृत से संबंधित है, किन्तु संस्कृत में कहीं इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। "संगीत सुधा" नामक ग्रन्थ में यह शब्द सगीत-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। संभवतः जक्कु नामक जाति द्वारा गान किये जाने वाले देशी संगीत रूपक का ही नाम "यक्षगान" पड़ा हो। "जक्कु" शब्द यक्ष का अपभ्रंश है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तब भी यह सही प्रतीत होता है कि यकार का जकार में परिवर्तित होना तथा "क्ष" का "क्क" होना सहज है।

"यक्षगान" आन्ध्र का एक प्राचीन लोक-गीतिनाट्य है। इसमें साहित्य, संगीत, नृत्य, अभिनय इत्यादि कलाओं का अच्छा संगम हुआ है। उन दिनों संस्कृत के रूपक, उपरूपक आदि सभ्य जगत का मनोरंजन करते थे। सर्वसाधारण प्रजा का मनोरंजन यक्षगान जैसे देशी लोक गीतिनाट्य से होता था।

मानव की रूपक-प्रदर्शन की अभिलाषा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आन्ध्र देश की प्राचीन नाट्यकला का रूप "कुरवंजि" माना जा सकता है। "कुरवं" एक जंगली जाति है, "अंजि" का अर्थ 'पद' होता है। इस प्रकार कुरवंजि–"कुरव+अंजि" दो शब्दों के संयोग से बना है—अर्थात् कुरव नामक एक जंगली जाति का (नृत्य मुद्रा समन्वित) कदम। उनका प्रारंभिक नाट्य रूप कुरवंजि कहलाया। कुरव जाति के लोग दक्षिण में—मुख्यतः आन्ध्र में तिरुपति, श्रीशैलम इत्यादि पुण्य तीर्थों में यात्रियों के विनोदार्थ नृत्य किया करते थे। कुरवंजि आन्ध्र में ही नहीं अपितु समस्त दक्षिण में प्रचलित रहा है। आन्ध्र में, ज्ञान कुरवंजि, जीव कुरवंजि तथा

सत्यभामा कुरवंजि नाम से उसके तीन रूप प्रसिद्ध थे, किन्तु आज उनका प्रचार नहीं है।

कुरवंजि के अनुकरण पर यक्षगानों का निर्माण हुआ। जक्कुलु नामक जाति ने जिस देशी संगीत नाट्य को जन्म दिया, वही जक्कुलपाट याने "यक्षगान" नाम से विख्यात हुआ। यक्ष जाति से सम्बन्धित गीत या गान होने के कारण कालांतर में यक्षगान कहलाये, इसका देशी रूप जक्कुलपाट है। यक्षगान "नाटक" के नाम से भी व्यवहृत है।

यक्षगानों का उल्लेख

सर्वप्रथम पाल्कुरिकि सोमनाथ ने (ई. सन्. १२८०-१३४०) अपने ग्रन्थों में समकालीन तथा प्राचीन अनेक देशी नृत्य, संगीत एवं साहित्य की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। तदुपरांत कवि सार्वभौम श्रीनाथ ने (ई. सन्. १०३० के लगभग) अपने काव्य "भीम खण्ड" में द्राक्षाराम पुण्य तीर्थ की स्तुति करते हुए लिखा है—

"कीर्तितु रेट्टानि कीर्ति गंधर्वुलु
गांधर्वमुन यक्षगान सरणि"

(गंधर्व लोग यक्षगान की शैली में, संगीत में जिसका यश गाते हैं।)

यहाँ पर 'यक्षगान सरणि' का जो प्रयोग हुआ है, उसका यही अभिप्राय है कि गंधर्वों ने यक्षगान-पद्धति, रीति अथवा शैली में गान किया था। गान-कला की निपुणता के लिए गंधर्व प्रसिद्ध हैं। वे गान-कला की विविध रीतियों से भली भाँति परिचित थे। इस संदर्भ में उन लोगों ने यक्षगान की रीति पर गान किया था।

जक्कुलु नामक जिस जाति ने यक्षगान को अपनाया, उसे प्रचलित एवं लोकप्रिय बनाया, वास्तव में वह कोई भिन्न जाति रही होगी। यक्षगान के अभिनय को उस जाति ने अपना पेशा बनाया। यक्षगान को पेशा बनाने के कारण उनकी असली जाति का नाम लोप होता गया और वे यक्ष कहलाने लगे। यक्ष से "जक्कु" हो गये। तदुपरांत तेलुगु का 'लु' बहुवचनवाची प्रत्यय, जुड़ने के कारण 'जक्कुलु" हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवसाय सूचक शब्द जातिवाचक बन गया।

"जक्कुलु" जाति के लोग आन्ध्र देश के गुन्टूर, गोदावरी आदि ज़िलों में ही नहीं, रायलसीमा में भी फैले हुए थे। आज भी अनन्तपुरम ज़िले में

जक्कुल चेरवु (जक्कों का तालाब) नाम से एक बड़ा गाँव है, इस समय वह मद्रास और बंबई के रास्ते में एक रेल स्टेशन भी है।

१५वीं शती में विरचित "क्रीडाभिराममु" में "जक्कुल पुरंध्रि" नामक गान-कला की बड़ी प्रशंसा हुई है। उसमें यक्ष कन्याओं (जक्कु युवतियों) का वर्णन हुआ है। उसी शती के उत्तरार्द्ध में चेन्नशौरि द्वारा रचित "सौग्भ चरित" जक्कु जाति के संगीतात्मक आख्यान पद्धति में प्रस्तुत हुआ है। "जक्कुल पुरंध्रि" यक्षगान का प्रारंभिक रूप है। इस नृत्य-विशेष के अनुरूप वेषधारण करके, नेपथ्य संगीत एवं वाद्य-विशेषों की सहायता से गान करते, गीत के अनुरूप अभिनय करते और कथा सुनाया करते थे। यह सब क्रिया-कलाप एक ही पात्र द्वारा संपन्न होता था। एक व्यक्ति के द्वारा एक ही पात्र का अभिनय उस समय तक प्रचलित नहीं हुआ था।

१७वीं शताब्दी में रचित "तंजापुरान्न दान नाटक" का प्रदर्शन जक्कुल रंगसानि की सराय में संपन्न हुआ था। इस कृति द्वारा विदित होता है कि जक्कु जाति के लोग गीत एवं अभिनय कला में प्रवीण थे।

स्वर्गीय सुरवरम प्रतापरेड्डी ने लिखा है—"यक्षगानों का नामकरण यक्ष (जक्कुलु) जाति के आधार पर किया गया है। यक्ष अक्षस (OXUS) प्रांत, या यछी (YUCHI) नामक मंगोल जाति के अथवा युक्षैन् (EUXINE SEA OR BLACK SEA) प्रदेश के लोग होंगे। यह सम्बन्ध कुछ दूर का अवश्य प्रतीत होता है। यक्ष, और गंधर्व गान विद्या में प्रवीण थे, अतः हमारे पूर्वजों ने गीतिनाट्य का नामकरण "यक्षगान" किया होगा।'

श्री खण्डवल्लि लक्ष्मीरंजन ने यक्षगान प्रकरण में लिखा है—'यक्षगान' संगीत-प्रधान नाटक है। तेलुगु का प्राचीनतम नाटक-रूप यक्षगान ही है। यह "यक्षगान नाटक" तथा "यक्षगान प्रबंध" नाम से भी व्यवहृत है। यक्षगानों में नाटक के लक्षण वार्तालाप और प्रबंधात्मक वर्णनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। अतः यक्षगान इन दोनों नामों से प्रचलित हुए।[२]

कुरव जाति के नाटक रूपक-रचना के प्रथम प्रयत्न हैं, इसीलिए वे अविकसित हैं। उनकी कथावस्तु पहाड़ी एवं जंगली जीवन से संबन्धित होती

---

१ आन्ध्र साहित्य चरित्र संग्रहमु (प्रथम भाग) : लेखक खण्डवल्लि लक्ष्मी-रंजन, भूमिका : पृ० १४.

२ आन्ध्र साहित्य चरित्र संग्रहमु : पृ० २०८. प्रकरण चौदह, (यक्षगान)

है, हास्य की प्रधानता रहती है । इनकी नायिका और नायक सिंगि और सिंगडु हैं । नृसिह स्वामी का कोया जाति की कन्या से विवाह करना इत्यादि उनके इतिवृत्त हैं । कुरवंजि का विदूषक "कोणंगि" नामक तीसरा पात्र है, जो हास्य-प्रसंगों में भाग लेकर दर्शकों का मनोरंजन करता हैं । प्रारंभ में कुरवंजि में नृत्य की प्रधानता थी, किन्तु कालांतर में गीतों की प्रधानता हो गई । इनका प्रभाव नागरिक जीवन पर भी पड़ा । अतः हम कह सकते हैं कि 'कुरवंजि' जंगली जातियों के गीतिनाट्य का रूप है तो यक्षगान सभ्य नागरिकों द्वारा रचित दृश्य काव्य । यक्षगानों में नृत्य क्रमशः कम होता गया तथा उसका स्थान संगीत ने ले लिया ।

यक्षगान के लक्षण

आज यक्षगान देशी शैली का नाटक माना जाता है । संस्कृत के रूपक एवं उपरूपकों के लक्षणों से भिन्न होने के कारण यह लोक नाट्य कहलाता है । आज यक्षगान भी नाटक की रीतियों को बहुत कुछ अपना चुका है । प्राचीन यक्षगानों में संस्कृत के रूपकों की भाँति नांदी प्रस्तावना, अंक विभाजन, संधि-नियम इत्यादि दिखाई नहीं देते । उनमें रगड विकारमु (ताल प्रधान), द्विपद, एल्ललु तथा अर्द्ध चंद्रिक पद थे । ये सब देशी छन्द के भेद हैं ।

प्राचीन यक्षगानों में गद्य कम होता था । यत्र-तत्र कथा-संविधान के अनुरूप गीत-भागों को जोड़ने के लिए गद्य का प्रयोग होता था ।

यक्षगानों के प्रदर्शन के समय प्रारम्भ में इष्ट देवता की प्रार्थना और गणेश की स्तुति होती, तदनंतर प्राचीन कवियों का स्मरण, लेखक का परिचय दिया जाता । फिर यक्षगान का नामोल्लेख करके सूत्रधार कथा का परिचय देता । कथा-संधियों का परिचय सूत्रधार देता जाता और नटी गीत गाती, अभिनय करती ।

कुरवंजि और यक्षगानों में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ हैं । कुरवंजि में जहाँ दो-तीन पात्र होते हैं, वहाँ यक्षगान में अनेक पात्र होते हैं । कथा-सूत्र को मिलाने के लिए बीच-बीच में यक्षगानों में गद्य का प्रयोग किया जाता है । ऐसे गद्य भाग का वाचन सूत्रधार करता है । पात्र के प्रवेश के समय नाटककार उसके वेशधारण का वर्णन करता है । वर्णन के समाप्त होते ही पात्र प्रवेश करके अपने अभिनय के साथ गीत गाते हैं । जिन यक्षगानों में नाटककार का परिचय तथा वर्णन कम होता हैं, वे नाटकीयता के अधिक निकट होते हैं ।

जिन में वर्णन का अंश अधिक होता है, वे प्रबन्ध काव्य के अधिक निकट होते हैं।

यक्षगानों में देशी छन्दों के साथ ताल और लय से युक्त गीत गाये जाते हैं। ये गीत अधिकतर लोक गीतों की परंपरा के होते हैं, इनमें माधुर्य गुण की प्रधानता होती है। श्राव्य होने के साथ-साथ भावपूर्ण होते हैं। इसी श्रेणी के वीथि नाटक आन्ध्र देश में बहुत प्राचीन समय से ही प्रचलित हैं जो बाद को वीथि भागवत नाम से विख्यात हुए। उनमें भक्ति और शृंगार की प्रमुखता होती है। इस परंपरा के देशी रूपकों में भागवत की कथा मुख्य है। भागवत कथा के प्रदर्शन में कूचिपूडि भागवतों (भागवत का अभिनय करने वालों) को विशेष आदर प्राप्त हुआ है। कथाओं में 'पारिजाता पहरणमु' बहुत जनप्रिय हुई। कूचिपूडि भागवतों में शास्त्रीय नृत्य प्रधान है। यही कारण है कि वे भरत-नाट्य के उत्तम नमूने माने जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि नारी पात्रों का वेष पुरुष धारण करते हैं।

इतिवृत्त अथवा कथावस्तु

यक्षगानों की कथावस्तु मुख्यतः पौराणिक होती है। आधुनिक युग में सामाजिक एवं राजनैतिक घटनाओं पर यक्षगान लिखे गये हैं; किन्तु नब्बे प्रतिशत यक्षगानों की कथावस्तु पौराणिक रहती है। पुराण-प्रसिद्ध कथाओं के आधार पर भी यक्षगानों की रचा हुई है। रामायण, भागवत तथा महा-भारत की कथाओं के साथ नल, हरिश्चन्द्र इत्यादि पौराणिक कथाएँ भी यक्ष-गानों का आधार बनी हैं, किन्तु युग का प्रभाव यक्षगानों पर भी परिलक्षित होता है। २० वीं शती में पट्लोरि वीरप्पा ने "क्रोधापुरि रैतु विजयमु" (क्रोधा-पुरी के कृषकों की विजय) नामक यक्षगान लिखा है, जिसमें भारत माता की प्रार्थना, गाँधी जी की स्तुति इत्यादि भी देखी जा सकती है। इसकी कथावस्तु सामाजिक समस्याओं से परिवेष्टित राजनैतिक समस्याएँ हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि यक्षगान भी युग के अनुरूप अपने स्वरूप को परिवर्तित करते हुए जनता के मनोरंजन का साधन बना हुआ है।

रंगमंच

प्राचीन समय में आन्ध्र में रंगमंच का विकास नहीं हुआ था। आन्ध्र प्रदेश में जो भी लोकनाट्य थे वे सब चलते-फिरते प्रदर्शन मात्र थे। लोक-नाट्य के अभिनेता एक जगह स्थिर रूप से नहीं रहते थे, उन्हें गाँव-गाँव घूम-घूम अपने नाटकों का प्रदर्शन करना पड़ता था। अतः रंगमंच का विकास बहुत

समय तक हो नहीं पाया। वे जिस गाँव में पहुँचते, उस गाँव के मुहाने पर, चौपाल अथवा मंदिर के सामने तत्काल पंडाल डालते। उस पंडाल में ही यक्षगानों का प्रदर्शन होता। पंडाल के सामने और दायें-बायें भी जहाँ तक दृष्टि जाती है, खुला प्रेक्षागार ही होता है।

सामग्री

रंगमंच की साधन-सामग्री क्या थी? यों वे प्रदर्शनकर्ता आवश्यक सामग्री अपने साथ ले जाते थे, फिर भी जिस किसी गाँव में पहुँचते, वहीं उन्हें वह सामग्री उपलब्ध हो जाती। मंच अथवा पंडाल के सामने एक सफ़ेद पर्दा लटकाया जाता, यह पर्दा कोई बड़ा दुपट्टा होता या दो-तीन खादी के दुपट्टों को जोड़ कर मंच के अनुरूप बना लिया जाता। पर्दे के दोनों ओर दो मशालें रख दी जातीं, जिनकी रोशनी में यक्षगान का प्रदर्शन होता। क्रमशः मशालों की जगह पेट्रोमैक्स ने ली। पर्दे के पीछे प्रबंधकर्ता या संचालक, गाने में साथ देने वाले, ढोल या मृदंग तथा ताटन देने वाले रहते हैं। पर्दे के सामने सूत्रधार होता है, वही प्रदर्शन का प्रवर्तक होता है।

सूत्रधार पात्रों के प्रवेश की सूचना देता है, पात्रों से वार्तालाप करता है, नेपथ्य में गाने वाले गायकों को टेक देता है। अभिनय के अनुरूप ताल देता है, संधि-गद्य का वाचन करता है और समय-समय पर हास्य-प्रसंग करता है।

समय

यक्षगानों का प्रदर्शन रात में ८–९ बजे प्रारंभ होता है और प्रातः तक चलता रहता है। कुछ ऐसे भी यक्षगान हैं जिनका प्रदर्शन ५–६ दिन तक चलता है। आधुनिक युग के प्रभाव के कारण यक्षगानों के प्रदर्शन का समय भी कम होता जा रहा है, फिर भी रात-भर इनका प्रदर्शन होता है।

रस

यों तो यक्षगानों में श्रृंगार, रौद्र एवं वीर रसों की प्रधानता रहती है, लेकिन इनके साथ अन्य रस भी आते हैं। यक्षगानों के प्रदर्शन में मंच पर युद्ध आदि भी दिखाये जाते हैं। गिरिजा कल्याणम् (पार्वती परिणय) इस ढंग का एक अद्‌भुत नमूना है। यक्षगानों में वाचिक तथा आंगिक अभिनयों की प्रधानता होती है। नाटक के संभाषण आदि का सारांश गायक गीतों के रूप में गाते हैं। पात्रों के संभाषण तत्सम शब्दों तथा लोकोक्तियों एवं कहावतों से पूर्ण होते हैं।

उद्देश्य

यक्षगानों के प्रदर्शन का उद्देश्य मनोरंजन के साथ साधारण प्रजा में उन्नत आदर्शों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उदात्त आध्यात्मिक ज्ञान का प्रबोध करना भी रहा है। मानव जीवन का लक्ष्य, वैदिक ज्ञान तथा जगत के परमार्थ का परिचय कराना भी यक्षगानों का लक्ष्य रहा है। इस दृष्टि से यक्षगानों का प्रदर्शन सफल कहा जा सकता है।

छन्द

यक्षगानों में प्राचीन लोक गीतों की अधिकता रहती है। उन गीतों के राग, ताल इत्यादि का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन हुआ है। १७ वीं शती में अप्पकवि नामक रीति शास्त्रकार द्वारा विरचित "अप्प कवीयमु" नामक छंद शास्त्र में यक्षगानों के छंदों का विवेचन हुआ है। उनकी गति, ताल, आदि यक्षगानों के अनुरूप हैं।

अप्प कवि ने न केवल यक्षगानों के लक्षण बताये अपितु उनके आधार पर "अंबिकावाद" नामक यक्षगान भी लिखा। यक्षगानों की कथावस्तु, भाव, भाषा, छंद, कविता इत्यादि देशी शैली में निर्मित हैं।

नृत्य

यक्षगान में भाव, राग, ताल के साथ नृत्य, गीत और अभिनय का सुन्दर समन्वय रहता है। समीक्षकों का कथन है कि यक्षगान भी नृत्य-नाट्य है। इनमें नृत्य मुख्यतः तीन रूपों में प्रयुक्त होता है। गीत के साथ नृत्य तो होता ही है, साथ ही ताल, गमक आदि के अनुरूप दूसरी पद्धति का नृत्य भी होता है। तृतीय दशा में उद्धत नृत्य अथवा तांडव नृत्य होता है। नाट्य शास्त्र प्रणेता भरतमुनि द्वारा निर्देशित प्राचीन तांडव नृत्य के लक्षणों का यक्षगानों के आधार पर उनका पुनरुद्धार करने के इच्छुक नाट्य शास्त्रियों के लिए आवश्यक लोक-नृत्य की सामग्री उपलब्ध होगी। इस कार्य के लिए उपर्युक्त यक्षगान पुराने हस्तलिखित ग्रंथों में उपलब्ध हैं। इसमें उषा-चरित्र, उषा परिणय, कालीय मर्दनमु आदि अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

यक्षगान साहित्य

कुछ विद्वानों का विचार है कि अब तक प्राप्त यक्षगानों में ओबय मंत्री कृत "गरुडाचलम्" अत्यंत प्राचीन है। कुछ समीक्षकों का विश्वास है कि कन्दुकूरि रुद्रय द्वारा विरचित "सुग्रीव विजयम्" उपलब्ध यक्षगानों में प्राचीनतम है। 'सुग्रीव विजय'कर्ता कृष्णदेवराय के समकालीन माने जाते हैं।

सुग्रीव विजय की कथावस्तु रामायण से ली गयी है। वीर हनुमान राम-लक्ष्मण का दर्शन करते हैं, फिर बालि-वध तथा सुग्रीव के पट्टाभिषेक के साथ कथा समाप्त हो जाती है। इसमें बालि-सुग्रीव का युद्ध, बालि-वध, तारा का बालि-वध पर दुखी होना और रामचन्द्र की निन्दा करना अत्यंत मनोहर है। वीर और करुण रसों के पोषण में कवि को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है।

तेलुगु साहित्य में कृष्णदेवराय का युग 'प्रबन्ध युग' के नाम से विख्यात है, फिर भी इस युग में यक्षगानों के प्रति आदर का भाव था, इतिहास इस बात का साक्षी है कि कृष्णदेवराय की नाट्यशाला में यक्षगानों का प्रदर्शन होता था। बताया जाता है कि कृष्णदेवराय की पुत्री ने 'मरीचो परिणय' नामक यक्षगान लिखा था। शिलालेखों द्वारा इस बात की पुष्टि होती है कि कृष्णदेवराय की नाट्यशाला में 'तालुकोंड' नामक नाटक का प्रदर्शन होता था और उस युग में नागय्या नामक नट अपने अभिनय के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था।

कृष्णदेवराय के युग के पश्चात् तंजाऊर के नायक राजाओं के आश्रय में यक्षगानों का चरम विकास हुआ। रघुनाथ नायक तथा विजयराघव नायक के राज्यकाल में असंख्य यक्षगानों का सृजन हुआ। इनमें दो यक्षगान अत्यंत विख्यात हैं। इनके प्रणयन के पूर्व पुराण की कथाओं के आधार पर यक्षगान निर्मित होते थे, परन्तु विजयराघव नायक ने प्राचीन परंपरा को तिलांजलि दे कर अपने पिता 'रघुनाथ नायक' को ही नायक बना कर 'रघुनाथाभ्युदयमु' नामक यक्षगान की सृष्टि की। इसकी देखादेखी विजयराघव नायक की प्रेयसी रंगाजम्मा ने विजयराघव नायक को नायक बना कर 'मन्नारु दास विलास' नामक यक्षगान लिखा। इसमें कथा-चमत्कार की अपेक्षा वर्णन वैचित्र्य अधिक है। इसे प्रबन्ध काव्य भी कहें तो अत्युक्ति न होगी।

रंगाजम्मा के यक्षगान का प्रभाव भक्तशिरोमणि गायक त्यागराज तथा नारायण तीर्थ पर पड़ा। त्यागराज ने 'प्रह्लाद चरित्र' तथा 'नौका भंगम' नामक दो यक्षगानों का प्रणयन किया, तो नारायण तीर्थ ने 'पारिजातापहरणमु' का सृजन किया।

त्यागराज भक्तशिरोमणि तो थे ही, साथ ही संगीत सार्वभौम भी थे। 'प्रह्लाद चरित्र' में भक्त की परवशता तथा ब्रह्मानंद देखते ही बनता है। इष्टदेवता की स्तुति से नाटक का शुभारंभ करके अपने से पूर्ववर्ती कवियों की

प्रशंसा के बदले प्राचीन भक्त तुलसीदास, रामदास, नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम, जयदेव, श्रीनारायण तीर्थ इत्यादि भक्तों का स्मरण किया गया है। इसमें ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति का संगम हुआ है। यह कृति रामचन्द्र को समर्पित है। प्रस्तावना के पश्चात् दौवारिक तथा सूत्रधार का संभाषण होता है। प्रह्लाद को नागपाश में बाँध कर समुद्र में फेंकने के वृत्तान्त से नाटक प्रारंभ होता है। अंत में हरि का साक्षात्कार कराते हैं।

'नौकाभंग' अथवा 'नौका विजयमु' भक्ति तथा श्रृंगार का समन्वित रूप है। गोपिकाएँ बालकृष्ण के साथ यमुना नदी में नौका विहार के लिए चल पड़ती हैं। सौन्दर्य-गर्विता गोपिकाओं का गर्व भंग करते हैं बालकृष्ण। नौका में पानी आता है, गोपाल उन रंध्रों को पहले चोलियों तथा बाद को साड़ियों द्वारा भरने का आदेश देते हैं। अंत में गोपियाँ अपनी देह का अभिमान त्याग प्राणों की रक्षा के लिए वैसा ही करती हैं। इस प्रकार भव-सागर के तारनहार कृष्ण अपनी लीला का परिचय देते हैं।

उपर्युक्त श्रेणी की रचनाओं में 'लेपाक्षिरामायणमु' अत्यंत उल्लेखनीय है। इसके प्रारंभ में आराध्य की प्रार्थना, गुरु-वंदना, पूर्व कविस्तुति और वंश-परिचय है। यह पूर्णतः दृश्य काव्य है। प्रदर्शन की दृष्टि से अन्य यक्षगानों की अपेक्षा यह अधिक सफल रहा है।

इस परंपरा में कवि वेंकटदासु कृत 'धेनुकोंड विराट पर्व नाटक' अत्युत्तम है। रामदास भी इसी श्रेणी का एक उत्तम यक्षगान है। इनके अतिरिक्त अन्य लोकप्रिय यक्षगानों में किरातार्जुनीयमु, गंगा गौरी विलासं, एरुकल वेषं कथा, त्रिपुर संहारम्, दारुवन क्रीड़ा, मृत्युंजय विलासं, शिव-पारिजातं, गोपाल विलासं, रंगपुरिपारिजात नाटकं, तारा शशांक, सीता कल्याणं, सुन्दर कांड नाटकं, तथा कंकंटि पापराजु कृत विष्णुमाया विलासं सुप्रसिद्ध हैं।

तंजाऊर के नायक राजाओं के समय में यक्षगान नाटक अथवा दृश्य-प्रबंध के नाम से भी स्मरण किये जाने लगे। क्रमशः यक्षगानों में टेक का स्थान राग लेने लगा। कविता का स्थान पद या गीत लेने लगे। कविता की अपेक्षा गद्य, विषय क्रम को जोड़ने वाले गद्य के स्थान पर पात्रों का परस्पर संभाषण प्रधान माना गया। उस समय के यक्षगानों में नायक राजाओं के विवाह, श्रृंगार आदि के साथ आस्थान (दरबार) का वैभव उनके राज्य का प्रजा-जीवन, नगर के राज-मार्ग पर जुलूस में जाने वाले नायक अथवा राजा

को देख नायिका का मोहित हो जाना, विरह-वर्णन आदि की अधिकता रहने लगी।

महाराष्ट्र के राजाओं ने भी तेलुगु के यक्षगानों के विकास में प्रशंसनीय योग दिया। शाहजी (१६८४-१७१२) ने ६-७ उत्तम यक्षगानों की रचना की। इनके लिखे यक्षगानों की संख्या ३० बतायी जाती है। इस युग में कथा का सारांश द्विपद छन्द में बतला दिया जाता था, तदनंतर गणेश की स्तुति, कथा-संधान, सूत्रधार के प्रसंग, विदूषक इत्यादि की प्रधानता रही। इस प्रकार की रचनाओं में दर्भा गिरिराजु का स्थान उल्लेखनीय है। इस युग में कुरवंजियों का पुनः यक्षगानों में प्रवेश हुआ। कुरवंजि पात्र को प्रधानता दी गयी। मैसूर के कंठीरव रांजा ने 'आन्ध्र कुरवंजि' नामक एक रूपक की रचना की। त्यागराज आदि की श्रेणी के मेलत्तूरु वेंकटराम शास्त्री ने जो रचनाएँ कीं वे "मेलत्तूरु भागवत मेल नाटक" नाम से विख्यात हैं।

तेलंगाने में १८वीं शती में यक्षगानों की रचना प्रारंभ हुई और १०० के लगभग यक्षगान इस प्रदेश में रचे गये। वहाँ पर यक्षगान पर्याप्त लोक-प्रिय भी हुए। १७८० में शेषाचलकवि कृत 'धर्मपुरी रामायण', १८३४ में श्रीमुदयकवि द्वारा रचित 'मंथेन रामायण' काफ़ी प्रसिद्ध हैं। यहाँ के अन्य नाटककारों में गोवर्धनं नरसिंहाचार्युलु, पट्टें पापकवि, शेषभट्टरु कृष्णमाचार्युलु आदि के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं।

२०वीं शती में भी तेलंगाने में यक्षगानों का प्रणयन एवं प्रदर्शन होता रहा। पौराणिक गाथाओं के साथ लोक-गीत तथा लोक-कथाओं को भी इतिवृत्त बना कर यक्षगान रचे जा रहे हैं। इस श्रेणी की रचनाओं में चेर्विराल भाग्य बेजोड़ हैं। संख्या की दृष्टि से ही नहीं अपितु उत्तमता की दृष्टि से भी ये परवर्ती तथा समकालीन यक्षगानकर्ताओं के लिए आचार्य माने गये। इनकी रचनाओं में आधुनिक नाटकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

यों तो तेलंगाने में यक्षगानों की रचना विलंब से शुरू हुई किन्तु अल्प समय में ही यहाँ उनका पर्याप्त विकास हुआ। विविधता तथा लोकप्रियता की दृष्टि से संपन्न हो तंजाऊर के युग की भाँति तेलंगाने का युग भी अवि-स्मरणीय बन गया है।

आन्ध्र विश्वविद्यालय ने यक्षगानों के पुनरुद्धार का बहुत प्रयत्न किया है। अब तक पाँच जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं। कुल १५ जिल्दें प्रकाशित करने की योजना है। •

३. हिन्दी तथा तेलुगु साहित्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आधुनिक हिन्दी और तेलुगु साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ : उपन्यास और नाटक

श्री जी. सुन्दर रेड्डी

विश्व की प्राय: प्रत्येक भाषा में पहले पद्य का जन्म हुआ था, तदुपरांत गद्य का। संभवत: जब लिपि का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय लय-प्रधान छंदोबद्ध कविता को कंठस्थ करना अधिक सरल था। हिन्दी और तेलुगु साहित्य का प्रारंभ पद्य से ही माना जाता है।

हिन्दी और तेलुगु की प्रारंभिक रचनाएँ राजाओं के दरबार में लिखी गयीं, किन्तु दोनों की परिस्थिति काफ़ी भिन्न थी। हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में उत्तर-भारत में हिन्दू-मुसलमानों के बीच संघर्ष चल रहा था। उस संघर्षपूर्ण युग में वीर रस प्रधान कविता हो सकती थी। संघर्ष का मूल कारण नारी और राज्याकांक्षा थी। तेलुगु-साहित्य के प्रारंभिक-काल में दक्षिण में भी संघर्ष चल रहा था, किन्तु वह संघर्ष राजनीतिक न हो कर धार्मिक था। शैव और वैष्णवों के बीच, जैन और बौद्धों के बीच धार्मिक विद्वेष बढ़ता गया। ऐसे समय में नन्नय ने वैदिक-धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए तेलुगु में 'महाभारत' की रचना की। उत्तर भारत में उस समय कई भाषाएँ प्रचलित थीं। हिन्दी के आदि महाकाव्य पृथ्वीराज रासो की भाषा डिंगल या राजस्थानी मानी जाती है। ध्यान देने की बात यह है कि तेलुगु द्राविड परिवार की भाषा होते हुए भी उसके प्रारंभिक रूप में संस्कृत के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए थे। हिन्दी आर्य-परिवार की भाषा होते हुए भी उसके प्रारंभिक रूप राजस्थानी में संस्कृत के शब्द कम प्रयुक्त हुए।

इसके बाद क्रमश: तेलुगु के पुराण-युग के कवियों की रचनाओं में संस्कृत-शब्दों की संख्या घटती गयी और उनके स्थान पर ठेठ तेलुगु शब्द प्रयुक्त होने लगे। राजा कृष्णदेवराय-युग तेलुगु-साहित्य का स्वर्ण-युग कहलाता है। इस युग में अनेक काव्यों का सृजन हुआ, जिनमें संस्कृत के शब्द अत्यधिक

मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इस युग के बाद शतक साहित्य का युग आता है, जिसमें बोलचाल की भाषा को स्थान मिला। शतक या गेय कविता का उद्देश्य सरल एवं सुबोध शैली में भक्ति, नीति एवं जीवन का अनुभव बताना रहा है। इसलिए इस काल के कवियों ने लोकभाषा में अपनी रचनाएँ कीं।

हिन्दी का प्रारंभिक रूप स्पष्ट नहीं है। वीरगाथाकाल की अधिक रचनाएँ राजस्थानी भाषा में हुई हैं। भक्तिकाल की रचनाएँ जिसको हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-काल कहा जाता है, ब्रज और अवधी में हुई हैं। रीतिकाल की सारी रचनाएँ भी ब्रजभाषा में ही हैं। यहाँ तक कि अठारहवीं सदी तक हिन्दी साहित्य राजस्थानी, मैथिली, ब्रज एवं अवधी भाषाओं में पाया जाता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि तेलुगु भाषा के प्रारंभिक रूप में और आधुनिक तेलुगु भाषा के स्वरूप में हम अधिक भिन्नता नहीं पाते, किन्तु हिन्दी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। वीरगाथा काल की भाषा राजस्थानी, भक्ति और रीतिकाल की भाषा ब्रज और अवधी में, और आधुनिक हिन्दी-भाषा के स्वरूप में बहुत बड़ा अंतर है। आधुनिक हिन्दी भाषा की छाया हम अमीर खुसरो और कबीर की रचनाओं में पाते हैं किन्तु आधुनिक हिन्दी-खड़ी बोली—का रूप अठ्ठारवीं सदी के बाद ही हम पाते हैं।

उन्नीसवीं शती भारतीय भाषाओं के साहित्य के अभ्युत्थान की शती है। उस समय तक समस्त भारत पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। अंग्रेज़ी और देशी भाषाओं के पठन-पाठन के लिए स्कूल तथा कालेज खोले गये। पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ था। भाषा-कोशों का निर्माण तथा अन्य भाषाओं की उत्तम-कृतियों का अनुवाद होने लगा था। साथ ही साथ अपने-अपने धर्म-प्रचारार्थ भारतीय-भाषाओं में गद्य-ग्रंथ रचे जाने लगे। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण तत्संबंधी-ग्रंथ भी पहले अंग्रेज़ी में और बाद को भारतीय भाषाओं में लिखे जाने लगे।

राष्ट्रीय जागृति के प्रादुर्भाव के कारण राष्ट्रीय भावों का प्रचार ज़ोरों से होने लगा। अपनी भाषा, अपना साहित्य, और अपनी संस्कृति के प्रति लोगों का अनुराग बढ़ने लगा। अंग्रेज़ी भाषा की देखादेखी यहाँ की भाषाओं में भी गद्य के विभिन्न अंग विकसित हुए। ईसाई पादरियों ने भारत की विभिन्न भाषाओं के माध्यम से अपना धर्म-ग्रंथ बाइबिल का मुद्रण कर जनता में प्रचार करना प्रारंभ किया। तब यहाँ भी आर्य समाज, ब्रह्मसमाज जैसी

संस्थाएँ जन्म ले कर स्वभाषा और निज धर्म की रक्षा करने में तथा काला-नुसार, उनमें सुधार एवं परिवर्तन लाने में लग गयीं।

लार्ड मेकाले जैसे विद्वानों ने भारतीय जनता को भाषा तथा संस्कृति पर अंग्रेज़ी भाषा तथा साहित्य का स्थायी प्रभाव डालने के हेतु अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बना कर अंग्रेज़ी में शिक्षित व्यक्तियों को अधिकार, और उच्च पद प्रदान कर उनका सम्मान करना प्रारंभ किया। इससे भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ।

दूसरी ओर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत तथा भारतीय भाषाएँ सीख कर उन भाषाओं की काफ़ी सेवा की। सी. पी. ब्राउन, बिशप काल्डवेल, कर्नल कालिन मेकंजी इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों ने तेलुगु भाषा की उन्नति एवं विकास के लिए स्तुत्य प्रयत्न किया। उत्तर-भारत में जान गिलक्राइस्ट जैसे व्यक्तियों ने हिन्दी की उन्नति एवं विकास के लिए काफ़ी योगदान दिया। इन लोगों ने भाषा का संस्कार किया और साहित्य की वृद्धि के लिए काफ़ी मदद पहुँचायी। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं की छान-बीन की। अनेक प्राचीन ग्रंथों का पता लगाया और उन ग्रंथों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। मुद्रण-यंत्र के आविष्कार के साथ-साथ अनेक हस्तलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो कर पाठकों के हाथों में आ गयीं।

औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ मानव का मस्तिष्क भी विकसित होने लगा। बौद्धिक प्रगति के साथ-साथ गद्य की प्रधानता बढ़ी। लोगों में तार्किक भावना का उदय हुआ। समाचार-पत्रों में छोटे-छोटे लेख, कहानियाँ, समीक्षाएँ तथा सामाजिक दशा का वर्णन करने वाली रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

आधुनिक हिन्दी और तेलुगु साहित्य का उदय क़रीब-क़रीब एक ही समय में हुआ। इसलिए दोनों साहित्यों की प्रवृत्तियों में समानता का होना भी स्वाभाविक है। युग की परिस्थितियों का प्रभाव ज्यों-ज्यों साहित्य पर पडता गया त्यों-त्यों युग की भावनाएँ कविता, कहानी, नाटक एवं उपन्यास आदि में मुखरित होती गयीं। बीसवीं सदी के प्रथम दशाब्द में राजा राममोहन राय के मानवतावाद का प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं में दिखाई दिया। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द इत्यादि के उपदेशों से हिन्दू-जाति में जागृति पैदा हुई और लोकमान्य तिलक ने उन्हें प्राचीन-संस्कृति की ओर प्रवृत्त कर आत्मविश्वास एवं आत्माभिमान पैदा किया। उसी समय राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी साहित्यकार और कलाकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया

और युग की वाणी उनकी रचनाओं में प्रतिध्वनित हुई। परिणाम स्वरूप हिन्दी और तेलुगु, दोनों में, प्राचीन और आधुनिक भावों और विचार-धाराओं का संघर्ष और समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु और वीरेशलिंगम पन्तुलु का युग

यह युग हिन्दी और तेलुगु गद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु के आगमन के पूर्व राजा शिव प्रसाद की फारसी मिश्रित शैली और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत गर्भित शैली का जन्म हो चुका था। भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग को ग्रहण कर शुद्ध खड़ी बोली-गद्य का निर्माण किया। इन की भाषा में संस्कृत और फारसी के वे सभी प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो कि हिन्दी में खप गये थे। भाषा के परिमार्जन में हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्मदाता कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसी समय तेलुगु साहित्य-क्षेत्र में भी एकमहा पुरुष उदित हुए। उन्हीं का नाम वीरेश लिंगम पन्तुलु है। पन्तुलु ने तेलुगु साहित्य में पहला नाटक, पहला उपन्यास, पहला प्रहसन, पहली कहानी एवं पहली जीवनी प्रस्तुत की। कवियों की जीवनियाँ लिख कर तेलुगु साहित्य के इतिहास की नींव डाली। संस्कृत और अंग्रेज़ी के उत्तम ग्रंथों का तेलुगु में अनुवाद किया। महिलाओं की उन्नति के लिए संस्थाएँ खोलीं, पत्रिकाएँ चलायीं। समीक्षा-साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न किया। संक्षेप में उन्होंने समाज सुधार के लिए, अपनी लेखनी चला कर समाज को स्वस्थ बनाने के लिए, साहित्य का सृजन किया। हिन्दी साहित्य में भारतेदु हरिश्चन्द्र और महावीर-प्रसाद द्विवेदी जी ने जो काम किया वह काम श्री वीरेश लिंगम ने अकेले ही किया। भारतेन्दु ने नाटक लिख कर तथा अनुवाद करके हिन्दी साहित्य की उन्नति में योगदान दिया। रंगमंच पर अभिनय करके और दूसरों से करा कर हिन्दी का प्रचार किया। कविताएँ लिखीं, नाटक और लेख लिखे। श्री वीरेश लिंगम की तरह पत्रिकाएँ सम्पादित कीं। अल्पकाल में ही उन का निधन हुआ वरना वे भी वीरेश लिंगम की तरह साठ वर्ष तक साहित्य-सेवा करके हिन्दी को और भी समृद्ध बनाते।

गद्य-काल

गद्य का जन्म और विकास आधुनिक काल में ही हुआ। उपर्युक्त कथन हिन्दी और तेलुगु गद्य-साहित्य के संबंध में ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय भाषाओं के लिए भी लागू हो सकता है। गद्य-काल से हमारा

तात्पर्य इतना ही है कि इस समय तक हिन्दी और तेलुगु भाषाओं ने गद्य के एक विशिष्ट-स्वरूप को प्राप्त किया था तथा गद्य के विभिन्न अंग एवं उपांगों की पूर्ति होने लगी। पत्र-पत्रिकाओं के स्तर और मुद्रण में भी काफ़ी विकास हुआ। वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ मानव-समुदाय की आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उनकी रुचि भी परिष्कृत होती गयी। अनेक प्रकार के शास्त्रों का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा। अभिव्यक्तिकरण की पद्धतियाँ, विषय का प्रतिपादन, विचार-धारा का परिष्कृत रूप लोगों के सामने आया। अनुसंधान, चिंतन, मनन, निरीक्षण तथा सूक्ष्म अध्ययन के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। प्राच्य तथा पाश्चात्य भाषा एवं साहित्यों के अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विवेचन भी होने लगा। फलतः, अनेक प्रकार के विचारों के अभिव्यक्तिकरण के लिए भाषा के विविध अंगों को समृद्ध बनाने की आवश्यकता हुई इन सब कारणों से गद्य साहित्य के विभिन्न-अंगों का विकास होता गया।

काव्य-धारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

श्री वीरेशलिंगम पंतुलु ने जो सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ किया, उसे काव्य-रूप देने वाले श्री गुरजाड अप्पाराव थे। स्वर्गीय गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने जन-भाषा का आन्दोलन चलाया। इन त्रिमूर्तियों ने मिल कर आन्ध्र भाषा तथा साहित्य की अपूर्व सेवा की। हिन्दी साहित्य में श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री मैथिलीशरण गुप्त की तरह श्री अप्पाराव ने देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखीं। इन महानुभावों ने जन-भाषा में राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित कविताएँ कीं। अप्पाराव स्वयं अपनी कविता का आशय बताते हैं :—

आकुलंदुन अणगि मणगि
कवित कोयल पलुकवलेनोय
पलुकुलनु विनि देशमंद—
भिमानमुलु मो लेकेत्त वलेनोय।

(पत्तों की ओट में छिप कर कविता रूपी कोयल गान करे और उसकी वाणी को सुन कर लोगों के हृदयों में देश-प्रेम की भावनाएँ अंकुरित हों)।

देश में कांग्रेस का आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार ज़ोरों से हुआ। अपनी भाषा तथा संस्कृति के प्रति लोगों का प्रेम

बढ़ने लगा। प्राचीन और नवीन आदर्शों के बीच संघर्ष हुआ। इस संक्रांति-काल में भारत की भाषाओं में जो साहित्य आया वह प्रबोधात्मक तथा प्राचीनता एवं राष्ट्रीयता का संदेशवाहक था।

इसी समय हिन्दी-साहित्य में छायावाद या रहस्यवाद की कविताओं का प्रादुर्भाव हुआ, तेलुगु साहित्य में भाव-कविता का आगमन हुआ। इस काल के कवियों पर बंगला के प्रसिद्ध कवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की कविता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अंग्रेज़ी व फ्रेंच-साहित्य की काव्य-शैली का अनुकरण किया गया। आतमपरक प्रेम-प्रधान इस कविता में गेयता, स्वच्छंदता उल्लेखनीय है।

उमरखय्याम ने फ़ारसी भाषा में रुबाइयाँ लिख कर नयी विधा प्रस्तुत की, उसका प्रभाव संसार की प्रायः सभी भाषाओं और साहित्यों पर पड़ा। इस विश्वव्यापी विचारधारा के प्रभाव से हिन्दी और तेलुगु साहित्य कैसे अछूता रह सकता था ?

हिन्दी साहित्य में छायावद, रहस्यवाद आदि की प्रतिक्रिया स्वरूप जिस कविता का आविर्भाव हुआ, उसे प्रगतिशील कविता कहते हैं। प्रथम संग्राम के उपरांत पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई, इसके परिणाम-स्वरूप आर्थिक-व्यवस्था तथा समाज की मान्यताओं में विशेष परिवर्तन हुआ। इसका प्रभाव क्रमशः सभी भाषाओं पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से पड़ा। कथा-वस्तु, छंद, अलंकार-योजना, भाव, भाषा-शैली सब में परिवर्तन हुआ। हिन्दी में सबसे पहले सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने छंदों के बंधनों को तोड़ा तो तेलुगु में श्रीरंगम श्रीनिवासराव ने। इन दोनों कवियों ने भिक्षुक, विधवा से ले कर प्रत्येक व्यक्ति को काव्य का नायक बनाया। दोनों भाषाओं में अभ्युदय-साहित्य या प्रगतिशील-साहित्य को काफ़ी आदर-सम्मान प्राप्त हुआ। उपर्युक्त काव्य-धाराओं की प्रमुख प्रवृत्तियों के कवियों के अलावा दोनों साहित्यों में अनेक प्रमुख कवि पैदा हुए जिन की रचनाओं पर यहाँ प्रकाश डालना संभव नहीं है।

गद्य के विविध अंग

काव्य के अन्तर्गत गद्य, पद्य और चंपू की गिनती होती है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत नाटक गद्य-प्रधान होने के कारण गद्य की शाखा माना जा सकता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रधानतः दो शाखाएँ मानी जा सकती हैं—पद्य एवं गद्य। इन दोनों का सम्मिश्रण ही चंपू कहलाता है।

तेलुगु भाषा में चंपू काव्य की प्रधानता है। अतः तेलुगु साहित्य के प्रारम्भिक समय से ही चंपू का विकास होता आया है, किन्तु हिन्दी में चंपू नहीं लिखे गये। गद्य की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं, जो क्रमशः कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, जीवनी, यात्रा-वृत्तांत आदि हैं। हम यहाँ गद्य के दो प्रमुख भेदों पर ही विचार करेंगे और हिन्दी-तेलुगु के इन दोनों अंगों की संक्षेप में तुलना प्रस्तुत करेंगे।

उपन्यास

हिन्दी का प्रथम उपन्यास लाला श्रीनिवासादस कृत "परीक्षा गुरु" माना जाता है, तो तेलुगु में श्री वीरेशलिंगम पंतुलु विरचित "राजशेखर-चरित्र"। "परीक्षा गुरु" की अपेक्षा "राजशेखर-चरित्र" प्रौढ तथा उपन्यास-कला की दृष्टि से उत्तम कहा जा सकता है। बाबू देवकीनन्दन खत्री ने जासूसी उपन्यास लिख कर हिन्दी पाठकों में उपन्यासों के प्रति रुचि पैदा की तो चिलकर्मति लक्ष्मीनरसिंहम पंतुलु ने "गणपति" लिख कर तेलुगु पाठकों को प्रेरित किया। "गणपति" उपन्यास शिष्ट हास्यप्रधान है। इसको इतनी लोक-प्रियता प्राप्त हुई कि लक्ष्मीनरसिंहम पंतुलु उच्च कोटि के लेखकों में गिने जाने लगे। आपने "अहल्याबाई", "हेमलता" आदि ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। आप के अन्य उपन्यासों में "सौंदर्य तिलक" पौराणिक और "रामचंद्र विजय" सामाजिक हैं।

श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण पंतुलु ने "मालपल्ले" (हरिजनों की बस्ती) लिख कर तेलुगु उपन्यास-साहित्य में क्रांति पैदा की। समाज-सुधार एवं राष्ट्रीय जागृति से पूर्ण इस उपन्यास का अधिक प्रचार हुआ। इसी ज़माने में प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। युग-निर्माता गाँधी की वाणी के प्रभाव से भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में क्रांति की भावनाएँ, उठ रही थीं। जब देश या समाज क्रांतिकारी भावनाओं से पूरित हो कर, विभिन्न शक्तियों के संघर्ष से विक्षुब्ध हो उठता है तब उस देश या समाज में ऐसे व्यक्ति पैदा होते हैं, जो उस ज़माने के मूक, अव्यक्त भावों को अपनी वाणी या लेखनी द्वारा प्रकट करते हैं। यही काम प्रेमचन्द ने किया। उन्होंने "सेवासदन" से "गोदान" तक सभी उपन्यासों में देश के सजीव चित्र चित्रित किये। उनकी लेखनी से एक ऐसा युग अंकित हुआ जिसमें व्यक्तियों की महत्ता न हो कर उनके अंदर की विचार-धारा का सजीव चित्र चित्रित हुआ।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रमचन्द से पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जन-साहित्य की तरफ़ किसी ने ध्यान नहीं दिया। यदि किसी ने दिया भी है तो केवल नाममात्र के लिए। इसलिए अगर हम यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जन-साहित्य के प्रवंतक प्रेमचंद हैं। साहित्य क्षेत्र में उनके आगमन के पहले राजा, नवाब, अमीर और रईसों को ही साहित्य में स्थान मिलता था। हमारे साहित्यकार और कलाकारों की दृष्टि में देश के नब्बे प्रतिशत आदमी, जिन्हें हम जनता कहते हैं, साहित्य या कला में स्थान पाने के योग्य नहीं थे। ऐसे समय में, प्रेमचंद साहित्य में नये भाव और नये विचार ले कर आये। जिन्हें हमारा समाज अब तक मूक और गूँगा समझता था, उन्हें जबान दी प्रेमचंद ने। ग़रीबों के भी दिल होता है। उनमें भी मुहब्बत की चाह होती है, वे मुहब्बत के लिए क़ुर्बानियाँ भी करते हैं, उनमें सुख और दुःख की अनुभूति होती है, उनमें भी इज्ज़त-बेइज्ज़ती का ध्यान होता है। जिन्हें समाज मिट्टी का माधो समझता है, उनमें भी जोश है, और बलबला है और हैं बग़ावत की उमंगें और क़ुर्बानी का माद्दा। इन सचाइयों को हमने पहले प्रेमचंद के उपन्यासों में ही देखा।

प्रेमचंद ने जन-साहित्य ही नहीं दिया, वरन् उस साहित्य की भाषा कैसी होनी चाहिए, उसका नमूना भी दिया। जनता में प्रचलित कितने ही शब्दों को, मुहावरों और कहावतों को हिन्दी-साहित्य में उन्होंने प्रयुक्त किया। इस तरह प्रेमचंद ने लोगों को विचारधारा में ही परिवर्तन नहीं किया वरन् भाषा-क्षेत्र में भी ऐसी एक शैली प्रस्तुत की जो जनता के लिए आसान है और ज़ोरदार भी।

कला की दृष्टि से "रंगभूमि" प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, किन्तु उनकी सारी अनुभूति और कल्पना का चित्रपट 'गोदान' है। उसमें 'रंगभूमि' की तरह ज़िंदगी की फिलासफी नहीं है। "कर्मभूमि" की तरह सामाजिक जीवन के कर्तव्य नहीं हैं। "सेवा सदन" की तरह सेवा की कोई योजना नहीं है। "निर्मला" की तरह अनमेल विवाह की कोई करुण कहानी नहीं है। उसमें सिर्फ़ कुछ चित्र हैं, कुछ समस्याएँ हैं। चित्रों में रंग हैं— और वे ज़िंदा हैं। इस उपन्यास के पात्र अपनी समस्याओं की उलझन में पड़ कर उठते हैं, बैठते हैं, बोलते हैं, मौन रहते हैं, हँसते हैं और रोते हैं। इस उपन्यास में ग्राम्य-जीवन की आशा और निराशा, प्रेम और द्वेष, त्याग और भोग प्रतिबिंबित हैं। इन प्रतिबिंबों को देख कर हम घबराते हैं। अपने

हृदय पर हाथ रख कर सोचने लगते हैं कि यह क्या हो रहा है। हम क्या थे और क्या हो गये हैं और शर्म और ग़म भरे दिलों से सोचते हैं कि हम ऐसे क्यों हो गये हैं ? बस, यही प्रेमचंद की उपन्यास-कला की विशेषता है। यही उनकी लेखनी की विशेषता है।

प्रेमचंद गाँधी-युग के युग-प्रवर्तक कलाकार हैं। गाँधीवाद की छाप उनके हृदय पर स्पष्ट है। मगर उनका मस्तिष्क मार्क्स-दर्शन से प्रभावित यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाने की प्रेरणा देता है। उनका अंतिम उपन्यास "गोदान" एक अच्छा नमूना है। इसलिए प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का चित्रण किया है। अर्थात् यथार्थवादी भित्ति पर पैर जमा कर गाँधीवादी पंखों के सहारे उड़े हैं।

तेलुगु के उपन्यासों में गुडिपाटि वेंकटाचलम का विशेष स्थान है। "मैदानम", "हँपी-कन्चलु", "शशिरेखा" आदि उनके उत्तम उपन्यास है। तेलुगु के विख्यात उपन्यासकारों में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण, अडिवि बापिराजु, नरसिंह शास्त्री, बुच्चि बाबू, कोडवटिगंटि कुटुंब राव, गोपीचंद, मल्लादि वसुंधरा उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के उपन्यासकारों में श्री जयशंकर प्रसाद, डा० वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, रांगेय राघव, मन्मथनाथ गुप्त, यशपाल, जैनेन्द्र, निराला, गुरुदत्त, नागार्जुन इत्यादि प्रमुख हैं।

तेलुगु में श्री बुच्चि बाबू और कुटुंबराव मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त हैं तो गोपीचंद समस्यामूलक उपन्यास। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने "वेयिपडगलु" नामक एक हज़ार पृष्ठों का वृहत् उपन्यास लिखा है, जिसमें संपूर्ण आंध्र की संस्कृति एवं सम्यता का चित्र प्रस्तुत है। इनके अन्य उपन्यासों में "चेलियलिकट्ट", 'जेबु दोंगलु', 'मा बाबू', 'स्वर्गानिकि निच्चेनलु' प्रमुख हैं।

श्री अटवि बापिराजु के उपन्यास ऐतिहासिक और भावात्मक दोनों हैं। इनके उपन्यासों में 'नारायणराव', 'गोन गन्नारेड्डी', 'जाजि मल्ले', 'हिम-बिंदु' विख्यात हैं। 'हिमबिंदु' ऐतिहासिक उपन्यास है।

श्री नरसिंह शास्त्री ने 'नारायण भट्ट', 'रुद्रमदेवी' और 'मल्लरेड्डी' नामक तीन उपन्यासों की रचना की। इसी समय बंगला, अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं से सैकड़ों उपन्यास हिन्दी और तेलुगु में अनूदित हुए हैं। तेलुगु में

हिन्दी से प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, जैनेन्द्र आदि के प्रमुख उपन्यास भी अनूदित हुए हैं। तेलुगु से 'नारायणराव' और 'रुद्रमादेवी' जैसे उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हो चुका है। इनके अलावा नवोदित लेखकों के सैकड़ों उपन्यास दोनों भाषाओं में उपलब्ध हैं।

नाटक

हिन्दी का प्रथम अनूदित नाटक राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शाकुंतल' माना जाता है। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में पहला मौलिक नाटक लिखा।

उनके नाटकों में 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलम देवी' आदि मुख्य हैं। इनके अलावा संस्कृत और बंगला के कुछ नाटकों का अनुवाद किया।

तेलुगु का प्रथम और मौलिक नाटक गुरजाड अप्पाराव कृत 'कन्या-शुल्कम्' है। भारतेन्दु तथा अप्पाराव दोनों ने समाज-सुधार की दृष्टि से नाटकों की रचना की। दोनों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। शिक्षितों और अशिक्षितों में रंगमंच द्वारा जो सुधार लाया जा सकता है, वह अन्य साधनों द्वारा संभव नहीं है। इस बात को ये दोनों भली भाँति जानते थे। श्री वीरेशलिंगम पंतुलु ने भी कुछ नाटक लिखे थे।

हिन्दी में श्री जयशंकर प्रसाद और तेलुगु में श्री वेदम वेंकटराम शास्त्री ने नाट्य-साहित्य की जो सेवा की, वह अपूर्व है। प्रसाद और शास्त्री जी दोनों ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। दोनों संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' तथा 'अजातशत्रु' बहुत विख्यात हैं, तो शास्त्री जी के 'बोब्बिलि युद्धमु' और 'प्रताप रुद्रीयमु'। शास्त्री जी ने सबसे पहले पात्रोचित भाषा का प्रयोग कर तेलुगु नाट्य-साहित्य में नया अध्याय प्रारंभ किया। प्रसाद और शास्त्री दोनों पंडित थे। अतः साहित्य की दृष्टि से भी दोनों के नाटक अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से तेलुगु-नाट्य-साहित्य हिन्दी नाटक-साहित्य से अधिक समृद्ध है।

हिन्दी के नाटककारों की कुछ कृतियों का यहाँ उल्लेख करेंगे। श्री सुदर्शन के 'सिकन्दर', 'भाग्य-चक्र', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'रेवा', 'अशोक'; सेठ गोविन्ददास के शेरशाह, कुलीनता, हर्ष, शशिगुप्त; हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षा-बंधन, शिवासाधना; लक्ष्मीनाराण मिश्र के संन्यासी, राक्षस का

मंदिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, जगन्नाथ प्रसाद का प्रताप-प्रतिज्ञा, राकेश का आषाढ़ का एक दिन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जय-पराजय और उदय-शंकर भट्ट का 'दाहर' उल्लेखनीय हैं।

आंध्र नाटक पितामह धर्मवरम् कृष्णमाचार्युलु ने करीब चालीस नाटकों की रचना की और बल्लारी में एक नाटक-समाज की स्थापना कर स्वयं अभिनय किया और दूसरों से कराया। इनके नाटकों में चित्र-नलीयमु, पादुकापट्टाभिषेकमु, विषाद सारंगधर और सावित्री प्रसिद्ध हैं।

श्री कोलाचलम श्रीनिवासराव नाटककार ही नहीं कुशल अभिनेता भी थे। इन्होंने क़रीब तीस नाटक लिखे, जिनमें विजयनगर राज्यपतनमु काफ़ी विख्यात है। इन्होंने भी एक नाटक समाज की स्थापना करके नाट्य-कला की अपूर्व सेवा की।

राजमहेंद्रवरम् में चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम जी ने हिन्दू-नाटक-समाज की स्थापना की। ये एक अच्छे अभिनेता थे। इनका प्रथम नाटक "कीचक-वध" है। इसी नाटक के प्रदर्शन में आंध्र के भूतपूर्व मुख्यमंत्री आंध्र केशरी श्री टी. प्रकाशम् ने द्रौपदी का वेष धारण किया था। इस तरह अभिनय को एक विशुद्ध कला मान कर शिक्षित व्यक्तियों ने भी नाटकों की श्रीवृद्धि में योगदान दिया। चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम जी का प्रसिद्ध नाटक "गयोपाख्यान" है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि अब तक इस नाटक की क़रीब दो लाख-प्रतियाँ बिक चुकी हैं।

तेलुगु के लोकप्रिय नाटककारों में श्री पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहम् का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इनके नाटकों में हास्य की प्रधानता रहती है। विप्र नारायण, पादुका पट्टाभिषेकमु, कंठाभरणमु, इनके प्रमुख नाटक हैं।

जब देश में राष्ट्रीय जागृति की लहर उठी तो युग की चिंतन धारा से प्रभावित हो कर हिन्दी और तेलुगु के नाटककारों ने राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण नाटकों की रचना की। समाज सुधार की आवश्यकता को अनुभव करते हुए कुछ नाटककारों ने सामाजिक नाटक प्रस्तुत किये। आज तो राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं समस्या-प्रधान नाटक भी लिखे जाने लगे हैं। इस तरह सैकड़ों नवोदित नाटककार अपने नाटकों द्वारा हिन्दी और तेलुगु नाटक साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं।

दोनों भाषाओं में एक ओर मौलिक नाटकों की रचना हो रही है तो तो दूसरी ओर अनुवाद किया जा रहा है। हिन्दी में द्विजेन्द्रलाल राय के सभी

नाटकों का अनुवाद श्री रूपनारायण पांडे ने प्रस्तुत किया। देशी और विदेशी भाषाओं से भी अनुवाद होने लगे। आज तो दुनिया की सभी प्रसिद्ध भाषाओं से नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हो रहा है।

तेलुगु में भी बंगला और अंग्रेज़ी से कई नाटकों का रूपान्तर हो चुका है। आजकल के नाटककारों में आचार्य आत्रेय, श्री सुंकर सत्यनारायण, वासिरेड्डि भास्करराव, डी. वी. नरसराजु, अनिसेट्टि, पिनिसेट्टि, रामचन्द्र, नार्ल वेंकटेश्वरराव, राजमन्नार, गोरा शास्त्री, कुटंबराव, विश्वनाथ सत्यनारायण, मुद्दुकृष्ण, बच्चि बाबू इत्यादि बीसों नाटककार तेलुगु नाटक-साहित्य को समृद्ध बनाने में योगदान दे रहे हैं।

नाटक के अन्य रूपों में 'नाट्यरूपक' और 'गीति-रूपक' उल्लेखनीय हैं। तेलुगु में स्वामी शिवशंकर शास्त्री, देवुलपल्ली कृष्ण शास्त्री, डा. गोपाल रेड्डी, सी. नारायण रेड्डी और दाशरथी और हिन्दी में सुमित्रानंदन पंत और भगवती-चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा आदि के नाम इस दिशा में आदर के साथ लिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय भाषाएँ, भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनकी आत्मा एक है। भारतीय संस्कृति की एकता का यह एक उत्तम उदाहरण है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि आज की परिस्थितियों का प्रभाव समस्त भारतीय साहित्य पर प्रतिबिंबित है। लेखक जिन परिस्थितियों से प्रभावित होता है, उन्हीं का चित्रण अपनी कृतियों में करता है। लेखक पर प्रभाव डालने वाली अनेक परिस्थितियाँ हैं, उदाहरण के लिए धर्म, समाज, अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था तथा अन्यान्य विचार-धाराएँ, इसके अन्तर्गत मानी जा सकती हैं, अतः विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक-अध्ययन में इन विभिन्न विषयों का ध्यान रखना आवश्यक है। संक्षेप में आज हिन्दी और तेलुगु साहित्य के विभिन्न-क्षेत्रों में होने वाली वर्तमान गतिविधि को देख कर आशा की जा सकती है कि दोनों भाषाओं के सम्मुख उज्वल भविष्य है।

तुलसीदास एवं त्यागराज की भक्ति-पद्धति का—तुलनात्मक अध्ययन

श्री ए. सी. कामाक्षिराव

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवि भक्तशिरोमणि तुलसीदास की भाँति भक्त त्यागराज दक्षिण की भक्त परम्परा में श्रेष्ठ राम-भक्त कवि थे। यद्यपि ये दोनों समकालीन नहीं थे, तथापि उनमें कई प्रकार के साम्य विद्यमान हैं। दोनों प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, भावुक भक्त थे और लोक-कल्याण की भावना से परिपूर्ण संत पुरुष थे। दोनों राम के अनन्य भक्त होते हुए भी दूसरे देवी-देवताओं का आदर करते थे। त्यागराज के भक्तिपूत कीर्तन आज भी समस्त दक्षिण भारत में प्रसिद्ध हैं अवश्य, किन्तु अपने संगीत-माधुर्य के कारण। विडंबना यह है कि त्यागराज की भक्ति की ओर लोगों का ध्यान उतना नहीं गया जितना अपेक्षित है। इसका कारण यह है कि त्यागराज तमिल प्रदेश के केन्द्रस्थ स्थान में जन्मे थे और वहीं उनके कीर्तनों की रचना हुई थी। उनके सभी गीत उस समय की लोक भाषा तेलुगु में लिखे गये थे। उनके संगीत से प्रभावित एवं आकृष्ट शिष्यों में अधिकतर लोगों की मातृभाषा तमिल थी; इसलिए गीतों का सही-सही अर्थ समझने में उन्हें सहज ही कठिनाई हुई होगी। यदा-कदा तेलुगु के संगीतज्ञ एवं साहित्य-वेत्ताओं का ध्यान उस ओर अवश्य गया, किन्तु संगीतज्ञों में अधिकतर लोग उनकी संगीत सुधा का ही आस्वादन करने से संतुष्ट हो गये और साहित्य-मर्मज्ञ उनकी कविता को कदाचित लोकगीतों के अंतर्गत मान कर उसके मूल्यांकन करने से उदासीन रहे। यही कारण है कि त्यागराज को ले कर श्रद्धेय श्रीविस्सा अप्पाराव द्वारा प्रकाशित एक ग्रंथ को छोड़ कर कोई दूसरी प्रामाणिक पुस्तक तेलुगु में प्रकाशित नहीं हुई। दुर्भाग्य है कि वह ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं है।

भक्त त्यागराज ने हमें तीन निधियाँ प्रदान की हैं—भक्ति, कविता एवं संगीत। उनमें से केवल एक का—भक्ति का—संक्षिप्त विवेचन एवं मूल्यांकन करना इस लेख का उद्देश्य है।

त्यागराज श्रीराम के अनन्य भक्त होने के साथ-साथ श्रेष्ठ वाग्गेयकार थे। शार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में वाग्गेयकार के लक्षण यों बताये हैं—

वाचं गेयंच कुरुते यः स वाग्गेयकारक

वाग्गेयकार के लिए यह आवश्यक है कि वह संगीत का लक्षणकार भी हो और उदाहरणकार भी। त्यागराज संगीत-कला के निष्णात विद्वान् और प्रतिभा-संपन्न कवि भी थे। राम की भक्ति ने इन दोनों गुणों को अधिक गरिमामय बनाया है।

त्यागराज की बाल्यावस्था के संस्कारों ने उनमें राम-भक्ति का बीज बोया ही नहीं, अपितु उसे पल्लवित एवं पुष्पित भी किया। उनका जन्म स्मार्त परिवार में हुआ था, जो शंकराचार्य के अद्वैत मार्ग का अनुयायी था। इसीलिए उस परिवार में शिव-केशव, लक्ष्मी पार्वती आदि सब देवताओं की उपासना होती थी। ऐसी पृष्ठभूमि में राम के प्रति अनन्य भक्ति का निर्वाह असंभव नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य था। इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती है और ऐसी साधना में थोड़े लोग ही सफल हो सकते हैं, किन्तु त्यागराज के लिए यह सहज था। उन्होंने गुरूपदिष्ट राम-तारक मंत्र का जप विधिवत किया और अंततोगत्वा अपनी साधना में सफलता प्राप्त की।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकर भगवत्पाद ने जहाँ आत्मा और परमात्मा में अभेद की कल्पना की, वहाँ उन्होंने भक्ति का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने अनुरागात्मिका भक्ति को साध्य नहीं बल्कि साधन माना। आचार्यपाद के नाम से प्रचलित कई स्तोत्रों में भक्ति भावना का बड़ा ही भव्य रूप दृष्टिगत होता है। वे भावद्वैतता चाहते थे, क्रियाद्वैतता नहीं। "भावाद्वैतम् तदाकुर्यात् क्रियाद्वैतम् न कर्हिचित्"। यही नहीं, वे चित्त शुद्धि के लिए भक्ति को परमावश्यक साधन मानते हैं। भक्त त्यागराज शंकराचार्य के इसी पंथ के अनुयायी थे। वे शरीर की दृष्टि से परमात्मा का दासत्व, जीव दृष्टि से विश्वात्मा का अंशत्व और विशुद्ध आत्म-दृष्टि से अद्वैत में विश्वास रखते थे। भक्त पोतना भी इसी पंथ के अनुगामी थे और त्यागराज पोतना के श्रद्धालु अनुयायी थे।

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। वे परम वैष्णव थे और भगवान रामानुज की शिष्य परम्परा में थे। सहज ही उन्हें ब्रह्म एवं जगत दोनों को सत्य मानना चाहिए था, किन्तु उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसे उद्गार मिलते हैं, जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने संसार को 'मृगजल', 'रज्जु-सर्प' आदि कह कर उसे भ्रम रूप बताया। उनका विचार था कि जीव ईश्वर का अंश है, अतः अमल, चैतन्य और अविनाशी है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी,
चेतन अमल सहज सुखरासी।

किन्तु जीव माया के अधीन है और माया ईश्वराधीन है—

मायावस्य जीव अविनासी
ईस बस्य माया गुनखानी॥

जब जीव अपने सच्चे स्वरूप को पहचानता है तब वह स्वतः परमात्मा हो जाता है, फिर उसका जीवत्व नहीं रहता।

जानत तुम्हहि, तुम्हहि होइ जाई

किन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता। जीव के परब्रह्म हो जाने की बात के अलावा, तुलसीदास ने कई स्थानों पर संसार को मिथ्या भी कहा है—

(१) यों गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(२) सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ
जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंचु जिमि जोइ॥

(३) बूड्यो मृग-वारि खायो जेवरी को सांप रे।

तुलसीदास के इन वक्तव्यों के संबंध में यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसी ने हरिशून्य जगत को ही ऐसा कहा है, हरिमय जगत को नहीं, और तुलसी का मायावाद नैतिक है, दार्शनिक नहीं, फिर भी हमें यही लगता है कि तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य के संप्रदाय के अधिक निकट पड़ते हैं या यों कहें कि तुलसी ने रामानुज के भक्ति-सिद्धान्त एवं शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त में समन्वय साधने का सफल प्रयत्न किया। यही भागवत पुराण के व्याख्याता श्रीधर ने भी किया था, पोतना ने भी यही किया और भक्त त्यागराज ने भी इसी प्रयास में सफलता पायी।

भक्ति की सामान्य परिभाषा है—'परानुरक्तिरीश्वरे'। ईश्वर में प्रकृष्ट अनुराग ही भक्ति है। इसके दो रूप हैं—वैधी भक्ति और रागात्मिका भक्ति। विधिविधानमयी, शास्त्र सम्मत भक्ति-पद्धति वैधी भक्ति कहलाती है और यह मंदश्रद्धा वालों के लिए है। इसे हम आगम भक्ति कह सकते हैं। तीव्र श्रद्धावालों के लिए रागात्मिका भक्ति अनुकूल है, उसे निगम भक्ति कह सकते हैं। यह विधि-विधानों का आश्रय कम लेती है। इसके लिए भगवत् प्रेम ही सर्वस्व है। इस पद्धति का भक्त भगवत् प्रेम की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार व्याकुल रहता है, जैसे जल से बिछुड़ी हुई मछली तड़पती है। श्रद्धालु की प्रकृति एवं परिस्थिति के अनुसार इसके हृदय में ईश्वर के प्रति जैसी आसक्ति उदित होती है, उसी का सहारा ले कर वह भगवान से प्रेम करने लगता है। नारद ने इन भगवत् संबंधी आसक्तियों के ग्यारह प्रकार माने हैं—गुण माहात्म्य, रूप, पूजा, स्मरण, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्ता, आत्म-निवेदन, तन्मय और परम विराग। तुलसी तथा त्यागराज ने प्रधानतः दास्य को और गौण रूप में अन्य आसक्तियों का आश्रय ले कर श्रीरामचन्द्र से भक्ति की।

तुलसी एवं त्यागराज ने रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव माना और अनन्य भाव से उनकी भक्ति की। तुलसी की चातक भक्ति तो विख्यात है—

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास,
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

श्रीराम के प्रति त्यागराज की अनन्य भक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

(१) निन्ने नेर नम्मिनानु, नीरजाक्ष ननु ब्रोवुम,
कन्न कन्न वारिनि वेडूकोन्नानु फलमु लेदनि ने ॥ निन्ने ॥

(२) निन्ने भजन सेयुवाडनु
पन्नगशायी परुलवेडलेनु ॥

तुलसी ने यद्यपि सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं माना, फिर भी ब्रह्म के अनन्त-शक्ति-शील-संपन्न सगुण राम को ही अपना आराध्य चुना, जिन्होंने लोकहिताय मानव रूप ले कर मनुज–अनुहारी कार्य किये थे। त्यागराज ने भी ब्रह्म के लोक कल्याणकारी सगुण रूप की आराधना की।

(१) जगदानंदकारक जय जानकी प्राणनायक
गगनाधिप सत्कुलज राजराजेश्वर
सगुणाकर सुजनसेव्य भव्यदायक

(२) वग वगगा भुजियिचेवारिकि तृप्ति यौ रीति
सगुणध्यानमु पैनि सौख्यमु
धनुलैन अंतर्ज्ञानुलकेरुक गानि ।

तुलसी ने अपनी भक्ति का भव्य भवन विरति-विवेक की सुदृढ नींव पर निर्मित किया है। उनकी भक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक

इसके अनुसार तुलसी की भक्ति एक ओर श्रुति सम्मत अर्थात् वेद आदि धर्म ग्रंथों से परिपुष्ट है और दूसरी ओर वैराग्य एवं विवेक (या ज्ञान) से अनुप्राणित है।

त्यागराज की भक्ति का स्वरूप भी यही था। हरि कीर्तन स्वरूप की चर्चा करते हुए त्यागराज कहते हैं—

निगम शिरोर्थमु गलिगन निज वाक्कुलतो, स्वर शुद्धमुतो
यति, विश्राम, सद्भक्ति, विरति, द्राक्षारस, नवरसयुत
कृति भजियिंचु

(निगमों के सच्चे अर्थ से भरे स्वर, यति, लय से युक्त, वैराग्य एवं भक्ति से परिपूर्ण नवरसों से भरे कीर्तनों से (तुम्हें भजने वाला ही धन्य है)।

विवेक (ज्ञान), भक्ति एवं वैराग्य बिना प्रयत्न के साध्य नहीं है। इसके लिए अनवरत कठोर साधना अपेक्षित है। शंकराचार्य जी ने साधक की साधना-संपत्ति में चार मुख्य साधनों का उल्लेख किया है। वे हैं—नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, शम-दमादि अर्थात् उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा और मुमुक्षु। भागवत पुराण ने भक्ति के नौ साधन माने हैं—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं; अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यं, आत्मनिवेदनम्। इनमें पहले तीन साधन श्रवण, कीर्तन, स्मरण ईश्वर के नाम से संबंध रखते हैं और श्रद्धा एवं विश्वासवर्द्धन में योग देते हैं। चौथा, पाँचवाँ और छठा (पादसेवन, अर्चन और वंदन) ईश्वर के रूप से संबंधित है और वैधी भक्ति के विशिष्ट अंग हैं। अन्तिम तीन साधन (दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन) भाव संबंधी हैं और रागात्मिका भक्ति से संबंधित हैं। इस तरह भक्ति के ये साधन क्रमशः एक-दूसरे के विकसित रूप हैं—पहले नाम, फिर रूप और तत्पश्चात् भाव। इसके अनुकरण पर अध्यात्म रामायण में एक स्वतंत्र नवधा

भक्ति का उल्लेख है, जिसकी तुलसीदास ने अपनी रामायण में चर्चा की है। उसके अनुसार भक्ति के ये नौ साधन हैं—संत-संगति, हरि-कथा, आसक्ति, गुरुसेवा, हरिगुण-गान, मंत्र-जाप, शम-दम एवं विरति, संसार में सर्वत्र ईश्वर दर्शन, संतोष एवं पर-दोष दर्शन से विमुखता, और ईश्वर में अखण्ड विश्वास। उपर्युक्त तीनों का समन्वय करने से भक्ति के साधनों में नाम जप, गुरु-कृपा, ईश्वर पर विश्वास, शम-दम एवं वैराग्य और संत-संगति ये प्रधान दिखायी पड़ते हैं। इन साधनों के अपनाने पर भी हरि-कृपा के बिना भक्ति दुर्लभ है। हरि-कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर पर अटल विश्वास, निश्छल मन से हरि भजन और शरणागति परमावश्यक है। तुलसी तथा त्यागराज दोनों ने भक्ति के इन सभी साधनों का आश्रय लिया। तुलसीदास की विनयपत्रिका एवं त्यागराज के असंख्य गीत भव-विह्वल भक्तों के हृदय के उद्गार हैं। अब हम उक्त साधनों में प्रत्येक की चर्चा करेंगे।

तुलसी बार-बार अपने मन को सलाह देते हैं कि तुम राम नाम का जप करो :—

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे।

त्यागराज भी अपने मन से विनय करते हैं :—

(१) भजन सेयवे मनसा, परम भक्ति तो
अज रुद्रादुलकु भूसुरादुलु करुदैन राम ॥

(२) भज रे भज मानस रामं
अज मुख शुक विनुतं, शुभ चरितं
निर्मित लोकं, निर्जित शोकं।

राम नाम की महिमा गाते हुए तुलसीदास कहते हैं :—

राम नाम महामनि, फनि जग जाल रे।
राम नाम काम तरु देत फल चारि रे।
राम नाम प्रेम परमारथ को सार रे।

त्यागराज कहते हैं :—

दरितेलियन अज्ञानलकु
भव नीरधि दाटि मोक्षमंदुटकु
नीरज घरुडु उपदेशिंचिन
तारक नाममु तोनु वेलसिन।

त्यागराज राम को तारक नामधेय कहते हैं और बराबर राम शब्द के बदले उसी का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में राम नाम ही वेदों का सार रूप है और शिव पंचाक्षरी एवं नारायण अष्टाक्षरी का समन्वित रूप है। वे कहते हैं—

शिव मंत्र मुनकु 'म' जीवमु
माधव मंत्र मुनकु 'रा' जीवमु
ई विवरमु तेलिसिन धनुलकु मोक्केद

यह नाम संकीर्तन कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है। उसके लिए मन की पवित्रता एवं एकाग्रता, सच्ची श्रद्धा, इंद्रिय-निग्रह, नित्यानित्य वस्तु विवेक, यथालाभ संतोष आदि संत-गुण आवश्यक हैं। सच्चा भक्त ईश्वर संबंधी वाद-विवाद में नहीं पड़ता। उसका ज्ञान अहंकार प्रेरित तर्क पर आश्रित नहीं बल्कि अनुभूति पर निर्भर है। वेद, उपनिषद एवं पुराणों में निष्णात पंडित बनने मात्र से वह ज्ञानी नहीं बन सकता। उसका ज्ञान वाक्य ज्ञान मात्र है। तुलसी ने ठीक ही कहा है—

वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुण
भव पार न पावै कोई।

तुलसी ईश्वर स्वरूप संबंधी भिन्न-भिन्न वादों को निरर्थक मानते हैं—

केसव कहि न जाय का कहिए
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए
... ...
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहचानै।

अद्वैतवादी संसार को अनित्य, द्वैतवादी एवं विशिष्टाद्वैतवादी कर्म प्रधान जगत को सत्य मानते हैं, जब कि योग शास्त्र के अनुयायी पतंजलि आदि संसार को सत्य एवं असत्य दोनों मानते हैं; इसलिए इन तीनों मतों को छोड़ जो राम की शरण में जाता है, वह अपने स्वरूप को ठीक तरह से पहचानता है।

त्यागराज भी अनुभूति-हीन, भक्ति रहित, एवं अहंकार मूल तर्कजन्य ज्ञान का तिरस्कार करते हैं—

(१) अनुरागमु लेनि मनसुन सुज्ञानमु रादु

(२) पदवि नी सद्भक्तियु गल्गुटे
चदिवि वेद शास्त्रोपनिषत्तुल
सत्त तेलिय लेनिदि पदवा ?

(३) भक्ति रहित शास्त्रविदितदूर
मामव सततं रघुनाथ !

(भक्तिरहित शास्त्रों के लिए दुर्लभ, हे रघुनाथ मेरी रक्षा करो)

गुरु की कृपा ही भक्त के चंचल मन को स्थिरता प्रदान करती है, उसके सभी संदेहों का निराकरण करके उसे विवेक प्रदान करती है। तुलसी कहते हैं—

(१) तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु विमल विवेक न होई।
(२) गुरु कह्यो राम भजन नीको, मोहि लागत राज-डगर सो।

त्यागराज भी यही कहते हैं—

गुरु लेक येटुवंटि गुणिकि देलियग बोदु
करुकैन हृद्रोग गहनमुनु गोट्टनु ॥

त्यागराज तथा तुलसीदास दोनों, संत-संगति एवं संतों का-सा स्वभाव, राम भक्ति के लिए आवश्यक साधनों में श्रेष्ठ मानते हैं। तुलसी कहते हैं—

(१) रघुपति-भक्ति संत-संगति बिनु को भव त्रास नसावै।
(२) कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा से संत सुभाव गहौंगो
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन-क्रम-वचन-नेम निबहौंगो
विगत मान सम सीतल मन पर-गुन नहि दोष गहौंगो
परिहरि देह जनित चिन्ता दुःख-सुख समबुद्धि गहौंगो
तुलसीदास प्रभु यह पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो

त्यागराज भी संत-संगति का महत्त्व यों उद्घाटित करते हैं—

बुद्धिरादु बुद्धिरादु पेद्दल सुद्दुल विनक
बुद्धिरादु बुद्धिरादु भूरि विद्यलु नेर्चिन
धान्य धनमुल चेत धर्म मेंतयु जेसिन
यनन्य चित्त भक्तुल वागमृतपानमु सेयक
त्यागराजनुतुडैन रामदासुल चेलिमि सेयक

त्यागराज कहते हैं कि राम भक्त बनने के लिए संतों का जीवन बिताना आवश्यक है। वे कहते हैं कि राम भक्त को—

कपटात्मुडु मनमौ बल्कगरादु
भव विभवमु निजमनि येंचगरादु, मारि
शिव माधव भेदमु जेयकरादु
भुवनमंदु ताने योग्युडनि
ब्रोंकि पोट्ट साकग रादु
पवनात्मज घृतमौ सीतापति
पादमुलनु येमर रादु

संत स्वभाव का वर्णन त्यागराज यों करते हैं--

अनृतवाडडु अल्पुल वेडडु
मांसमु मुट्टडु, मधुवुनु त्रागडु
परहिंसल जेयडु, येरुकनु मरुवडु

विरति या वैराग्य को तुलसी एवं त्यागराज दोनों ने अपनी भक्ति का आधार माना। विषयों से अनासक्ति, व्यक्तित्वाभिमान या अहंकार का त्याग, सुखदु:ख, राग-द्वेष आदि द्वंद्वों में निर्लिप्तता आदि वैराग्य के अंतर्गत आते हैं। कितने ही मनीषी इस साधना में विफल हो जाते हैं। जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों की जो परतें हमारे हृदय पर जमी हुई हैं, उन्हें धो देना अत्यंत कठिन साधना है, फिर भी इसमें सिद्धि प्राप्त किये बिना कोई मार्ग नहीं है। बार-बार मन को सचेत करते हुए सतत हरि भजन में उसे प्रवृत्त करके ही कोई अनासक्त रह सकता है। तुलसी एवं त्यागराज का यह प्रयत्न अत्यंत मर्मस्पर्शी है। तुलसी अपने मन को बार-बार समझाते हैं कि हे मन, तुम सांसारिक विषय वासनाओं से दूर रह कर राम का भजन करो—

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी
तुलसीदास जागे ते जाइ ताप तिहुं ताइ रे
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे

त्यागराज भी अपने मन को बार-बार समझाते हैं—

(१) चेडे बुद्धि मानुरा
इडे पात्र मेवरी जूडरा

(२) विनवे ओ मनसा विवरंबुग ने देलिपेद
मनसेरिंगि कुमार्गमुन मरि पोरलुचु चेडवलदे

(३) मेनु जूचि मोस पोकुमी मनसा
लोनि जाड लीलागु कादा
होन मैन मलमूत्र रक्तमुल
किरवंचु मायामय मैन, चान

किन्तु मन इतना हठी है कि वह किसी प्रकार का अनुरोध नहीं मानता। भक्त तब लाचार हो कर अपने प्रभु से अपने मन की शिकायत करता है कि हे स्वामी, तुम्हारी कृपा के बिना मेरा मन मेरे वश में नहीं आ सकता। तुलसीदास अपने मन की चंचलता से क्षुब्ध हो कर कहते हैं—

मेरो मन हरिजू हठ न तजै
निसिदिन नाथ देउं सिख बहुविधि करत सुभावु निजै
हौं हार्यो करि जतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै
तुलसीदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै

त्यागराज की आर्तध्वनि भी सुन लीजिए—

मनसु चाल विसदुरा, ना
तनुवु नीदनि विनुति जेसेद

तुलसी की भाँति उन्हें भी विश्वास हो गया कि राम की कृपा के बिना भक्ति दुर्लभ है। वे कहते हैं—

(१) भक्ति बिच्चमीयवे, भावुकमगु सात्विक
मुक्ति कखिल शक्तिकि त्रिमूर्तृलकति मेलिम

(२) नी पादमुल भक्ति निडारग नोसगि
कापाडु ना पाप मे पाटि राम

शरणागति के छहों प्रकार के कई उदाहरण तुलसी तथा त्यागराज के गीतों में मिलते हैं। किन्तु विस्तार भय से हम उनको उल्लेख करने के लोभ का संवरण कर लेते हैं।

त्यागराज एवं तुलसी के गीतों में भक्ति का ऐसा परिपाक मिलता है कि हम भक्ति रस की दृष्टि से उसका निरूपण कर सकते हैं। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस के लक्षण बताते हुए कहा है कि जैसे रति शृंगार रस का स्थायी भाव है, भगवदाकारता भक्ति रस का स्थायी भाव है। तुलसी

एवं त्यागराज दोनों के इष्टदेव राम, भक्ति रस के आलंबन हैं। उनके रूप, गुण एवं कार्य उद्दीपन हैं। गुण-कीर्तन, कथा-श्रवण, अर्चना, वंदना आदि भक्ति के विविध प्रकार के अनुभाव हैं। औत्सुक्य, निर्वेद, आत्मगर्हण, दैन्य, अमर्ष, रोष, रोषोक्ति, स्वयोग्य कथन, मानस संबोधन आदि संचारी भाव हैं। अनुभावों में कइयों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। संचारी भावों में औत्सुक्य, निर्वेद, आत्मगर्हण, मानस संबोधन आदि संचारी भावों के उदाहरण तुलसी एवं त्यागराज दोनों की रचनाओं में समान हैं, किन्तु अमर्ष, रोष एवं रोषोक्ति के उदाहरण सिर्फ़ त्यागराज के गीतों में ही मिलते हैं, तुलसी में नहीं। कदाचित तुलसी की प्रकृति एवं वैष्णव प्रपत्ति भाव में इसके लिए स्थान नहीं रहा हो। यही अंतर तुलसी एवं त्यागराज की भक्ति में हमें दृष्टिगोचर होता है।

अपने इष्टदेव को द्रवित होते न देख कर त्यागराज कहते हैं—

(१) मरियाद गादय्या, मनुपवेदेमय्या
सरिवारिलो नन्नु चौक चेयुटेल्ल
श्रीहरि हरिनीवंटि गुण निधिकि

(२) युक्तमु गादु ननु रक्षिचक युंडेदि

(३) तनवारितनमु लेदा ? तारकाधिपानना, वादा ?

(४) नी दास दासुडनि पेरे, येमि फलमु ?
पेद सादलंदु नीकु प्रेम लेक पोये !

(५) अन्यायमु सेयकुरा राम,
नन्युनिग जूड़कुरा

(६) नम्मिनवारिनि मरिचेदि न्यायमा ?

निश्चय ही ये उद्‌गार प्रेम जन्य स्वतंत्रता के कारण ही है, क्योंकि त्यागराज ने राम को अपने माता-पिता तथा गुरु के समान मानने के अलावा उनसे मधुरा भाव से भक्ति की थी। किन्तु रोष से कुछ कहने के तुरन्त बाद वे दीनातिदीन हो कर अपने प्रभु से कृपा-याचना करते हैं। तुलसी के लिए यह असह्य-सा दीखता है। 'विनय पत्रिका' के केवल एक पद में वे रामचन्द्र के मौन से खीज उठते से दिखाई देते हैं—

यद्यपि नाथ ! उचित न होत अस प्रभु सो करौं ढिठाई
तुलसीदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई

अन्य संचारी भावों का सविस्तार वर्णन यहाँ असंभव है। केवल दैन्य का दिग्दर्शन मात्र कराके हम आगे बढ़ेंगे। त्यागराज एवं तुलसी प्रधानतः

दास्य भाव के भक्त हैं अतः उनकी दीनता बहुत ही हृदयस्पर्शी है। तुलसी कहते हैं—

(१) बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को
(२) कहाँ जाउं कासों कहौं और ठौर न मेरो।
जनम गंवायो तेरे ही द्वार में किंकर तेरो॥
(३) कहाँ जाउँ कासों कहौं को सुनै दीन की
(४) देव दूसरो कौन दीन को दयालु

अब त्यागराज का अंतर्नाद सुनिए—

(१) कंट जूडमि ओकसारि ऋींगट चूडुमी
(२) एदु बोदु नेनेमि चेयुदुनु
एच्चोटनि मारे बेट्टुदनु
(३) जगमेले परमात्मा एवरितो मोरलिडवु
(४) ए पापमु जेसितिरा राम नी
कीपाटै न दयरादु

ऐसे कई कीर्तन त्यागराज के दैन्य को भली भाँति दर्शाते हैं।

त्यागराज की भक्ति पद्धति की एक ओर विशेषता है। वे संगीत को अपनी साधना में सहायक ही नहीं सिद्धि भी मानते हैं। भारतीय संगीत कला में प्रत्येक राग की एक आत्मा होती है, उसका अपना व्यक्तित्व होता है। "शोभिल्ल सप्त स्वर" शीर्षक गीत में वे कहते हैं—सातों स्वरों की अधिष्ठात्री देवियों की उपासना करो। त्यागराज के इष्टदेव 'गांधर्वेच भुविश्रेष्ठः बभूव भरताग्रज' थे। संगीत में राम निष्णात थे। इसलिए त्यागराज अपने प्रभु को संगीतलोल, राग-रसिक आदि विशेषणों से विभूषित ही नहीं करते, उन्हें नाद सुधारस का नर रूप मानते हैं।

नादसुधारसंबिलनु नराकृति याये, मनसा
वेद पुराणागम शास्त्रादुलकाधारमौ

वे अपने इष्टदेव राम में गीता का भाव एवं संगीत का आनंद दोनों का सामंजस्य पाते हैं—

गीतार्थमु संगीतानंदमु
नीतावुन जूडरा ओ मनसा।

त्यागराज का विश्वास है कि संगीतयुत भक्ति को छोड़ कर मोक्ष का दूसरा साधन नहीं है। वह स्वर्ग भी है और मोक्ष भी—

(१) संगीतज्ञानमु भक्ति बिना
सन्मार्गमु कलदे मनसा ।
(२) स्वराग सुधारस युत भक्ति
स्वर्गापवर्गमुरा मनसा

इसलिए वे बारंबार अपने मन को समझाते हैं—

रागसुधारस पानमु जेसि
राजिल्लवे ओ मनसा ।
नाद योग त्याग भोग
फल मोसंगे
सदाशिव मयमगु नाद ओंकार स्वरविदुलु
जीवन्मुक्तुलनि त्यागराजु देलियु

त्यागराज संगीत को योग की उच्च स्थिति मानते हैं —

नाद लोलुडै ब्रह्मानंद मंदवे मनसा

यद्यदि तुलसी की सभी रचनाएँ गेय हैं और तुलसी स्वयं संगीत कला के श्रेष्ठ विद्वान थे फिर भी त्यागराज की भाँति उन्होंने संगीत को न योग के रूप में देखा न नाद ब्रह्म के रूप में राम की उपासना की।

हम अंत में यही कह सकते हैं कि भगवद् भक्तों, साहित्य रसिकों एवं संगीत मर्मज्ञों के लिए तुलसी एवं त्यागराज की रचनाएँ महदानंद प्रदान करने वाले अक्षय भंडार हैं।

संगीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्
एकमापात मधुरं अन्यदालोचनामयम् ॥



तेलुगु और हिन्दी के काव्य साहित्य में वैष्णव-भक्ति

डाक्टर चावलि सूर्यनारायण मूर्ति

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शांडिल्य सूत्र, २) के अनुसार ईश्वर में प्रकृष्ट अनुराग ही भक्ति है जो अपने विशुद्ध रूप में निर्हेतुक और निष्काम होती है। उसमें तैलधारावत् नैरंतर्य की भी आवश्यकता है।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। (भागवत ३/२९ १२)
सा तैलधारासम संस्मृति संतान रूपेशि परानुरक्तिः।
(श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर पृ. १०)

ईश्वर के त्रिविध रूपों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर मुख्य हैं। विष्णु के प्रति जो भक्ति होती है वह वैष्णव भक्ति के नाम से अभिहित है। विष्णु वेद प्रशस्त देवता हैं जिन की भक्ति की चर्चा ऋग्वेद से ले कर समस्त वैदिक साहित्य में की गई है।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियंति भुवनानि विश्वा॥ ऋक्. १/१५४/२

इस मंत्र का अर्थ यह है कि जिस ईश्वर के सत्व, रज और तम इन तीनों से बने सर्गों में समस्त भुवन आश्रय पाते हैं, जो सिंह समान बल, पराक्रम और शक्ति से पापियों को भय देता है, जो पर्वत या मेघ के समान सर्वोच्च स्थान में स्थित और सर्वव्यापी है वह विष्णु भली भाँति स्तुति करने योग्य है।"

ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु को परम श्रेष्ठ देवता कहा गया है—
"अग्निर्वै देवानामवमोविष्णुः परमः तदंतरेण सर्वा अन्या देवताः"
(ऐतरेय ब्राह्मण १/१)

वेदों के समान ब्राह्मणों में भी विष्णु को सर्वशक्ति संपन्न कहा गया है— एतरेय ब्राह्मण ६/३/१५, शतपथ ब्राह्मण १/९/३/९।

पुराण साहित्य में तो विष्णु की महिमा और भक्ति के अनेकानेक आख्यान भरे पड़े हैं। इन्हीं आधारों पर परवर्ती संस्कृत साहित्य और आधुनिक देशी भाषाओं के साहित्य में वैष्णव-भक्ति का विपुल साहित्य निर्मित हुआ है।

वैष्णव भक्ति का प्रधान ग्रंथ है भागवत पुराण, जिसमें भक्ति नौ प्रकार की मानी गयी है।

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।" भा. ७/५/२३

भक्ति के ये रूप बीज रूप में वैदिक साहित्य में मिलते हैं—

"यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति
यो जातमस्य महतो महि ब्रुवत् सेदु श्रवोभिर्युजं चिदभ्यसत्॥"
ऋ. १/१५६/२

जो पुरुष सर्वप्राचीन, नित्य नूतन, जगत् के सृष्टिकर्ता तथा स्वयंभू और संसार को मस्त बनाने वाली लक्ष्मी के पति विष्णु को सब कुछ दान करता है, उसका कीर्तन या उपदेश करता है वह यशस्वी और संपन्न हो कर परमपद को प्राप्त कर लेता है।—इसमें विष्णु नाम के श्रवण, कीर्तन तथा आत्मार्पण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

"तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानंतो नामचिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिंभजामहे॥
ऋ. १/१५६/३

इसका भाव यह है कि संसार के कारणरूप उस विष्णु की स्तुति करो जो वेदांत वाक्यों का प्रतिपाद्य है। स्तुति जब नहीं की जा सकती तब उसका नाम स्मरण करो। हम लोग विष्णु के तेजोमय और गुणातीत रूप का भजन करते हैं। इसमें विष्णु के नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

भागवत और अन्यान्य पुराणों में सुविकसित रूप में पायी जाने वाली विष्णु-भक्ति आगे चल कर रामानुजाचार्य के समय में सांप्रदायिक विशिष्टाद्वैतमूलक भक्ति के रूप में परिणत हुई। अपने पूर्ववर्ती शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन करके उन्होंने चिदचिद्विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म की स्थापना की जिसकी भक्ति के लिए ब्रह्म के विष्णु रूप को ग्रहण किया गया। यहाँ इस सांप्रदायिक वैष्णव भक्ति का थोड़ा संक्षिप्त परिचय अनावश्यक न होगा। रामानुजाचार्य के अनुसार चित्, अचित्, और ईश्वर तीन तत्व हैं। चित् (जीव) और

अचित् (जगत्) दोनों ईश्वर के अंश हैं, अत दोनों नित्य हैं। ईश्वर इन दोनों में अंतर्यामी हो कर व्याप्त रहता है। इसलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं[1]। अतः अंगभूत चिदचिद् की अंगीभूत ईश्वर से पृथक् सत्ता न होने के कारण ब्रह्म अद्वैतरूप है। इसी कारण इस मत को विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। जीव अज्ञान के वश हो कर सांसारिक बन्धनों में पड़ा रहता है। भक्ति के साधन से भगवान विष्णु का प्रसाद पा कर मुक्त हो जाता है। इस दशा में वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता रहता है। विष्णु-भक्ति प्रधान और लक्ष्मी के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण यह मत श्रीवैष्णव मत कहलाया। इसके अनुसार भगवान का प्रीतिपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है (स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिः), जिसकी चरम परिणति प्रपत्ति (आत्म-समर्पण) है। अतः भगवत् कैंकर्य या दास्य भक्ति इसका प्रधान रूप है। प्रपत्ति की भावना भी वैदिक साहित्य में मिलती है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

श्वेत, ६/१८

इसमें ब्रह्म और उसके निर्मित वेदों का आविर्भाव करने वाले, अपनी बुद्धि में प्रकाशित होने वाले देव की शरण में जाने का वर्णन है। अतः रामानुज की वैष्णव भक्ति वैदिक विष्णु भक्ति का विकसित रूप है। इसके, तीव्रता की दृष्टि से वैधी रागात्मिका तथा रागानुगा आदि भेद हैं। विष्णु के साथ साधक की सम्बन्ध-भावना की दृष्टि से इसके दास्य, वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि रूप होते हैं।

तेलुगु और हिन्दी साहित्य में भक्ति के उक्त दोनों रूप मिलते हैं जिन पर आगे विचार किया जाएगा। विषय के अत्यधिक विस्तृत होने के कारण दोनों भाषाओं के मध्यकाल के कतिपय प्रधान ग्रंथों का ही इस निबंध में विचार किया गया है।

वैष्णव भक्ति को सांप्रदायिक अर्थ में न ले कर विस्तृत अर्थ में यदि ग्रहण करें तो उसको हम सर्वप्रथम तेलुगु के महाभारत में पाते हैं जो तेलुगु का अब तक उपलब्ध आदि-ग्रंथ है। उसमें विष्णु के अवतार कृष्ण का महान् राजनीतिज्ञ और अतुलित महिमान्वित लोकरक्षक रूप चित्रित है और वही

---

१. सर्वं परम पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यतच्छेषतैक-
स्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्। –(श्री भाष्य २-१-९)

वैष्णव भक्ति का आलंबन बना है। अपनी तीर्थ-यात्रा के सिलसिले में अर्जुन जब द्वारका जाने की बात सोचता है तब कवि नन्नय यों कहते हैं—

"परम ब्रह्मण्यु जगद्गुरु गरुडध्वजु ननंतगुणु नेकाग्र
स्थिर मतियै निज हृदयांतर सुस्थितुजेसि भक्तिदलचुचु नुंडेन् ।।
"नरुनुनिकि येरिगि कृष्णुडु. तिरमुग दयतोब्रभास तीर्थमुनकु नो
वक्करुण्डु चनुदेंचे सर्वेश्वरुडेप्पुडु भक्तुलकुब्रसन्नुड काडें ।।

'अर्जुन परब्रह्म, जगद्गुरु, गरुडध्वज और अनंत गुण भगवान कृष्ण को अपने हृदय में अंकित करके भक्ति के साथ स्मरण करता रहा। सर्वेश्वर कृष्ण अपने भक्तों से बहुत प्रसन्न रहते हैं; इसलिए अर्जुन का आगमन सुन कर अकेले उससे मिलने प्रभास तीर्थ गये।' इसमें अर्जुन की जो भक्ति वर्णित है वह भागवतोक्त नवधा भक्ति में स्मरण भक्ति कही जा सकती है। भावना की दृष्टि से यह सख्य भक्ति है। ये पद्य मूल महाभारत में नहीं हैं।

अरण्यपर्व में अर्जुन और द्रौपदी के द्वारा कृष्ण का यज्ञ-पुरुष और विश्वरूपधारी के रूप में वर्णन किया गया है। द्रौपदी कृष्ण को प्रणाम करके कहती है कि हे भगवान् प्रजा की सृष्टि करने के कारण देवल ने आपको प्रजापति कहा; सत्य के द्वारा यज्ञ की रक्षा करने के कारण कश्यप ने आपको सत्यस्वरूप यज्ञ पुरुष कहा, आपके सिर में आकाश, चरणों में पृथ्वी, नेत्रों में सूर्य और अन्य अंगों में समस्त लोकों के व्याप्त रहने के कारण आपको नारद ने सर्वव्यापी बताया और सब मुनियों ने आपको अक्षय ज्ञान की निधि बतलाया (आं. भा. अ. १-१३३)। आगे चल कर द्रौपदी अपने अपमान का दुःख प्रकट करती है। द्रौपदी में यहाँ भगवद्गीतोक्त चतुर्विध भक्तों में[1] ज्ञानी और आर्तभक्त का रूप झलकता है। विदुर की भक्ति दास्य भक्ति है, जिसमें ज्ञान गंभीरता पायी जाती है। आन्ध्र महाभारत में अन्य प्रसंगों में भी इसी प्रकार की ज्ञान-गंभीर कृष्णभक्ति मिलती है जो वैदिक विष्णुभक्ति का ही रूप है। परवर्ती तेलुगु कृष्ण साहित्य में ऐसी ही ज्ञानमूलक भक्ति प्रतिपादित है, जो कहीं अद्वैतपरक और कहीं विशिष्टाद्वैतपरक है।

आन्ध्र महाभागवत में वैष्णव भक्ति अपने विभिन्न रूपों में प्रतिपादित है। स्वयं भागवत तो वैष्णव भक्तिशास्त्र का ग्रंथ है। उसमें

---

१. चतुर्विधा भजंते मां जनाःसुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। गी० ७-६१ ।

भक्ति के नौ भेदों में ज्ञान और आर्त्ति मूलक दास्य भक्ति की प्रधानता है, यद्यपि उसके अन्य भेद भी पर्याप्त मात्रा में प्रतिपादित हैं। प्रपत्ति या शरणागति भक्ति की चरम सीमा के रूप में दिखायी पड़ती है। इस दृष्टि से सिद्धांतत वह भक्ति विशिष्टाद्वैत दृष्टिकोण को अधिक मानती है। सप्तम स्कंध का प्रह्लाद चरित्र और अष्टम स्कंध की गजेन्द्रमोक्ष की कथा इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। प्रह्लाद अपने पिता के सम्मुख विष्णु-भक्ति की जो महिमा गाता है वह वैधी-भक्ति का सुन्दर उदाहरण है। (आं. भा. ७-१६?-१७१) हिरण्यकश्यप के वधानंतर प्रह्लाद भगवान् विष्णु के नृसिंहावतार की स्तुति करके अंत में जो याचना करता है, उसमें वही प्रपत्तिमूलक विशिष्टाद्वैती दृष्टिकोण स्पष्ट है, यह श्रीवैष्णव संप्रदाय की प्रधान विशेषता है। वह भगवान से वर माँगता है कि आपकी कृपा से मुझे भवदीय दास्य का योग प्राप्त हो। (आं. भा. ७-३६८) प्रह्लाद कहता है कि सब कामनाओं से मुक्त पुरुष भगवान के समान हो जाता है। (आं. भा. ?-३७१) भगवान नृसिंह भी प्रह्लाद को वर देते हैं कि तुम देहावसान के बाद बंधन मुक्त हो कर मेरे निकट रहोगे। (आं. भा. ७-३७३) इसमें सामीप्य मुक्ति प्रतिपादित है जो मध्वाचार्य के द्वैतवाद के अनुसार मुक्ति का एक भेद है। प्रह्लाद की यह भक्ति ज्ञानमूलक है और वह ज्ञानी-भक्त है।

मकर से पीड़ित गजेन्द्र भगवान विष्णु की जो स्तुति करता है वह भी तात्विक दृष्टि से विशिष्टाद्वैत परक है। (आं. भा. ८,७३–९२) वह कहता है कि भगवान से जगत् का जन्म होता है और उसी में उसका लय होता है। जैसे अग्नि से किरणें और सूर्य से प्रकाश निकलता है उसी प्रकार परब्रह्म से ब्रह्मादि देवताओं और मनुष्यों की सृष्टि होती है। गजेन्द्र की स्तुति सुनकर विश्वमय विष्णु उसकी रक्षा के लिए आते हैं। गजेन्द्र की यह भक्ति आर्तभक्ति है जो तात्विक दृष्टि से विशिष्टाद्वैत-प्रधान और ज्ञानमूलक है। इसी प्रकार दशम स्कंध के उत्तरार्ध में वेदों की कृष्ण-स्तुति में भी विशिष्टाद्वैत प्रधान भक्ति लक्षित होती है। वेद कहते हैं कि हे भगवन्, जिस प्रकार सोना कंकण, मुकुट, कुंडल आदि आभूषणों का रूप धारण करके भी सोना ही बना रहता है उसी प्रकार तुम सृष्टि के विकारानुवर्ती होकर भी कल्याण गुणात्मक हो। (आं. भा. १०–उ–१२२०) इसमें द्वैताद्वैत भावना का पुट है, क्योंकि भेदाभेदवादी विचारधारा के अनुसार कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परंतु कार्यरूप में दोनों की अनेकता है जिस प्रकार कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी

रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुंडलादि रूप में भिन्नता रहती है। (भा. सं. पृ. ३३५)

दशमस्कंध के पूर्वार्ध में गोपिकाओं की माधुर्य भक्ति सबसे अधिक प्रतिपादित है, जिन्होंने कृष्ण का संयोग सुख और वियोग दोनों पाये थे। गोपिकाओं की यह भक्ति केवल रागात्मिका है। उनकी अनुरागपूर्ण भक्ति से प्रसन्न हो कर कृष्ण उनसे आत्माराम बनकर क्रीड़ा करते हैं। गोपिकाओं की रागात्मिका माधुर्य भक्ति के मूल में कृष्ण के अवतारी पुरुष होने का ज्ञान निहित है। वे कृष्ण से कहती हैं कि तुम केवल यशोदा के पुत्र नहीं हो। सब जंतुओं की चेतना में व्याप्त और ज्ञात प्रभु हो। ब्रह्मा की प्रार्थना के अनुसार, तुमने पृथ्वी पर सत्कुल में मनोहर आकार से जन्म लिया है। गोपिका-गीतों में गोपियों की वियोग व्यथा भक्ति का पुट लिये हुए वर्णित है। (आं. भा. १० पू., १०३९–१०६१) वे कहती हैं कि हे धर्मज्ञ कृष्ण, आपने देहधारिणियों के लिए पति, पुत्र और बंधुओं की सेवा करना धर्म बताया। किन्तु पति-पुत्रादि के रूप में भासित तुममें पति पुत्रादि संबंधी इच्छा से तुमको संभावित करना क्या अन्याय है? (आं. भा. पू. ९९०) गोपिकाओं की इस भक्ति में शुद्धाद्वैत परिलक्षित होता है, जिसके अनुसार अपनी आत्मा में आंतरिक रमण करने वाला ईश्वर आत्माराम कहलाता है। भ्रमर गीतों में भी उसी प्रकार की रागात्मिका भक्ति के दर्शन होते हैं।

कतिपय स्थानों में अद्वैत भावनामूलक भक्ति मिलती है। "समस्त भूतों के शरीरांतर्गत आत्मा ही ईश्वर है।" "हे देव, रस्सी में सर्प की भ्रांति के समान द्रव्यांतर से तुम ब्रह्म में संसार की भ्रांति होती है" (आं. भा. ६–२०१, ३४३) "भोक्ता जीव को वासुदेव ब्रह्म ही जानो"। (आं. भा. २.८४) "ईश्वरेतर पदार्थ कोई नहीं है।" (आं. भा. २–८५) इत्यादि उद्धरणों में अद्वैत भावना ही लक्षित होती है, अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है, आंध्र भागवत में प्रतिपादित वैष्णव भक्ति कहीं विशिष्टाद्वैत परक है तो कहीं अद्वैत-परक और कहीं शुद्धाद्वैत प्रधान है तो कहीं द्वैत और द्वैताद्वैत की झलक भी मिलती है। इस प्रकार भागवतोक्त वैष्णव भक्ति में प्रायः सब दार्शनिक वादों का समन्वित रूप मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति प्राप्त करने में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसकी रचना प्रायः मूल भागवत के अनुसार ही हुई है यद्यपि कहीं-कहीं परिवर्द्धन तथा संक्षिप्तीकरण भी किया गया है।

नारायण तीर्थ और सिद्धेन्द्र योगी की कृष्णभक्ति कीर्तन पद्धति की है जिसमें सख्य और माधुर्य भावना की प्रधानता है। उनके यक्षगानों—पारिजातापहरण, गोल्ल कलाप और भामा कलाप में इस का दर्शन होता है। नारायण तीर्थ अपने को कृष्ण के रूप में भी देखते हैं जो अद्वैत भावना के अनुकूल पड़ता है। साथ-साथ अपने को कृष्ण की प्रेमिका भी मानते हैं। कहते हैं "नारायण तीर्थ नामक गोपाल कितना उद्दंड और नटखट है। वह उसके प्रेम और विलासविभ्रमों के वश हो गया है। यह देख कर मुझसे रहा नहीं जाता।"

यह सांप्रदायिक वैष्णव भक्ति आगे चल कर तंजाउर राजाओं के समय के तेलुगु साहित्य में अतिशय और मोहक शृंगार के रूप में परिणत हो गई। इस काल के साहित्य में कृष्ण के शृंगारी रूप की ही प्रधानता है, भक्ति की नहीं।

विशुद्ध विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण से लिखा गया प्रसिद्ध प्रबंध है "आमुक्त माल्यदा", जिस पर रामानुजाचार्य के श्री वैष्णव संप्रदाय का बहुत प्रभाव है। इसका नायक विष्णुचित्त प्रसिद्ध वैष्णव भक्त पेरियालवार ही है, जिनके पद तमिल साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी वैष्णव भक्ति प्रपत्ति-प्रधान और अतएव दास्य भावना मूलक है। धार्मिक दृष्टि से सांप्रदायिक वैष्णव धर्म का प्रचार इसका मुख्य उद्देश्य है। विरागी बने हुए पांड्यराजा को वैष्णव बनाने के लिए मन्नार स्वामी विष्णुचित्त से उसकी धार्मिक सभा में जाने को कहते हैं (आ. २–८९)। तब विष्णुचित्त कहता है—

"गृह सम्मार्जनमो जलाहरणमो शृंगार पर्यंकिका
वहनंबो बन मालिकाकरणमो वाल्लभ्यलभ्यध्वज
ग्रहणंबो व्यजनातपत्रधृतियो प्राग्दीपिकारोपमो
नृहरी वादमुलेल लेरे यितरुल् नीलीलकुं बात्रमुल्॥ (आ. २–९२)

"हे नृसिंह! या तो आपके मंदिर में सफ़ाई करना, या जल लाना, या आपकी पालकी ढोना, या तुलसी माला बना कर आपको समर्पित करना, या आपकी ध्वजा को हाथ में ले कर चलना, या छत्र-चामर आदि ग्रहण करना अथवा आपके सम्मुख दीप जलाना, आदि सेवा कार्य मेरे योग्य हैं। वाद-प्रतिवाद के द्वारा तत्व निरूपण करने के लिए क्या आपकी लीलाओं के पात्र अन्य भक्त नहीं हैं?"—इसमें विष्णुचित्त की वैधी दास्य भक्ति स्पष्ट है। आगे चल कर वह भगवान की कृपा से पांड्यराजा की सभा में अन्य मतों का खंडन करके

विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना करने में सफल होता है, (आं. ३–९) उसकी भक्ति भी ज्ञान मूलक है। इसमें चमार (मालदासरी) की भक्ति भी दास्य भक्ति है जिसकी गान-कैंकर्य-पद्धति से वह एक ब्रह्म-राक्षस को मुक्त करने में समर्थ होता है।

विष्णुचित्त की पुत्री गोदा ने श्री रंगनाथ को अपना पति मान लिया और तदनुरूप भक्ति की, जिसमें माधुर्य भावना की प्रधानता है। उसकी रागात्मिका माधुर्य भक्ति रागानुराग भक्ति में परिणत हो जाती है और वह अपने को कृष्ण की प्रेमिका गोपी मान कर उसके विरह में तपते हुए और राधा को उपालंभ देते हुए कहती है—"हे राधे! क्या तुम्हारे लिए यह उचित है कि कृष्ण का वेणु-निनाद सुन कर अपने पति, सास, ससुर आदि की सेवा भी छोड़ कर हरिणियों के समान उसके पास दौड़ कर आई हुई विरहिणी गोपिकाओं को और भी तपाते हुए कृष्ण के साथ भोग का ठेका तुम्हीं ने ले लिया है?" वह कृष्ण के सौन्दर्य से इतनी मोहित हो कर विरहिणी बन जाती है कि विरह वेदना की तीव्रता से कृष्ण को उपालंभ देने से भी नहीं चूकती। वह कहती है कि विष्णु ने सुर-मुनि और राजाओं का शरीर धारण कर अपने सौन्दर्य से अनेक कामिनियों को जो मोहित और वियोग पीडित किया उससे अच्छा होता यदि वह युग-युग मत्स्य, कूर्म, वराह, सिंह आदि ही बना रहता। वह कभी सखियों के द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर अपने को सत्यभामा मानती है और कृष्ण के साथ पूर्व जन्म में प्राप्त किये भोग-विलासों का सद्यःअनुभव करती हुई-सी मूर्च्छित हो जाती है। (आ. ५, ७४–७६) उसकी इस रागानुगा माधुर्य भक्ति की चरम परिणति उसके साथ विवाह में दिखायी पड़ती है। गोदा की यह भक्ति भी प्रपत्ति मूलक, अतएव विशिष्टाद्वैत प्रधान वैष्णव भक्ति का उज्ज्वल उदाहरण है। "पांडुरंग माहात्म्य" भी विष्णु के एक रूप "पांडुरंग विट्ठल" की भक्ति का प्रतिपादन करने वाला महाकाव्य है।

वैजयंती विलास में विप्रनारायण की श्री रंगनाथ के अर्चन और पाद-सेवन की वैधी भक्ति रागात्मिका हो कर वर्णित है जिसका फल विष्णु के सामीप्य की प्राप्ति के रूप में उसको मिलता है। यह भी वैष्णव भक्ति का उज्ज्वल रूप है। क्षेत्रय्या के पदों में कहीं अद्वैत और कहीं विशिष्टाद्वैत भावना युक्त रागानुगा भक्ति श्रृंगारी रूप में दिखाई पड़ती है।

वैष्णव भक्ति का दूसरा प्रसिद्ध रूप है रामभक्ति। तेलुगु साहित्य में इसका दास्य रूप अधिक मिलता है, जो मायामानुषविग्रह और मर्यादा पुरुषोत्तम

राम के व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल है। रामभक्ति साहित्य में रामदास (गोपन्न) कृत दाशरथी शतक और कीर्तन उल्लेखनीय हैं। रामदास की रामभक्ति नवधा भक्ति में दास्य पद्धति की है, जिसके वैधी और रागात्मिका दोनों रूप पाये जाते हैं। दाशरथी शतक में कहा गया है :

चिक्कनि पाल पैं मिसिमि जेंदिन मीगड पंचदारतो
मेक्किन मंगि मी विमल मेचक रूप सुधा रसंबु ना
मक्कुव पक्केरंबुन समाहित दास्य मनेटि दोयिटन्
दक्केनटंचु जुर्रेदनु दाशरथी। करुणापयोनिधी।" (दा. श. ३०)

"हे करुणानिधि दाशरथी, गाढ़े दूध पर जमी मलाई शक्कर के साथ जैसे चाव से खायी जाती है वैसे ही मैं आपके नील श्यामल रूप का सुधारस अपने प्रेम रूपी थाली में भर कर दास्य रूपी चुल्लू के द्वारा पी लूँगा।" दाशरथी शतक में रामनाम की महिमा भी गायी गई है। कहा गया है कि "रा" हृदय के सब पापों को बाहर कर देता है और "म" किवाड़ बन कर मुँह बन्द कर देता है कि वे फिर अन्दर न आ सकें। (दा. रा. २६) दास्य भक्ति में रामदास की आर्ति भी दिखाई पड़ती है जिससे त्राण पाने के लिए वे माता सीता से प्रार्थना करते हैं कि राम से मेरी रक्षा की सिफ़ारिश करें (ननुब्रोवुमनि चेप्पवे सीतम्म तल्लि")। उनके साहित्य से विदित होता है कि उनकी भक्ति नाम स्मरण और कीर्तन की भी है। तात्विक दृष्टि से रामदास मानते हैं कि भ्रमर कीटक न्याय से जीव भक्ति युक्त हो कर भव दुःखों से त्राण पाता है और विश्व रूप का तत्व धारण कर लेता है (दा. श. १००)। यह दृष्टिकोण द्वैताद्वैतवाद के अनुकूल पड़ता है। इसके अतिरिक्त विस्तृत शतक साहित्य में वैष्णव भक्ति उज्ज्वल रूपों में पायी जाती है।

महात्मा त्यागराज की रामभक्ति भी दास्य और कीर्तन पद्धति की है और विशिष्टाद्वैत परक है। उनकी भक्ति की सर्वाधिक विशेषता यह है कि उसमें संगीत की प्रधानता होने के कारण नाद ब्रह्मोपासना का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनके अनुसार पिपीलिकादि ब्रह्म पर्यंत सृष्टि में राम की गति है। रामदास और त्यागराज की भक्ति में प्रपत्ति की भावना सर्वप्रधान है। तेलुगु के राम काव्यों में भक्ति तत्व गौण है, साहित्यिक सौन्दर्य मुख्य है। फिर भी उनमें प्रतिपादित भक्ति राम के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को ले कर चली है और राम का परब्रह्मत्व स्वीकार करती है।

तेलुगु के वैष्णव भक्ति साहित्य में तीसरी धारा है वेंकटेश्वर भक्ति की जिस में अन्नमाचार्य सर्व प्रसिद्ध हैं। भावना की दृष्टि से उनके कीर्तनों में

दास्य और माधुर्य भक्ति लक्षित होती है जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से संकीर्तन शैली की है। उनके अनुसार सारा संसार विष्णुमय है। ऐसा कोई नहीं है जो वैष्णव नहीं हो। किसी की उपासना वेंकटेश्वर रूपी विष्णु की उपासना बन जाती है। "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्, सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति" के अनुसार उन्होंने वेंकटेश्वर में सब देवों का समाहार कर दिया। ये अपने को भगवान की प्रेमिका मानते थे। इस भावना से उन्होंने अनेक पद लिख कर भगवान श्रीनिवास (वेंकटेश्वर) को समर्पित किये। इनकी भक्ति के वैधी और रागात्मिका दोनों रूप पाये जाते हैं। तात्विक दृष्टि से ये श्रीवैष्णव संप्रदाय से प्रभावित हैं।

तरिकोंड वेंकमांबा को वेंकटेश्वर भक्ति भी इसी धारा की है, जिसमें माधुर्य की प्रधानता है।

हिन्दी साहित्य में यह वैष्णव भक्ति भागवतोक्त रूप में प्रधानतः विष्णु के सगुण रूप को ले कर चली जिसकी दो मुख्य धाराएँ हैं। कृष्ण भक्ति और राम भक्ति। इनमें कृष्ण भक्ति राम भक्ति की अपेक्षा अधिक सगुणता सापेक्ष है, यद्यपि कृष्ण का निर्गुण रूप भी माना गया, किंतु गौणरूप में। यह बात कृष्ण भक्ति साहित्य के मूर्द्धन्य भक्त कवि, जो अष्टछाप के सर्वप्रथम कवि थे, महात्मा सूरदास के इस गीत से प्रमाणित होती है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगेहि मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै
परम स्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै
मन–बानी कौ अगम अगोचर, सो जानै, जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै॥

—सूरसागर

सूरदास की भक्ति शुद्धाद्वैत भावना प्रधान है जिसके प्रवर्तक महात्मा वल्लभाचार्य थे। इस भावना के अनुसार माया के संबंध से रहित और अलिप्त विशुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है। जगत् और जीव उस ब्रह्म के ही परिणाम हैं और इसलिए उनकी भी सत्ता है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है और उनका शरीर सच्चिदानंद मय है। जब वह अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा अपनी आत्मा में आंतरिक रमण करता है तब आत्माराम कहलाता है और जब वाह्य रमण की इच्छा से अपनी शक्तियों को अभिव्यक्त करता है तब वह

पुरुषोत्तम कहलाता है। इस इच्छा से वह अपने आनंद आदि गुणों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण करता है। इसमें माया का संबंध नहीं होता। सच्चिदानंद भगवान के अविकृत चितन से जड का निर्गमन होता है और अविकृत चिदंश से जीव का आविर्भाव। जीव तीन प्रकार के हैं— शुद्ध, मुक्त और संसारी। निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म ही अधिकृत भाव से जगद्रूप में परिणत हो जाता है। साधना पक्ष में इनका मार्ग "पुष्टि मार्ग" कहलाता है जिसके अनुसार जीवों की सेवा से भगवान की स्वाभाविक दया प्राप्त होती है। तब उनमें तिरोहित आनन्द का अंश पुनः प्रादुर्भूत होता है और मुक्त दशा में जीव स्वयं सच्चिदानंदमय बन जाता है और भगवान से अभेद प्राप्त कर लेता है। यह मुक्ति केवल भगवान के अनुग्रह से प्राप्त हो सकती है जिसे पोषण कहा जाता है– (पोषणं तदनुग्रहः भागवत (२–१०)। प्रेम-भक्ति के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जाति और धर्म का भेद–भाव नहीं मानते थे।

सूरसागर में पुष्टि मार्ग की अहैतुकी-प्रेम-लक्षणा-भक्ति प्रतिपादित है जिसके प्रधानतः तीन रूप—सख्य, वात्सल्य और माधुर्य, परिलक्षित होते हैं, यद्यपि विनय के कतिपय पदों में दास्य भावना भी व्यक्त हुई है, जैसे—

मेरी कौन गति ब्रजनाथ ?
भजन विमुख अरु सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ
हौं पतित अपराध पूरन, भर्यौ कर्मविकार।
काम क्रोधऽ रु लोभ चितवौं नाथ तुमहिं बिसार।
उचित अपनी कृपा हरिहौ तबै तौ बनि जाइ।
जोइ करहु जिहिं चरन सेवै सूर जूठनि खाइ ।। (सू. सा. १२६)

सूरदास की भक्ति पद्धति की विशेषता यह है कि उसमें अहैतुक प्रेम की प्रधानता होने के कारण तत्व चिंतन या निरूपण गौण हो गया है, यद्यपि कहीं-कहीं उसका भी, मूल भागवत में होने के कारण, थोड़ा बहुत वर्णन मिलता है। किन्तु ऐसे स्थानों में भी बहुत ही संक्षिप्त रूपमें मिलता है जैसे द्वितीय स्कंध के आत्मज्ञान (सू. सा. २–२५, २६) और विराट–रूप वर्णन के प्रसंगों में (सू. सा. २.२७)। तात्विक दृष्टि से सूरदास कृष्ण को परब्रह्म मानते हैं :

"तुम परब्रह्म जगत् करतार। नर तनु धर्यो हरन भुव भार ।।
(सू. सा. १०.४२.९९)

दशमस्कंध की नारद स्तुति में कहा गया है कि जगत बुदबुद प्राय है :

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता माहिं समाइ
त्योंही सब जग प्रगटत तुमतें, पुनि तुम माहिं बिलाइ ।। (४३०, ३)

कृष्ण की असंख्य बाल–लीलाओं के वर्णन में सूरदास की सख्य तथा वात्सल्य भक्ति दर्शित होती है। जहाँ मूल भागवत में ज्ञान मूलक भक्ति का वर्णन है वहाँ सूर सागर में प्रेम मूलक भक्ति का प्रतिपादन है—जैसे, माटी खाने के प्रसंग में कहा गया,

अखिल ब्रह्मांड खंड की महिमा दिखराई मुख माहिं
सिंध सुमेर नदी बन पर्वत चकित भई मन चाहि
कर तैं सांटि गिरत नहिं जानी भुजा छांडि अकुलानी
सूर कहै जसुमति मुख मूँदौ बलि गई सारंग पानी ।।

(सू. सा. १०-२५५)

मूल में सात आठ श्लोकों में यशोदा की ज्ञान मूलक भक्ति का वर्णन किया गया है (भा. १०-८,३७-४५)। यह सूरदास की भावना प्रधान भक्ति का प्रमाण है। यहाँ तेलुगु भागवत में मूल भागवत का अनुसरण करके कहा गया है कि यशोदा कृष्ण के मुख में समस्त विश्व को देख कर आश्चर्य चकित हो जाती है और निश्चय करती है कि यह मेरा पुत्र नहीं अपितु सर्वात्मा आदि-विष्णु है और इसलिए इसी की शरण में जाऊँगी (आं. भा. १०-पू. ३४३-३४९)। स्पष्ट है कि यहाँ भक्ति के साथ ज्ञान का समावेश हो गया है।

गोपिकाओं की भक्ति माधुर्य भक्ति है जिसका वर्णन सूरसागर में बहुत अधिक किया गया है। इसमें भी ज्ञान की अपेक्षा भावना को अतिशयता मिली है। सूरदास की गोपियाँ संयोग या वियोग दशा में इस बात का ध्यान नहीं करतीं कि कृष्ण विष्णु के अवतार हैं; उनको तो उनके प्रेम से मतलब है, किन्तु तेलुगु भागवत की गोपियाँ मूल के अनुसार ज्ञान प्रधान भक्ति करती हैं। इस प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रतिपादन ज्ञान और योग के खंडन के द्वारा भ्रमर-गीतों के प्रसंग में सूरदास ने भाव-विभोर किया है जो विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी सुन्दरतम है। सूरसागर की गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश से प्रभावित नहीं होतीं, बल्कि उद्धव पर अपनी प्रेम भक्ति का प्रभाव डाल कर उसे प्रेम के रंग में रँग देती हैं। तेलुगु भागवत में गोपियाँ मूल के अनुसार उद्धव के ज्ञानोपदेश से प्रभावित हो कर उसकी पूजा भी करती हैं और अपने प्रेम का प्रभाव भी उद्धव पर डालती हैं।

मूल भागवत में कहा गया है :

तस्ताः कृष्ण संदेशैर्व्यपेत विरह ज्वराः

उद्धवं पूजयां चक्रुर्ज्ञात्वाऽत्मानमधोक्षजम् ॥ भा. १०-४०-५३ ।

इसमें गोपियाँ अपने को ही कृष्ण जान कर विरह दुःख से मुक्ति पाती हैं और उद्धव की पूजा करती हैं। तेलुगु भागवत में तो इतना ही कहा गया है कि उद्धव से कहे गये कृष्ण सन्देश को सुन कर विरह वेदना से मुक्त हो कर गोपियों ने उद्धव की पूजा की। मूल का "ज्ञात्वाऽत्मानमधोक्षजम्" का भाव तेलुगु में छोड़ दिया गया है। फिर भी सूरसागर की अपेक्षा तेलुगु भागवत में मूल का अनुसरण अधिक हुआ है।

सूरसागर की प्रेम-लक्षणा भक्ति की एक और विशेषता गोपियों के प्रेम गर्व में दिखाई पड़ती है जिसके प्रभाव में आ कर कोई गोपी रासक्रीड़ा के समय कृष्ण से कहती हैं—

कहै भामिनी कंत सों मोहिं कंध चढ़ावहु।
नृत्य करत अतिश्रम भयो ता स्रमहि मिटावहु ॥
धरनी धरत बनै नहीं पग अतिहिं पिराने।
तिया बचन सुनि गर्व के पिय मन मुसुकाने ॥
मैं अविगत, अज, अकल हौं यह मरम न पायौ।
भाव बस्य सब पै रहौं निगमनि यह गायौ ॥
एक प्रान द्वै देह हैं, द्विविधा नहिं या मैं।
गर्ब कियौ नर देह तें, मैं रहौं न यामैं ॥
सूरज-प्रभु अंतर भये संग तैं तजि प्यारी।
जहँ की तहँ ठाढ़ी रही, वह घोष कुमारी ॥

गोपियों की ऐसी गर्व भरी उक्तियाँ उनके प्रेमाधिक्य और मर्यादा हीनता को व्यक्त करती हैं, जो न तो मूल भागवत में है और न उसके अनुसरण पर लिखी गयी तेलुगु भागवत में। इसका कारण यह है कि जहाँ सूरदास की भक्ति भावना मूलक और मानव सुलभ अनुभूति को ले कर चली है वहाँ तेलुगु भागवत की भक्ति ज्ञान गरिमा को लिये हुए है जिसमें दार्शनिक दृष्टि का अधिक समावेश है।

सूरसागर में वैष्णव भक्ति के रागात्मक और रागानुगा रूप ही सर्वाधिक लक्षित होते हैं, बल्कि यों कहा जा सकता है कि उनके सम्मुख वैधी भक्ति का कोई स्थान नहीं है। दशम स्कंध ही क्यों, पूरा सूरसागर रागात्मिका भक्ति का उज्ज्वल रत्न है। सूरदास की यह रागात्मिका भक्ति अन्त में रागानुगा

में परिणत होती दिखाई पड़ती है, जब अंतिम समय में वे अपने को कृष्ण सौन्दर्य दर्शनाभिलाषिणी गोपी मान कर कहते हैं—

"खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते।।

अष्टछाप के द्वितीय प्रसिद्ध कवि नंददास की प्रसिद्ध रचनाओं, 'रास पंचाध्यायी' और 'भँवर गीत' में यही प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रतिपादित की गयी है जो वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत भावना मूलक पुष्टि मार्ग के अनुरूप है। इसमें भी संस्कृत भागवत के समान कहा गया है कि कृष्ण आत्माराम हो कर क्रीडा करते हैं।

"बिहँसि मिले नँदलाल निरसि ब्रजबाल बिरह बस।
जदपि आतमाराम रमत भये परम प्रेम बस।। रा. पं. १-११०

प्रेम से ही भगवान वश में होते हैं। वे कहते हैं—

"सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेम मई तुम्हारी माया मो मन मोहति है।।"

रास-पंचाध्यायी का गान करने वालों को प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है (रा. ५-७३)। भँवर गीतों में गोपियाँ उद्धव के ज्ञानवाद का अपने प्रेम वाद से खंडन करती हैं, किन्तु सूरदास की गोपियों के समान भावना प्रधान हो कर नहीं, बल्कि बुद्धि प्रधान हो कर।

इसी प्रकार अष्टछाप के अन्य कवियों के साहित्य में भी शुद्धाद्वैत भावना मूलक प्रेम-लक्षणा पुष्टि भक्ति प्रतिपादित की गयी है। उसमें ज्ञान-मूलकता बहुत ही गौण है क्योंकि ये सब कवि वास्तव में प्रेमी भक्त थे।

यही प्रेम-लक्षणा-भक्ति राधा कृष्ण की केवल शृंगार लीला के वर्णन में निंबार्क मतानुयायी घनानंद, रसखान, रसिकगोविंद आदि वैष्णव कवियों में दिखाई पड़ती है। राधाकृष्ण के प्रति यह प्रेम, भक्ति, ध्यान या उपासना रूपी नहीं है, केवल अनुराग स्वरूप है। (हि. सा. बृहत इतिहास १ भाग–पृ. ५४३-५४५)।

रसखान कहते हैं—

"ब्रह्म में ढूँढ्यो पुरातन गानन बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौं सुन्यौ कबहूँ न कितू वह कैसे सुरूप औ कैसे सुभायन।

टेरत हेरत हारि पर्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन ।
देखो, दुर्यो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटतु राधिका पायन ।
(सुजान-रसखान)

रसखान का कृष्ण प्रेम इतना उत्कट है कि वे उसके वश हो कर ब्रज मंडल के वृक्षों, पशुपक्षियों आदि के रूप में भी जन्म लेने की अभिलाषा करते हैं। शरीर के अवयवों की सार्थकता श्रीकृष्ण की सेवा में ही वे मानते हैं।

बैन वही, उनको गुन गाइ औ कान वहीं उन बैन सों सानी
हाथ वही उन गात सरै अरु पाय वही जु वही अनुजानी ।
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी
त्यों रसखान वही रसखान जु है रसखान सो है रसखानी ॥
(सुजान-रसखान)

ऐसा ही भाव तेलुगु भागवत के प्रह्लाद चरित्र में मिलता है। प्रह्लाद अपने पिता से कहता है कि विष्णु की पूजा करने वाले हाथ ही सच्चे हाथ हैं। उनका वर्णन करने वाली जिह्वा ही सच्ची जिह्वा है; उनका दर्शन करने के नेत्र ही सच्चे नेत्र हैं, उनको नमन करने वाला सिर ही सच्चा सिर है; उनका गुण-गान सुनने वाले कान ही सच्चे कान हैं...आदि (आं. भा. ७. १६९)। रसखान जाति के पठान होते हुए भी अपने उत्कट कृष्ण प्रेम के कारण हिन्दी के सब वैष्णव कवियों के सिरमौर बन गये हैं। हिन्दी में ऐसे अनेक मुसलमान कवि हुए जिनसे प्रभावित हो कर भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कहा...

"इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।"

कृष्ण के प्रति माधुर्य भक्ति का प्रोज्ज्वल उदाहरण मीराबाई के पदों में मिलता है, जिन्होंने कृष्ण को अपना पति मान कर उनसे भक्ति की और अन्त में जनश्रुति के अनुसार उन्हीं में लीन हो गयीं। उनकी भक्ति रागात्मिका और रागानुगा है जो कृष्ण के लिए लोक-लाज आदि सब छोड़ने और अपने को पूर्व जन्म की गोपी मानने में लक्षित होती है।

"मीरा कूं प्रभु दरसण दीज्यो, पूरब जनम को कौल"

इस कथन में इसी की ओर संकेत है। उनका कृष्ण केवल सगुण ही नहीं निर्गुण अविनाशी भी है, जो आत्मा से अभिन्न है और हृदय में वास करता है। मीरा की माधुर्य भक्ति पर संत परंपरा की योग-साधना और रहस्यात्मक अनुभूति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, क्योंकि संत कवि रैदास से

उनको दीक्षा मिली। इसीलिए वे निर्गुण राम और कृष्ण में अभिन्नता मानती थीं। संत साहित्य में राम का निर्गुण रूप गृहीत हुआ है।

हिन्दी का यह उत्कट प्रेम-लक्षण-भक्ति का साहित्य आगे चल कर राधाकृष्ण के नाम पर अतिशय श्रृंगारी और रीति प्रधान साहित्य में परिणत हो गया। यही बात शैलीगत थोड़े अन्तर के साथ तेलुगु साहित्य में भी मिलती है जैसा कि पहले संकेत किया गया है।

हिन्दी साहित्य में वैष्णव भक्ति की दूसरी धारा राम-भक्ति के रूप में प्रवाहित हुई, जिसके मूर्द्धन्य कवि थे महात्मा तुलसीदास। उनकी राम-भक्ति यद्यपि सवधर्म समन्वयवादी है, तथापि रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत भावना का विशेष प्रभाव लक्षित होता है जो रामानंद संप्रदाय के द्वारा उन पर पड़ा। स्वयं रामानंद रामानुजाचार्य के मतानुवर्ती थे। दोनों में अन्तर इतना ही है कि यदि श्रीवैष्णव संप्रदाय में लक्ष्मीनारायण या विष्णु को आराध्य माना गया है तो रामानंद ने सीताराम को अपना इष्टदेव स्वीकार किया, जो मर्यादा पुरुषोत्तम, लोकरंजक, तथा शील, शक्ति और सौन्दर्य के निकेतन हैं। रामानंद से जो सम्प्रदाय चल पड़ा उसमें श्री संप्रदाय के नियमों और विधि-विधानों के प्रति विशेष आग्रह नहीं किया गया।

तात्त्विक दृष्टिकोण से तुलसीदास यद्यपि रामानंदी संप्रदाय के थे तथापि वर्णाश्रम धर्म के प्रति अपनी अटल आस्था दिखा कर उन्होंने अपनी विशेषता भी रखी। उनके "राम चरित मानस" और "विनय पत्रिका" उनके भक्ति तत्व के परिचायक ग्रंथ हैं, जिनमें भक्ति का सागर लहराता है। उनकी रामभक्ति केवल दास्य भक्ति है जिसे वे संसार सागर को पार करने का एकमात्र साधन मानते हैं।

"सेव्य सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।"

उनकी भक्ति विरतिविवेक युत और श्रुति सम्मत हरिभक्ति है जिसमें सब दार्शनिक वादों और राम के निर्गुण और सगुण रूपों का समन्वय हो गया है। उनके राम शिव के भक्त हैं और शिव राम के। जिस प्रकार कृष्णभक्ति साहित्य में विष्णु के अवतार कृष्ण को परब्रह्म माना गया है उसी प्रकार रामभक्ति साहित्य में विष्णु के अवतार राम को माना गया है जो "विधि हरि शंभु नचावनहारे" हैं। तुलसीदास ने राम के लोकरक्षक रूप को ग्रहण कर उनकी भक्ति का प्रचार किया जिसमें वैधी और रागात्मिका तथा भागव-

तोक्त नवधा भक्ति का भी समन्वय हो गया है। यद्यपि सब दार्शनिक वादों का इनकी भक्ति में समन्वय हो गया, तथापि ज्ञान की अपेक्षा प्रपत्ति मूलक भक्ति प्रधान होने के कारण उनकी साधना प्रणाली विशिष्टाद्वैत की ओर अधिक झुकती है, जिसका परिचय उनकी 'विनय पत्रिका' के अध्ययन से मिलता है। दास्य पद्धति प्रधान होने के कारण उनकी भक्ति मर्यादा पूर्ण है। भक्ति तत्व की दृष्टि से तेलुगु के रामदास और हिन्दी में तुलसीदास समकक्ष हैं। दोनों की भक्ति प्रपत्ति प्रधान है। दोनों की आर्त भक्ति में एक समानता यह मिलती है कि दोनों भक्त आर्त-भक्ति के आवेश में आ कर बड़ी स्वतंत्रता के साथ अपने आराध्य देव पर खीझ उठते हैं कि—

दालिन चुट्टमाशबरि दानि दयामति नेलिनाव नी
दासुनि दासुडा गुड तावक दास्यमोसंगिनावु ने
चेसिन पापमो विनुति सेसिन गाववु गावुमय्य नी
पासुलल्लोन नेनोकड दाशरथी करुणापयोनिधी।

हे दाशरथी ! क्या शबरी से आपका कोई रिश्ता है कि आपने उसको अपनाया ? गुह क्या आपके दोनों का दास है कि आपने अपने दास्य का सुख उसे प्रदान किया ? मैंने कौन-सा पाप किया है जो आप मेरी रक्षा नहीं करते ? मैं तो आपके दासों में दास हूँ। इसी प्रकार तुलसी भी कहते हैं...

केसव, कारन कौन गुसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहि तजेहु अग्य की नाईं
परम पुनीत संत कोमल चित तिनहि तुमहिं बनि आई
तौ कत बिप्र ब्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई ?

हिन्दी में राम भक्ति का माधुर्य रूप भी विकसित हुआ जो अधिकतर साधना सापेक्ष्य है। इस संप्रदाय को रसिक संप्रदाय कहा जाता है जिसके साहित्य पर माधुर्य भक्ति पूर्ण कृष्ण साहित्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस रसिक संप्रदाय के साहित्य में राम का केवल शृंगारी रूप ही गृहीत हुआ जो राम के परंपरागत और भारतीय जनता के हृदय में प्रतिष्ठित व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं पड़ता।

दोनों भाषाओं के वैष्णव भक्ति साहित्य के इस संक्षिप्त विवेचन के उपरांत हम निम्नलिलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

१. दोनों भाषाओं में प्रतिपादित वैष्णव भक्ति संस्कृत साहित्य से प्रभावित है।

२. हिन्दी की वैष्णव भक्ति, तुलसीदास की भक्ति को छोड़ कर, अधिक प्रेम-भावना प्रधान है जहाँ तेलुगु भाषा में प्रतिपादित वैष्णव भक्ति ज्ञान गम्भीर और मर्यादापूर्ण है।

३. तेलुगु के कृष्णभक्ति साहित्य में उनका लोक-रक्षक और राजनीतिक रूप गृहीत हुआ है तो हिन्दी में उनका लोकरंजक बाल और युवक रूप चित्रित है।

४. दोनों भाषाओं में कृष्ण भक्ति साहित्य की अन्तिम परिणति अतिशय श्रृंगारी काव्यों के रूप में हुई है किन्तु शैलीगत अन्तर के साथ ।

५. तेलुगु में अधिकतर प्रबंध काव्यों में वैष्णव भक्ति प्रतिपादित है तो हिन्दी में मुक्तक काव्यों में।

६. दोनों भाषाओं में प्रतिपादित भक्ति के रूप एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं।



हिन्दी और तेलुगु की आधुनिक कविता

श्री वैरागी

हिन्दी और तेलुगु की आधुनिक कविता में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। इन दोनों भाषाओं की कविता में ऐसी क्षीण एवं स्पष्ट रेखाएँ वर्तमान हैं, जिन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों भाषाओं की काव्य-धाराओं की गतिविधि एक ही प्रकार की है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम हिन्दी और तेलुगु की आधुनिक कविता को तीन प्रधान भागों में विभक्त करेंगे।

१. भारतेन्दु-युग तथा वीरेशलिंगम्-युग से ले कर द्विवेदी-युग तथा तिरुपति वेंकटकवुलु-युग तक की आधुनिक कविता—(सन् १८७०—१९१४ तक)

२. हिन्दी की छायावादी कविता तथा तेलुगु का भावकवित्वमु लगभग (सन् १९१५—१९३५)

३. हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तथा तेलुगु का अभ्युदय कवित्वमु (सन् १९३६—१९५०)

१. भारतेन्दु-युग तथा वीरेशलिंगम्-युग से ले कर द्विवेदी-युग तथा तिरुपति वेंकट कवुलु-युग तक की आधुनिक कविता—

हिन्दी और तेलुगु कविता के लिए यह काल संक्रान्ति काल कहा जा सकता है। इस का कारण यह है कि इस काल तक रीतिकाल तथा प्रबन्धकाल का ह्रास हो चुका था। कविता को आश्रय देने के लिए न तो कोई राजदरबार थे, न विलासी वातावरण। इस समय तक कविता एक प्रकार से मर चुकी थी। केवल समस्यापूर्ति के रूप में ही इस का अस्तित्व दिखाई पड़ता था। कविता के ऐसे निष्प्राण एवं नीरस वातावरण में पुनः जीवन-स्पन्दन लाने का कार्य हिन्दी तथा तेलुगु में क्रमशः भारतेन्दु और वीरेशलिंगम् पंतुलु ने किया। इन दिनों बहुमुखी प्रतिभा रखने वाले साहित्यिकों ने पाश्चात्य विचारधारा के

संपर्क में आ कर अपनी भाषाओं की कविता को नवीन चेतना एवं प्रेरणा प्रदान की। परन्तु इन दोनों साहित्यिकों के काल में वास्तव में गद्य का विकास अत्यधिक हो गया, कविता या पद्य का विकास अत्यन्त कम हुआ। इन दोनों साहित्यिकों के प्रभाव में जितने अन्य कवि आये, उनकी कविता में भी प्राचीन कविता की झंकृति मात्र सुनाई पड़ती थी। लगभग अठाहरवीं शताब्दी के अंत तक हिन्दी और तेलुगु की कविता में प्राण भरने वाले कुछ ऐसे कवियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भाषा एवं भावना को एक नवीन वातावरण, एक नवीन चित्र-पट पर अंकित कर दिया। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, अयोध्या-सिंह 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त तथा तिरुपति वेंकट कवुलु प्रमुख हैं। इस समय एक ओर जहाँ श्रीधर पाठक अपने खण्डकाव्यों के द्वारा मृत कविता में प्राण फूंक रहे थे, 'हरिऔध', मैथिलीशरण पुराणों एवं इतिहास से कथावस्तु ले कर भारतीय संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा कर रहे थे, तो दूसरी ओर तेलुगु कविता के क्षेत्र में तिरुपति वेंकट कवुलु ने कविता को एक आन्दोलन के रूप में परिवर्तित किया। उन्होंने अपने खण्डकाव्य तथा मुक्तकों के द्वारा सम्पूर्ण तेलुगु भाषी प्रान्त में कविता को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय तक हिन्दी और तेलुगु की कविता राजदरबारों के अंधकार को चीरकर जनता के सम्मुख आ गयी। जनता ने इनकी कविता को पसन्द किया। और इन कवियों का प्रचार तथा प्रसार सामाजिक स्तर पर अधिक रहा। इस काल की कविता में इतिवृत्तात्मकता, आदर्शवादिता एवं चमत्कार प्रदर्शन का आधिक्य था। तेलुगु की अपेक्षा इस काल की हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना अत्यधिक काम कर रही थी।

२. हिन्दी की छायावादी कविता तथा तेलुगु का भावकवित्वमु (लगभग सन् १९१५–१९३५)

उन्नीसवीं शती के आरम्भ से ही हिन्दी और तेलुगु की कविता में एक नवीन परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देने लगा। हिन्दी की द्विवेदी-युगीन कविता तथा तेलुगु के तिरुपति वेंकट कवुलु-युग की कविता की निस्सारता, उपदेश-प्रवणता तथा इतिवृत्तात्मकता के प्रति काव्य-क्षेत्र में एक आन्दोलन बना जिस को हम स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन कह सकते हैं। दोनों काव्य-साहित्यों में इस आन्दोलन के लिए आवश्यक वातावरण प्रस्तुत था। सामयिक परिस्थितियों ने (पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव, अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम का प्रभाव) इस काव्य-धारा को अपनाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की। अंग्रेज़ी

साहित्य एवं भाषा के द्वारा हिन्दी और तेलुगु के नवयुवक कवियों में एक स्फूर्ति एवं उत्साह का संचार हुआ। अंग्रेज़ी स्वच्छन्दतावादी वर्ड्सवर्थ कोलिरिज, शेली, बायरन तथा कीट्स आदि प्रमुख कवियों के काव्य-पठन से हिन्दी और तेलुगु के स्वच्छन्द प्रवृत्ति के तरुण कवियों को उसी प्रकार की नवीन कविता लिखने की अदम्य प्रेरणा मिली। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने ऐसी स्वच्छन्दतावादी कविता को पहले ही अपना कर इन कवियों का पथ-प्रदर्शन किया। रवीन्द्र भारत के प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि थे।

कवींद्र रवींद्र का जैसा प्रभाव हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवियों पर दिखायी देता है, वैसा ही प्रभाव तेलुगु के भाव कवियों पर भी। हिन्दी के छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा का नाम लिया जा सकता है। वैसे तेलुगु में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण, देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री, रायप्रोलु सुब्बाराव, नायनि सुब्बाराव, रामकृष्णाराव वगैरह का नाम लिया जा सकता है।

प्रसादजी की तरह श्री विश्वनाथ सत्यनारण की प्रतिभा भी बहुमुखी है, लेकिन दोनों में एक अन्तर है। जहाँ प्रसादजी काव्य के संप्रदाय की छाप के साथ-साथ नूतनता का पुट ज्यादा लिए हुए है, वहाँ विश्वनाथजी नूतन परिवर्तनवादी आंदोलन के साथ-साथ थोड़ी दूर तक चल कर परम्परा की ओर मुड़ गये। प्रतिभा दोनों की अत्युच्च कोटि की रही है, इसमें कोई संदेह नहीं।

श्रीकृष्ण शास्त्री में गीति-काव्य की मधुरता ज्यादा है। शब्द-चयन और पद-गुंफन में वे अपना सानी नहीं रखते। वे तेलुगु के मधुर-कवि हैं। मात्रा में अल्प होने पर भी उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अद्वितीय है।

श्री रायप्रोलुजी की कविता में परम्परा और मौलिकता का बहुत सुन्दर संतुलन दिखायी देता है।

नायनि सुब्बाराव में भावों की गंभीरता और हृदय का आवेग एक प्रलयंकर आप्लावन का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी कविता सीधे हृदय को छूती है।

मैंने युग के प्रतिनिधि स्वरूप इन कवियों का नाम लिया है। इनके अतिरिक्त और भी कवि हुए हैं।

नंदूर सुब्बाराव का 'एंकुचाटलु' गीति-काव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। यह एक अपूर्व सृष्टि है। वेदुल सत्यनारायण, इंदुकंटि और मल्लवरपु भी इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं।

उमर खय्याम की रुबाइयों का जितना सुन्दर अनुवाद बच्चनजी ने किया है उतना ही सुन्दर श्री दुव्वूरि रामिरेड्डी ने भी। यह अनुवाद पानशाला के नाम से विख्यात है। इस अनुवाद में मूल की गंध आती है।

इसी युग में कुछ ऐसे कवि हुए जो परम्परा का पल्ला पकड़े रहे। उनमें श्री त्रिपुरने रामस्वामी की व्यंग-प्रधान रचना उल्लेख-योग्य है। उन्होंने अपने काव्यों के द्वारा नास्तिकता का प्रचार किया और पुराण-पंथियों की खिल्ली उड़ायी। इस तरह का कवि हिन्दी में कोई नहीं हुआ।

छायावाद और भाव-कविता के अंत के साथ-साथ हिन्दी और तेलुगु का प्रगति-युग शुरू हुआ, जिसे हम नयी कविता का युग कह सकते हैं। इस युग के तेलुगु के एक प्रमुख कवि श्री श्री हैं जिन की रचनाओं में युग-संधि के स्पष्ट दर्शन होते हैं, जैसे दो नदियों के संगम स्थान पर दो तरह का पानी मिलता है किन्तु उनका स्पष्ट पृथक् व्यक्तित्व भी दिखायी देता है। श्री श्री का व्यक्तित्व जितना ऊँचा है, उतनी ऊँची कोटि का कोई कवि हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में नहीं हुआ। दुर्भाग्य ही कहिए, रोग और मृत्यु ने निरालाजी के जीवन के अन्तिम दशक को ग्रसित कर लिया अन्यथा हमें हिन्दी में भी एक श्री श्री मिल जाता। दिनकरजी महान् क्रांतिदर्शी कवि हैं लेकिन शैली और वस्तुचयन में वे परम्परा की छाप लिए हुए हैं। निराला और दिनकर का व्यक्तित्व कविता की दृष्टि से श्री श्री से कुछ कम महत्त्व नहीं रखता, लेकिन धारा का भेद है। वैसे तो यह परिवर्तन पंतजी में भी स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। अपने परिवर्तित रूप में उन्हों ने लिखा भी काफ़ी है, लेकिन वे सच्चे अर्थ में नयी कविता की धारा में मग्न नहीं हो सके।

हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में शिवमंगलसिंह 'सुमन', गजानन मुक्तिबोध, रांगेय राघव, नरेश मेहता, नागार्जुन, नीरज, शम्भूनाथसिंह, केदारनाथ अग्रवाल, प्रभात राकेश, शमशेर बहादुरसिंह वग़ैरह के नाम उल्लेख योग्य हैं।

तेलुगु के कवियों में नारायण बाबू, शिष्ट्ला उमामहेश्वर, आरुद्र, बैरागी, पठाभि अनिसेट्टी, कुंदुर्ति, नारायणरेड्डी, दाशरथी, कालोजी, रमणारेड्डी, सोमसुन्दर, तिलक, केशवराव के नाम उल्लेखनीय हैं।

अज्ञेय-द्वारा संपादित तारसप्तक के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी में प्रयोगवाद नाम की एक धारा चल पड़ी। इन कवियों में सर्व श्री अज्ञेय, गिरिजा-कुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र प्रमुख हैं।

प्रयोग तो साहित्य का धर्म है, लेकिन अज्ञेय से प्रेरणा प्राप्त युवकों ने उसे विशेष महत्त्व दिया। कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद एक तरह से सम्मिलित धाराएँ हैं। प्रगतिवादी भी प्रयोग करते रहे हैं और प्रयोगवादी भी प्रगतिशील कविता लिखते रहे हैं।

हिन्दी के दो प्रमुख कवि जो किसी धारा में सम्मिलित नहीं हुए और अन्त तक अपनी अलग सत्ता बनाये रहे, दिनकर और बच्चन हैं। इन दोनों कवियों का ऐसा उच्च व्यक्तित्व रहा है कि कोई भी धारा उनको आत्मसात् करने में असमर्थ रही।

इसी तरह तेलुगु में भी कुछ कवि ऐसे हैं जो किसी धारा में सम्मिलित न हो कर स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं। उनमें श्री जाषुआ, पिंगली काटूरी, तुम्मल सीतारामम‍ूर्ति, दुक्कूरी रामिरेड्डी, कट्टमंची रामलिंगारेड्डी वग़ैरह के नाम उल्लेख योग्य हैं।

तेलुगु की नयी कविता में नारायण बाबू का एक खास व्यक्तित्व रहा। वे अधिवास्तविकवाद के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

शायद उनको छोड़ कर किसी ने पूर्णरूप से अधिक वास्तविक कविता लिखी भी नहीं। आरुद्र और वैरागी ने अपने ढंग के कुछ प्रयोग किये। आरुद्र का 'त्वमेवाहम्' और वैरागी का 'नूतिलोनि गोंतुकलु' उल्लेखनीय हैं।

नारायणरेड्डी और दाशरथी बहुत लोकप्रिय कवि हैं जिन्होंने परम्परा-बद्ध कविता लिखी है और नयी कविता भी। नारायणरेड्डी में गीति-काव्य की मधुरता पाई जाती है। अनिसेट्टि, कुंदुर्त्ति, रमणारेड्डी, सोमसुन्दर और तिलक ने समाज के अत्याचारों के प्रति विद्रोह की आवाज उठाकर प्रगतिशील कविता लिखी है। इन कवियों में सामाजिक चेतना विशेष रूप से पायी जाती है। केशवराव एक होनहार कवि हैं जिन्होंने अत्यंत आधुनिक शैली में लिखा है। इनमें से ज्यादातर कवि आज भी लिख रहे हैं और हम उनसे बहुत आशा रखते हैं।

नई कविता हिंदी और तेलुगु में प्रायः मुक्तछंद में ही लिखी जाती है। फिर भी दोनों भाषाओं में कुछ लोग परम्परागत छंदों में लिखते रहे हैं। आलोचकों के भ्रूभंग के बावजूद यह स्पष्ट है कि मुक्तछंद का स्थान सुरक्षित हो चुका है।

स्थानाभाव के कारण मैं दोनों भाषाओं के कई कवियों का उल्लेख नहीं कर पाया हूँ। प्रमादवश भी कुछ लोगों के नाम छूट गये होंगे। मैं उनके प्रति क्षमा-प्रार्थी हूँ। इस लेख में मैं हिंदी और तेलुगु की आधुनिक कविता पर एक सरसरी नजर भर डाल पाया हूँ। इसमें ज्यादा कुछ करना संभव भी नहीं था।



हिन्दी और तेलुगु में प्राचीन प्रबन्ध काव्य

श्री दुर्गानन्द

प्रबन्ध का अर्थ है भावुक मन की वाचिक रति। रति रति ही थी, पर वाचिका परिष्कृत थी। गुफाओं को, गोष्ठियों को लाँघ कर महफिलों में जो आ बैठा, उस मनुष्य का, चिर जागृत वासना का, पर अत्यंत परिमार्जन का वह कौशल जो आनंद और सौंदर्य के अध्यवसाय में क्लेश ग्रस्त था, वह शब्द में योजनाबद्ध था, वह प्रबन्ध था। किसी समय शब्द के साथ केवल अर्थ था पर कालांतर में वह ध्वनियुक्त भी हुआ। जब वाक्य केवल शब्दार्थयुक्त रहा, तब मनुष्य, मात्र घटनाओं के पुंज के अतिरिक्त कुछ न रहा, वह खाता, पीता, सोता, उठता, बैठता। ये तो घटनाएँ नहीं, चेष्टाएँ हैं। पर उन चेष्टाओं में से ऐसी ही कुछ चेष्टाओं ने, जिनमें भाव का अधिक उत्पीडन रहा, घटनाओं का रूप धारण किया। जब मनुष्य का जीवन, भाव और विचार की दृष्टि से निर्विशेष था और वह केवल डायरी का जीवन व्यतीत करता था, उस समय की ऐसी ही कुछ बातें, जो दिल को पकड लेती थीं, क्रम-बद्ध बनायी जा कर कहानियों के रूप में बखेर दी गयीं। हमारे सारे पुराण ऐसी ही कहानियाँ थीं। हम उनको कहानी-काव्य कह सकते हैं। उनमें कवि केवल कथक-सा रह जाता और पाठक श्रोता-सा, जब मनुष्य घटना प्रधान रहा तब कवि को कथक बनने की अपेक्षा और कुछ बनने को क्या रहा। इसीलिए हमारे पुराणों में कहने सुनने की रीति कुछ उस समय की काव्य प्रक्रिया जैसी ही हमारे सामने आयी। सूत कहानियों को कहता चला जाता था, और शौनक आदि मुनि सुनते जाते थे। इसके पश्चात् धीरे-धीरे मानव के मन-मस्तिष्क के विकास के साथ काव्यत्व का भी विकास हुआ। एक तीव्र भावना ने उत्पीडित हो कर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की थी। रामायण काल तक आते-आते घटना-प्रधान मनुष्य भावना-प्रधान हो गया। नीति-नियमों के रूप में सामाजिक संवेदना का भी अनुभव होने लगा। व्यक्ति- वेदना एक विशाल समष्टि रूप धारण करने के कारण तत्कालीन गुण-गरिमा से प्रेरित हो कर

तदनुरूप ही एक विशिष्ट आदर्श की प्रतिष्ठा में मनुष्य का संगठन किया गया। ऐसे मनुष्यों में राम, युधिष्ठिर, कृष्ण आदि पुराण पुरुष मुख्य हैं। काव्य की दृष्टि से यह, महा काव्य-काल की प्रारंभिक स्थिति है। वाल्मीकि से प्रारंभित किया गया यह काव्य रूप कालिदास के काल में आ कर पूर्णत्व को प्राप्त हुआ। इस समय कवि, केवल कथक के रूप में नहीं रह सका—वह कल्पना की ओर भी ताकने लगा। साधारण घटना-चक्र से ऊपर उठकर वह वाह्य घटनाओं को वर्णन के रूप में और अंतर्वृत्ति को शील चित्रण के रूप में प्रस्तुत करने लगा। इसलिए ही वालिमीकि, कालिदास आदि कवियों के काव्य में वर्णन और शील-चित्रण सामानान्तर दृष्टिगत होते हैं। मानव विकास के साथ काव्यों का विकास क्रमबद्ध है, कोई आकस्मिक घटना नहीं। महा-काव्य काल तक आने पर जीवन के साथ काव्यत्व का अच्छा मेल बैठ गया। इसलिए उस समय के काव्य विश्व-इतिहास में अत्युत्तम रहे। बाद में अति काव्यत्व जब प्रबन्ध शैली के रूप में विकसित हुआ तो वह कवि का केवल हस्त कौशल मात्र रह गया, वास्तविक जीवन से बहुत दूर जा पड़ा। अति भावुकता, कल्पना की अतिरंजना, विद्वत्ता के शाब्दिक चमत्कार, सुदीर्घ वर्णन, जटिल समास बन्धन आदि ने काव्य के अन्य पक्ष पीछे छोड़ दिये, केवल कला पक्ष ही वारीकी के साथ तराशा गया। काव्य के ऐसे कोमल प्राणों को बाद के आधुनिक काल में सामाजिक आँच लगने लगी, फिर जीवन के साथ काव्य के मूल्य भी बदल गये। प्राचीन काल से अब तक काव्य के इतिहास को उन उन विषयों और अधिकारियों की दृष्टि से परखने पर बडी ही रोचक तालिका प्राप्त होगी।

कथक से कवि बन कर प्रबन्धकाल में कविता करने वाला रस-प्रधान या कल्पना-प्रधान हो गया तो उस समय का पाठक श्रोता न रह कर सहृदय बना। छायावादी काल में कवि शैलीकार था, वह ज्यादातर गायक जैसा था और उसका पाठक भावुक। प्रगतिकाल में कवि विज्ञान और यथार्थ के निकट आ कर जीवन का व्याख्याता बन गया, और उसका पाठक विज्ञ। इस तरह काव्य के निरन्तर विकास के चक्र में कवि, विषय, और पाठक भिन्न-भिन्न रूप धारण करते रहे। कविता के इस क्रमिक विकास में प्रबन्धों का शुद्ध काव्य गत विकास तेलुगु प्रबन्धों में ही देख सकते हैं। हिन्दी के प्रबन्ध इस दृष्टि से इतिवृत्ततः सूफी कवियों के प्रेम काव्यों के रूप में और शैली की दृष्टि से रीतिकालीन काव्यों के रूप में द्विधा विभक्त हैं। सूफी कवियों के प्रेम काव्यों में भले ही इतिवृत्त

में प्रबोन्धोचित कल्पना आयी हो, पर काव्य कौशल की दृष्टि से वे बहुत अधूरे हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो रीतिकालीन कविता ही प्रबन्धोचित कौशल का निखार है। हिन्दी के इन दोनों संप्रदायों का, एक साथ सम्मिलन यदि हम देखना चाहें तो केवल तेलुगु प्रबन्धों में ही देख सकते हैं। किसी सूफी प्रेम-काव्य पर रीतिकालीन शिल्प का आरोप कर दिया जाय तो संभव है तेलुगु प्रबन्धों का सा रस मिल सके।

कवि के लिए कथा प्रधान नहीं, कथन ही प्रधान है। कथन माने अभिव्यक्ति या भाव उद्गार। कहानियों को बनाना कवि कर्म नहीं। कहानियाँ जनता बनाती है। कहानियों में तथाकथित पात्र घटनाएँ और वर्णन अनिवार्य हैं। वे घटनाओं के चक्र हैं। उस चक्र में घुस कर कवि उनकी कलात्मक व्याख्या करता है। वर्णन, अलंकार, रस, भाव आदि एक प्रकार से कलात्मक व्याख्याएँ हैं। यह सामग्री प्रबन्ध काव्यों के लिए प्राण हैं, कवि को कहानी से बढकर उसके पीछे बहुत कुछ कहने को रहता है। यह बात कालिदास ने मेघदूत के द्वारा और आधुनिक काल में रविबाबू ने गीताञ्जलि के द्वारा साबित कर दी है। मेघदूत में पात्र तो हैं पर वे नाम मात्र के, गीताञ्जलि में वे भी नहीं। वहाँ केवल वक्ता ही दिखाई देता है। प्रबन्ध काव्यों में भी हम वक्ता अर्थात् कवि को ही देख पाते हैं। रामायण, महाभारत आदि में भले ही हमें राम, युधिष्ठिर आदि दिखाई दें, पर मेघदूत में यक्ष से बढ कर कालिदास ही अधिक दृष्टिगत होता है। प्रबन्ध काव्यों की भी यही स्थिति है। परवर्ती छायावादी कविता में जो आत्मनायक प्रवृत्ति जागृत हुई, उसका प्रारंभ, मेरे विचार में प्रबन्ध के अंतर्गत कवि की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से ही हुआ।

हिन्दी साहित्य में कबीर का ज्ञान-मार्ग, सूफी कवियों के प्रेम काव्य, और मीराबाई की कृष्ण भक्ति डिंगल की वीर रसात्मक कविताएँ अन्य भाषा-भाषियों के लिए भी रोचक सामग्री हैं। उत्तर भारत के इतिहास में जो समकालीन सामाजिक व राजनीतिक उथल-पुथल देखी, उस सबका सांस्कृतिक या साहित्यिक स्वर भंग इन्हीं प्रचेता मनस्वियों की साधना में प्रस्फुटित हुआ। हिन्दू और मुसलमानों के निरन्तर घर्षण से जब समाज के स्तंभ हिलने लगे तो उसके अनूरूप ही वीरगाथा काल का आरंभ हुआ और उस काल के समाप्त होते ही दोनों जातियों के लिए एक समन्वय का आधार आवश्यक हुआ। वह आधार जो कि दोनों जातियों से उत्पन्न हो कर और दोनों के बाहरी वैषम्यों को भुला कर दोनों की पारस्परिक सांत्वना में विलीन करता, यह नितांत आवश्यक

था। पहले पहल कबीर ने ही ज्ञान मार्ग के द्वारा उस खाई को पाटने का प्रयत्न किया और उनके अनुसरण में नानक, रहीम, दादूदयाल आदि संतों ने शान्ति आन्दोलन की तरह उस महान् समन्वय आन्दोलन को अविचल रूप से निभाया। यह सब ज्ञान संबंधी आन्दोलन है, धार्मिक है, पर कविता के परिधान में।

दूसरे प्रकार का समन्वय सूफ़ो कवियों की प्रेममार्गी शाखा से संपन्न हुआ। जायसी, कुतुबन, मंजन आदि सूफ़ी कवियों ने अपने सूफी वेदांत को उन कथाओं में सन्निविष्ट कर प्रचार किया, जो भारतीय जनता में चिर प्रचलित हैं। शिल्प की दृष्टि से इनके लिखे काव्य प्रबन्ध-काव्यों के अंतर्गत आते हैं। केवल काव्य या सांस्कृतिक दृष्टि से यह समन्वय शुरू हुआ। १५०० ई. से प्रारंभ किया गया, यह काव्य-विधान उसी समय प्रचलित उस तेलुगु प्रबन्ध काव्य-युग से साम्य पाता है जो कृष्णदेव राय के शासनकाल में पल्लवित तथा पुष्पित हो कर स्वर्ण-युग कहलाया। हिन्दी में स्वर्ण युग भक्ति-युग था। तुलसी, सूर आदि कवियों तक आते-आते हिन्दी साहित्य ने वस्तु और अभिव्यक्ति में परिमार्जन और संतुलन पाया। इस समय का साहित्य वस्तु में, शिल्प में और आदर्श में पूरे का पूरा भारतीय रहा। इसलिए ही इन कवियों के काव्यों को भारतीयों ने विशेष ममता के साथ हृदय के अंदर स्थान दिया। पर सूफ़ो काव्य वस्तुरीत्या भारतीय होते हुए भी कला की दृष्टि से अपरिपक्व थे। विजातीय कवियों से इससे अधिक आशा नहीं की जा सकती थी। फिर भी उन्होंने भारतीय जनता के अन्तरंग में जो आध्यात्मिक सत्ता की अंतस्सरिता बहाई, प्रेम का जो आलोक दिया, वह न केवल हिन्दी साहित्य के लिए ही, अपितु समस्त भारतीयों के लिए अनुकरणीय है। उनकी विरह-विह्वलता और अनंत सृष्टि-व्यापिनी करुणा की पुकार ने भारतीय साहित्य के लिए नूतन परिवेश दिया। सूफ़ी कवियों के द्वारा प्रसारित आध्यात्मिक प्रेम की सांकेतिक प्रणाली प्रकट-अप्रकट रूप में हिन्दी माध्यम द्वारा पूरे देश में व्याप्त हुई। सूफ़ी संप्रदाय की विरह विह्वलता ही एक प्रकार से मीरा की वीणा को छू कर कृष्ण भक्ति में झंकृत हुई। वही रवीन्द्र की गीतांजलि में भीनी सुगंधि लिये हुए है। शायद प्रसाद के आँसू और कामायनी के औपनिषदिक परिवेश में भी वही स्वर गूंज उठा हो। लेकिन यह प्रभाव इतना सूक्ष्म है कि बाह्यतः उसे पहचाना नहीं जाता।

सूफ़ी कवियों ने जो कथानक लिये वे अर्ध ऐतिहासिक और अर्ध काल्पनिक हैं। तेलुगु कवियों ने प्रबन्ध रचना के लिए वैसी ही काल्पनिक

कथाएँ लीं। पर वे पौराणिक थीं। इसलिए उनमें पुराण-जीवन गत प्राचीन परिपाटी की रक्षा हुई। किसी पुराण से अत्यन्त अल्प मात्रा में कहानी ली जाती थी, और सुदीर्घ वर्णनों और रस भावों के परिपोषण के साथ काव्य वैदग्ध्य को चरम-सीमा तक पहुँचाया जाता था। इनके निर्वाह में केवल कला दृष्टि ही थी, लेकिन हिन्दी की पद्मावत, मधुमालती, मृगावती जैसे सूफ़ी काव्य अधिकतर घटना प्रधान हैं, यद्यपि बीच-बीच में आध्यात्मिकता की सुन्दर अभिव्यक्तियाँ हैं फिर भी इन कथानकों को हम जनपदीय लोककथा ही कहेंगे। इनके निर्वाह में तेलुगु कवियों की-सी न आलंकारिक शैली है, न वैसा शिष्टजन मान्यता का आग्रह। लोकप्रिय कहानियों में स्वच्छन्द प्रेम निर्भर आत्म वेदना का प्रसार सूफ़ी कवियों का लक्ष्य रहा। इसलिए ये काव्य, वस्तु में और भाव-उद्‌गार में जन-जीवन के निकट रहे। सूफ़ी संप्रदाय नामक एक विशिष्ट तात्विक संप्रदाय ने भी इस प्रदक्षिणा में आ कर निरभ्र और निर्द्वन्द्व प्रेम की एक ऐसी निसर्ग ज्योति जलायी जिससे हिन्दी साहित्य को नव्य आलोक मिला। इतना सब कुछ होने पर भी इनके बारे में एक बात कहनी ही पड़ती है। अभिव्यक्ति और आत्मवेदना में शक्तिशाली होते हुए भी ये काव्य, साधारण दंतकथाओं पर अवलंबित होने के कारण शिष्ट भारतीय साहित्य के लिए जो गांभीर्य चाहिए, उससे वंचित रह गये। सूफ़ी कवियों की कहानियाँ जैसी कहानियाँ तेलुगु में 'काशी मजली' जैसी कहानियों के नाम से विख्यात हैं। वे गद्य में लिखी जातीं और साधारण जनता द्वारा पढ़ी भी जातीं पर तेलुगु साहित्य में ऐसा कोई शिष्ट कवि नहीं जिसने इनके आधार पर प्रबन्ध रचना का महल खड़ा कर दिया हो; हाँ, पिंगलि सूरना की बात अलग है। अनुपम प्रतिभावान इस प्रबन्ध कवि ने ऐसी ही एक कहानी पर इतना उत्तम प्रबन्ध लिखा कि उस समय के सारे प्रबन्धों में वह अत्यन्त विलक्षण रहा। उसका नाम है 'कलापूर्णोदय'। काव्य शैली की दृष्टि से इसमें और सूफी काव्यों में बहुत अन्तर है। जहाँ सूफ़ी काव्य, जनतत्व, आध्यात्मिकता और विजातीय काव्यत्व का सम्मिश्रण है, वहाँ कला-पूर्णोदय लाक्षणिकता, कलातत्व और संस्कृत परिपाटी का अभंग आत्मैक्य। कलापूर्णोदय में कथोपकथाओं का अद्‌भुत ताना-बाना है, औचित्य का पालन है, और चरित्र-विकास में मानसिक दाँव-पेच हैं। बौद्धिक और हार्दिक व्याकुलताओं के कितने अच्छे समाधान उसमें भरे पड़े हैं! कुछ समालोचकों का कहना है कि मानसिक द्वंद्वों में पिंगलि सूरना ने शेक्‌स्पियर की-सी कुशलता दिखाई हैं। तब तो इस दृष्टि से सूफ़ी काव्य इसके समकक्ष मुश्किल

से ठहरते। सूफ़ी काव्यों में असाहित्यिक अतिरंजनाएँ, अस्वाभाविकताएँ और अनौचित्य कहीं ज़्यादा हैं। असल में इन काव्यों को जाँचने का मापदंड ही अलग होना चाहिए। दोनों प्रबन्ध दो अलग-अलग विलक्षणताएँ रखते हैं। तेलुगु प्रबन्ध भारतीय कला कौशल का अंतिम निखार है तो सूफ़ी काव्य अनंत जीव-वेदना की अनवरुद्ध पुकार है। सचमुच सूफ़ी साहित्य ने निश्चल, प्रशांत तथा गहन गंभीर भारतीय साहित्य के लिए वह भाव-विह्वलता दी, जो उसके शरीर और प्राण में मधुर कंपन जैसी एक सुमधुर गूँज छेड़ कर समय-समय पर उसे झंकृत करती रही।

मुसलमान या अन्य विजातीय कवियों के द्वारा दिये गये ऐसे आलोक पुंज तेलुगु साहित्य के लिए अप्राप्य थे। इस तरह के प्रेम काव्य भी तेलुगु साहित्य में नहीं मिलते, तेलुगु में जो कुछ हैं, वे शृंगार-काव्य हैं। वास्तव में भारतीय परंपरा में प्रेम काव्यों की-सी कोई चीज़ नहीं है। शृंगार-काव्य, प्रेम काव्य नहीं हो सकते। प्रेम काव्य केवल अरबी-फ़ारसी और अंग्रेज़ी की उपज हैं। वास्तविक जीवन प्रसूत प्रेमी युगल अपनी इच्छाओं की अतृप्ति में तिलमिला कर किसी भयानक प्रहार से जीवन का अन्त कर लेते हैं। इस दुर्दम अवसान में जो घोर वास्तविकता छिपी है, वही प्रेम काव्यों की स्वाभाविकता है। यह स्वाभाविकता भारतीयों के लिए अशुभ सूचक है, कभी ग्राह्य नहीं हुई। भारतीय प्रेम-ग्रहण में अस्वाभाविकता है, किन्तु उसमें उत्तम आदर्श की प्रतिष्ठा है। कण्वाश्रम में शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त ने मन में इस तरह कहा—"इस स्त्री को देख कर मुझ क्षत्रिय में अकारण ही रागोदय क्यों हो रहा है? शायद यह भी क्षत्राणी हो। मुनिकन्या हो नहीं सकती।"

यहाँ क्षत्रियत्व की सजातीयता प्रेमोदय का कारण है। इससे स्पष्ट है कि भारतीयों का प्रेम-व्यापार पूर्व संबद्धता के बिना स्वीकृत नहीं किया जाता। और इसी तरह उस सकारण प्रेम को जब तक विवाह जैसे बन्धनों से सुसंगठित नहीं किया जाता, तब तक सुखांत भी नहीं होता। इसकी स्वाभाविकता चाहे कैसी भी हो पर ऐसे प्रेम-व्यापार में जो काव्य के स्तर तक लाया जाता है, पवित्र आदर्श देखना भारतीय काव्यों के लिए चिर मान्य परिपाटी रही। राजा-महाराजा परकीय नायिकाओं के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करते थे वे भी एक प्रकार से विधिविहित थे। ऐसे ही भारतीय आदर्शों को सामने रख कर तेलुगु कवियों ने प्रबन्धों की सृष्टि की। ये पूर्णतः भारतीय हैं, वस्तु में, शिल्प में, आदर्श में और अन्य सभी बातों में।

हिन्दी के सूफ़ी काव्य, रूप में भारतीय हैं, रस में विजातीय हैं और गंध में न भारतीय हैं न विजातीय। फिर भी वे भारत के ऐतिहासिक आन्दोलन के क्रम के विकास के परिणाम हैं, जहाँ तेलुगु के प्रबन्ध-काव्य एक सुदीर्घ साहित्य-इतिहास के क्रम विकास के चिह्न हैं।

आन्ध्र भोज उपाधिधारी अजेय पराक्रमी विजयनगर के सम्राट् श्री कृष्णदेवराय ने खड्ग और लेखनी एक साथ चला कर आन्ध्र का मुख उज्ज्वल किया—इनके शासन काल में प्रबन्ध काव्यों के प्रमुख आठ कवि "अष्ट दिग्गज" नाम से विख्यात थे। उनका काल १५ वीं सदी से प्रारंभ होता है। अल्ल-सानि पेद्दना, नंदि तिम्मना, रामराज भूषण, तेनालि रामकृष्ण, पिंगलि सूरना, अय्यल राजू, रामभद्र, धूर्जटी आदि अष्टदिग्गजों में थे। इन कवियों का युग स्वर्ण युग इसलिये माना जाता है कि इस काल से तेलुगु साहित्य संस्कृत का अनुसरण छोड़ कर मौलिक उद्भावनाओं की ओर उन्मुख हुआ। कवियों के कंठों में नये स्वर, नये काकु, ध्वनि, चमत्कार फूटने लगे। उन सब उद्भावों को प्रबन्ध के रूप में ढालने की शक्ति भी प्राप्त हुई।

हिन्दी के वीर रस का औन्नत्य और भक्ति का उत्कर्ष एक उदाहरण में एक उक्ति में हम बता सकते हैं, पर तेलुगु के इन प्रबन्ध काव्यों की मनोज्ञता एक उदाहरण में देना संभव नहीं। क्योंकि इन प्रबन्धों को उनकी वस्तुओं से अलग नहीं किया जा सकता, उन वस्तुओं को उन भावों से अलग नहीं किया जा सकता और उन भावों की भाषाशैली से। यह सब एक कुशल कारीगर के हस्त की बनी रसभीनी मखमल की चादर है, जिसका कोई भी रेशा अलग नहीं देखा जा सकता। हम अजन्ता की चित्रशाला में जाकर किसी एक चित्र के पास खड़े हो कर उसकी विशेषता गिन सकते हैं; लेकिन ताजमहल के किसी भाग के पास खड़े होकर तमाम ताजमहल से उस खंड को अलग कर, तारीफ़ नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी सुंदरता की स्वच्छता, उसकी बुनियाद, उस के परिसर, उसके शरीर, प्राण पूरे भवन में व्याप्त हैं। यही स्थिति तेलुगू प्रबन्धों की है।

हिन्दी ने विजातीयों की विविध काव्य रीतियों से कितना ही वैविध्य क्यों न पाया हो फिर भी उन सब से पृथक् करके हम हिन्दी साहित्य में तुलसीदास की रामायण और प्रसाद की कामायनी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस सर्वश्रेष्ठता का रहस्य हमें मालूम हो सके तो तेलुगु के प्रबंध काव्यों की विशेषता भी प्रकट हो जाएगी। क्योंकि इन दोनों की मान्यता का रहस्य

एक ही है। 'रामचरित मानस' और 'कामायनी' ने विजातीय प्रभावों से दूर रह कर बहिरंतर दोनों तरह भारतीयता में और स्वजातीयता में अपने को इतना अधिक निमज्जित कर दिया कि प्रत्येक देशीय व्यक्ति उनको अपनी ही चीज़ मानता है और अपने ही रंग में रंगी-सी देख हर्ष पाता है। भारतीय साहित्य की भित्ति पर खड़े हो कर भारतीयता के मूल्य पर तुल कर भारतीयता प्रतिष्ठित करने में वे सर्वथा सफल हुए। हमारी आत्मा उनमें गूँजती है। यही बात तेलुगु प्रबन्धों के विषय में भी घटती है।

इतना होने पर भी तेलुगु का इतिहास हिन्दी से कहीं ज़्यादा विस्तृत और दीर्घ है। इस भाषा की संपन्नता हिन्दी से अधिक है। १३ वीं शताब्दी में अर्थात् तिक्कना के समय में ही इसकी प्रकाशन शक्ति काफ़ी मंज गई। शैली और सज्जा की दृष्टि से यह सुगठित है। ऐसी शक्ति हिन्दी को सोलहवीं शताब्दी तक भी प्राप्त नहीं हुई। जब तेलुगु भाषा पूर्ण नवयौवना हो कर अपने भ्रूविक्षेप और समग्र लास्यों से कविवृन्द का मन ललचाने लगी, तब हिन्दी भाषा मेले में खोई उस बच्ची की तरह थी जिसके माँ-बाप का पता न चलने के कारण अड़ोसी-पड़ोसी लोगों ने उसे कुछ समय तक पाला-पोसा। उन लोगों ने भ्रमवश उसे अपना समझ लिया था। फिर जब यथार्थ मालूम हुआ तो वह छोड़ दी गई, आखिर इस खींचातानी में जब उसने होश संभाला तब हिन्दी कहलाने लगी। फिर भी वह शीघ्र ही क ख ग घ सीख कर सर्वशास्त्र विदुषी बन गई। उसके सामने तेलुगु प्रबन्ध की नायिका सचमुच अब भी नव लावण्यवती और लाजवंती है। इस लाजवंती प्रबन्ध नायिका की कुछ अनुपम छटाएँ आगे हम देखेंगे।

प्रबन्ध युग में वयसा तथा कृतिना वृद्ध अल्लसानि पेद्दना को ही हम पहले स्मरण करेंगे। इनकी पालकी को विजयनगर के राय ने कंधा लगाया। पेद्दना रचित मनुचरित्र सब प्रबन्धों में अग्रस्थानीय है। मनुचरित्र के प्रथम तीन आश्वास रस की गगरियाँ हैं। एक विप्र सनातन धर्मी, यज्ञ-याग की दीक्षा सेदीक्षित, पुण्यव्रती, सदाचारी, सुन्दर युवक किसी सिद्ध पुरुष के दिये पादलेपन के प्रभाव से अकस्मात् उड़ कर अभ्रभेदी सुदूर हिमालय की गोद में जा गिरा। उस गिरिवर के नयनाभिराम दृश्यों को देखने में आत्मविस्मृत उस भोले विप्र ने यह भी नहीं समझा कि उसके पादलेपन का क्या हाल रहा। पिघलते हिम उपलों में वह न जाने कब का पिघल चुका था। विप्र ने घर जाने के लिए आँखें मूँद लीं, पर आसन न उठा। जाने का रास्ता न पा कर वह

घाटियों में, गिरि-कंदराओं में घूम फिर कर थक जाता, आक्रंद करता, पश्चात्ताप करता—निकट के लाखों तीर्थों को छोड़ मैंने इतनी दूर का स्वप्न क्यों देखा ? काश, कोई जीव रास्ता बताने वाला मिल जाता तो कितना अच्छा होता ? इस तरह पथभ्रष्ट, श्रमित, निरुपाय, दिशाहीन ब्राह्मण को कुछ समय के बाद गिरिकंदराओं की निस्तब्धता को चीर कर आती हुई वीणा की सुमधुर ध्वनि सुनाई दी। ध्वनि की लहरों को पकड़ कर वह मार्ग में अग्रसर हुआ। विप्र वहाँ जा कर क्या देखता है ? एक अति प्रशांत बहुत ही मनोज्ञ विजन प्रान्त है, आम्र तरु मूल में एक चन्द्रकान्त वेदिका थी, हाथ में वीणा लिये अपनी धुन में लीन, सौंदर्य-विह्वला एक अप्सरा, विप्र युवक को देख कर अपने संगीत के साथ सहसा मौन हो गयी। वह उस मानव सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। एक अप्सरा स्त्री मुझ पर मुग्ध है, विप्रवर को इसका पता नहीं चला। वह स्वदेश जाने की व्यग्रता में करुण याचना करता है—'देवि, मुझे घर जाने का रास्ता बता दो।' किन्तु देवी कामिनी बन कर पंचशर जाल पसारे खड़ी थी। तरह-तरह के इंगितों को अपने हाव-भाव से प्रकट करते हुए चारों ओर से घेर रही थी। पर युवक अपने घर का रोना रो रहा था। यह विषम द्वन्द्व कब तक चलता ? आखिर कामिनी ने उस मानव पर अपने कोमल बाहुओं का ऐसा प्रबल आक्रमण किया कि भोला विप्र सिहर उठा, एक धक्के से उस आलिंगन को तोड़ कर बाहर निकल आया और घर की ओर भाग पड़ा।

इस सुन्दर, पर विषम स्तरों वाले सन्निवेश को पेद्दना ने इतना सरस बनाया कि पाठक का मन आनंद, कौतूहल जिज्ञासा आदि कई सबल भावों में चक्कर खा-खा कर थक जाता है। मानव और देव, स्त्री और पुरुष, राग और विराग के संघर्ष को दिखा कर देव पर मानव की, स्त्री पर पुरुष की, और राग पर विराग की विजय एक साथ प्रस्तुत की। कवि ने इस संघर्ष को इतने कौशल के साथ निभाया कि प्रवर और वरूथिनी के चित्र हमारी आँखों से कभी ओझल नहीं होते। हिमालय की गोद में एक मणि मंदिर का प्रांगण, एक आम्र वृक्ष, मूल में चन्द्रकांत शिला की वेदिका उस पर मधुर वीणा की तान छेड़ती हुई एकान्त वासिनी अप्सरा वरूथिनी। वरूथिनी का चित्र खड़ा करने के लिए पेद्दना ने जो पार्श्व-सज्जा तैयार की, वह अत्यन्त मनोज्ञ है। उस पार्श्वसज्जा और वातावरण की विशुद्ध चमक के कारण वरूथिनी की प्रतिमा हमारे मन में भुलाये नहीं भूलती। पेद्दना का यह काव्य, तेलुगु साहित्य-भंडार में मणि जैसा उज्ज्वल है।

मनुचरित्र के बाद उल्लेखनीय काव्य वसुचरित्र है जिसे रामराज के दरबार में रहने वाले भट्टमूर्ति ने लिख कर प्रबन्ध शैली को चरम सीमा दिखाई। अल्प मात्रा में कथानक महाभारत से लिया गया है। शुक्तिमती नामक नदी पर कोलाहल नामक पर्वत गिर जाता है, जिससे प्रवाह रुक जाता है। वसुराजा ने इससे क्रुद्ध हो कर उस पर्वत को पदाघात से दूर फेंक दिया और शुक्तिमती को उस गिरि के आक्रमण से बचाया। कुछ समय के बाद शुक्तिमती और कोलाहल से गिरिका नामक एक पुत्री पैदा हुई। उससे वसुराजा का प्रणय हो गया और दोनों का पाणिग्रहण देवताओं के सम्मुख वैभव के साथ सम्पन्न हुआ। इस छोटी-सी प्रतीकात्मक कहानी को रामराज भूषण ने जो शिल्प दिया, जो अलंकार दिये, जो भाव-व्यंजना की रीतियाँ दीं, वे आश्चर्यजनक हैं। भट्टमूर्ति उस समय के बड़े ही विद्वान् कवि थे। वैसे तो कृष्णदेवराय भी प्रकांड विद्वान् थे, फिर भी राय की विद्वत्ता पाठकों को डराती है, पर भट्टमूर्ति की विद्वत्ता बिलकुल नहीं डराती, प्रत्युत कवि ने उस विद्वत्ता के सहारे अपनी कृति को बहुत गंभीर, अर्थवती, सरस और संगीत-मधुरा बनाया है। साधारण व्यक्ति, भट्टमूर्ति का पद्य पढ़ कर कहता है "ओह, कितना अच्छा पद्य", विद्वान् आदमी पढ़ कर कहता है "ओह कितना कठिन", यही उनकी विद्वत्ता का रहस्य है। उनकी कविता तरंगविहीन उस क्षीरसागर की तरह है जिसके मथने पर हमें पग-पग पर अमृत की गगरियाँ, मणियाँ, परियाँ और चाँदनियाँ मिलेंगी।

रामराज भूषण ने कविकर्म से मानो होड़ लगाई, उस होड़ में कविता के साथ इतनी दौड़ लगायी कि आखिर कविता ने ही हार मान कर आत्म-समर्पण कर दिया। भाव को शब्द के साथ, शब्द को संगीत के साथ, संगीत को हृदय के साथ मिला कर उन्होंने जो रस तैयार किया उसके आस्वादक एक वर्ग के या एक रुचि के नहीं बल्कि भिन्न स्तरों के, भिन्न रीतियों के भिन्न रसास्वादन करने वाले विभिन्न श्रेणियों के हैं। विद्वान् श्रोता, गायक, पाठक, भावुक ये सब उनकी कविता का समान रूप से आस्वादन कर सकते हैं। एक-एक पद्य काव्य की प्रतिमा है, जिसके सामने खड़ा प्रेक्षक अंग-प्रत्यंग निहारता हुआ अपने को भूल घंटों लगा देता है। अब तक शब्दार्थ बताने वाले कोश तैयार हुए हैं, पर रामराज भूषण के 'वसुचरित्र' को पढ़ेंगे तो यह बात मालूम होगी कि शब्द से अर्थ और नानार्थ ही नहीं, स्वारस्य के, ध्वनि के, श्लेष के उक्ति वैचित्र्य के, कितने ही निघंटु बनाये जा सकते हैं! कवि

प्रत्येक पद्य में पाठकों को छेड़ता है। आनंद की उमंग जागृत करता है, फिर उस छेड़छाड़ और उमंग के समाधान में ऐसा पद्य गढ़ देता है कि पाठक का विह्वल हृदय उसे पा कर वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे पानी पड़ने पर भभकती आग शान्त हो जाती है। हर पद्य में ऐसा लगता है मानो कवि बहुत जागरूक हो कर हमें पद्य सुना रहा है। यह जागरूकता ही कवि का प्राण है। इस शक्ति से प्रदीप्त कवि सर्वदा जागृत है। इससे पाठक को हर समय स्फूर्ति, चेतना, सजीवता मिलती है। वसु चरित्र की ऐसी प्रगल्भता हम उस समय के किसी काव्य में नहीं देख सकते। उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण इससे अधिक क्या हो सकता है कि उस काल में ही इस अमूल्य ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद किया गया। इतना ही नहीं वसुचरित्र की देखादेखी परवर्ती आठ प्रसिद्ध कवियों ने आठ प्रबंध काव्य लिखे जो मज़ाक़ में "शिशु वसुचरित्र" कहलाये। इतने उज्ज्वल गुणों से संपन्न वसुचरित्र की झाँकी एकाध उदाहरणों के द्वारा अन्य भाषियों को कैसे दी जा सकती है? भले ही जायसी की पद्मावत जैसे कथानक पर तुलसी के शील-चित्रण और औचित्य पालन का सम्मिश्रण कर मनुचरित्र की झाँकी दिखाई जा सकती है किन्तु वसुचरित्र का दिग्दर्शन किसी भी तरह संभव नहीं। सूफ़ी कवियों की कोई मनोज्ञ कहानी लीजिये, उस पर केशवदास की अलंकार शैली का समावेश कीजिये, उस पर बिहारी के रस भावों का मधुर सिंचन कीजिये, फिर उसमें आवश्यकता हो तो नंददास के रासपंचाध्यायी की संगीत लहरियाँ भी घोलिये। देखिए अब हिन्दी में वसुचरित्र का स्वाद आया कि नहीं, मेरी बात हास्य-सी लगे, पर यह हास्य नहीं यथार्थ है। समसुच रामराज भूषण ने वसुचरित्र लिख कर तेलुगु कविता के क्षेत्र में एक प्रयोगशाला ही स्थापित की। ऐसे अन्य तेलुगु प्रबन्ध काव्य भी अपने ढंग में अद्वितीय और अगाध हैं।

विजय नगर के सार्वभौम श्री कृष्णदेवराय की आमुक्तमाल्यदा जन-जीवन के वर्णनों से और अगाध पांडित्य से विजयनगरम् के दुर्ग की तरह अभेद्य हो कर भी भोज चंपू की तरह अपनी विलक्षणता लिये हुए है। नंदी तिम्मना रचित पारिजातापहरण में सत्यभामा का प्रयत्न दर्शनीय है। तेनालि रामकृष्ण कवि द्वारा लिखित पांडुरंग माहात्म्य के अन्तर्गत निगम शर्मा का आख्यान तेलुगु साहित्य के शील चित्रण का अच्छा नमूना है। इनमें सर्वत्र काव्य-कल्पना का प्रज्ञा-विकास देखने को मिलता है। पौराणिक धार्मिक काव्यों के निर्वाह में भी तेलुगु कवि ने अपने कवित्व का त्याग नहीं किया।

हिन्दी की तरह इन काव्यों में आध्यात्मिक संकेत या परतत्व की प्रतिच्छाया बिलकुल नहीं। तेलुगु कवि अन्त तक कवि ही रहे। एक शब्द में कहना हो तो तेलुगु कवि पुराण-काव्यों में निसर्ग कवि हैं और प्रबन्ध काव्यों में कवि से बढ़ कर कवि हैं। हिन्दी कवि जीवन के कवि हैं। वे भक्ति में तन्मय हैं, युद्ध में उग्र हैं, नीति में भारतीय हैं, रीति में विजातीय हैं, जीवन में फिर महात्मा हैं। वे कवि होते हुए भी संत हैं। इन दोनों साहित्यों की विलक्षणता इन दोनों प्रबन्ध-काव्यों की विशेषताओं के रूप में हमें देखने को मिलती हैं।

परिचय

श्री विनायककृष्ण गोकाक : कन्नड़ भाषा के कवि तथा अग्रगण्य आलोचक, अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ, इस समय हैदराबाद नगर में ब्रिटिश कौंसिल द्वारा संचालित अंग्रेज़ी प्रतिष्ठान के संचालक ।

श्री गंगाशरण सिन्हा : बिहार के यशस्वी जन-सेवी, राज्य-सभा के सदस्य, अखिल भारतीय हिन्दी-संस्था संघ के अध्यक्ष ।

डाक्टर विश्वनाथप्रसाद : भाषा विज्ञान के मान्य विद्वान्, केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के हिन्दी निदेशालय के निदेशक, पहले आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी विद्यापीठ के संचालक और पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष ।

श्री बेजवाड गोपाल रेड्डी : तेलुगु और बंगाली साहित्य के मर्मज्ञ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक कृतियों के तेलुगु अनुवादक, केन्द्रीय शासन के भूतपूर्व सूचना मंत्री, आन्ध्र के भूतपूर्व मुख्य मंत्री, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष ।

श्री बालकृष्णराव : केन्द्रीय शासन के भूतपूर्व सचिव, हिन्दी के कवि और आलोचक, 'माध्यम' मासिक के सम्पादक, हिन्दुस्तानी अकेडेमी उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष ।

श्री पी. वी. नरसिंहराव : आन्ध्र प्रदेश के विधि मंत्री; तेलुगु, हिन्दी, मराठी और उर्दू साहित्य के ज्ञाता, विचारक, लेखक ।

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त : आन्ध्र प्रदेश शासन के योजना विभाग के विशेष सचिव, आन्ध्र प्रदेश के प्रमुख हिन्दी-सेवी ।

डाक्टर रामनिरंजन पाण्डेय उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, हिन्दी में रामभक्ति साहित्य के विशेषज्ञ ।

श्री मोटूरि सत्यनारायण : दक्षिण भारत के प्रमुख हिन्दी-सेवी, राज्य-सभा के सदस्य, तेलुगु भाषा समिति के उल्लेखनीय कार्यकर्त्ता ।

श्री देवुलपल्ली रामानुजराव : आलोचक तथा पत्रकार। आन्ध्र सारस्वत परिषद् के प्रतिष्ठाताओं में से एक, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के मंत्री । आ प्र. हिन्दी लेखक सम्मेलन के आयोजक ।

डाक्टर बी. रामराजू : तेलुगु लोक-साहित्य के मर्मज्ञ, उस्मानिया विश्वविद्यालय में तेलुगु विभाग के रीडर, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के सहायक मंत्री, आ. प्र. हिन्दी लेखक सम्मेलन की तीसरी बैठक के संयोजक।

डाक्टर श्रीराम शर्मा : हिन्दी के लेखक, उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक, आ प्र. हिन्दी लेखक सम्मेलन की दूसरी और पाँचवीं बैठक के संयोजक।

• **निबन्ध लेखक**

श्री अयाचित हनुमत् शास्त्री : एम् ए. (हिन्दी और तेलुगु), साहित्यरत्न, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ में हिन्दी के प्राध्यापक; प्रकाशित रचनाएँ—तेलुगु और उसका साहित्य, हिन्दी साहित्यमु प्रथम खंड आदि।

प्रकाशनीय—तेलुगु और हिन्दी का तुलनात्मक अध्ययन, तेलुगु भाषा और साहित्य पर फारसी, हिन्दी और अरबी का प्रभाव।

श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु' : एम्. ए., हिन्दी कोविद, आकाशवाणी के हैदराबाद केन्द्र के हिन्दी प्रोड्यूसर। प्रकाशित पूस्तकें—आन्ध्र के कबीर-वेमना, एक कविता संग्रह, पोतना की तेलुगु भागवत के कुछ अंशों का काव्यानुवाद।

श्री के. राज शेषगिरि राव : एम् ए. (हिन्दी तथा संस्कृत), आन्ध्र लोयला कालेज विजयवाडा में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। प्रकाशित पुस्तक : आन्ध्र की लोक कथाएँ। प्रकाशनीय : आन्ध्र के लोक-गीत (आगरा विश्व-विद्यालय की पी-एच् डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध)।

डाक्टर सी नारायणमूर्ति एम्. ए., पी-एच्. डी., ए. एम्, जैन कालेज मद्रास में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, प्रकाशित पुस्तकें : समझौता, महानाश की ओर और सत्यमेव जयते (नाटक), सती ऊर्मिला और मानस-लहरी (काव्य)। प्रकाशनीय—तेलुगु तथा हिन्दी के मध्यकालीन रामायण-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन। मौलिक और तेलुगु से अनुवादित कविताओं का संग्रह।

श्री ए रमेश चौधरी : हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक, तीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित, पत्रकार, विचारक।

श्री दुर्गानन्द : साहित्य-रत्न, बी. ए., हिन्दी-अध्यापक—रामचन्द्र विद्यालय, कोत्तागुडम; तेलुगु के प्रसिद्ध कवि जाषुवा के 'फिरदौसी' नामक काव्य का कवितानुवाद (१९५४ ई.), तेलुगु में लिखित मौलिक काव्य, अन्तर्गाळालु (१९५७ ई.), मधूलिका (१९५८), जूना प्रणय गाथा (१९६२),

सूरदास के सौ पदों का तेलुगु में काव्यानुवाद। 'आन्ध्रभूमि' नाम दैनिक में धारावाहिक रूप से एक उपन्यास छपा, समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में छपे अनेक लेख।

श्री ए. सी. कामाक्षी राव, एम. ए. : मद्रास के क्रिश्चियन कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, प्रकाशित पुस्तकें—तेलुगु की रंग रामायण का हिन्दी अनुवाद, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का तेलुगु अनुवाद, हिन्दी-तेलुगु शब्दकोश, तेलुगु-हिन्दी शब्दकोश, हिन्दी-तेलुगु व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन।

श्री आलूरि बैरागी तेलुगु तथा हिन्दी के कवि, विचारक। प्रकाशित पुस्तकें, हिन्दी में—बदली की रात (कविता), तेलुगु में—चीकलि वीड्डुलु (कविता), दिव्य भवनमु (कहानियाँ)।

श्रीमती हेमलता आंजनेयुलु एम्. ए., लेखिका, पत्रकार, अनुवादिका; पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख तथा कविताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

डाक्टर बी. भीमसेन जोस्यलु : एम्. ए. (हिन्दी-तेलुगु), पी-एच्. डी., साहित्यरत्न; उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक; प्रकाशित पुस्तकें—तिरुपति-वेंकट कवुलु, काटूरि-पिंगलि कवुलु, निखरे हीरे। अनुवादित और मौलिक अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशनीय—श्री नादेल्लु पुरुषोत्तम कवि के नाटक (उस्मानिया विश्वविद्यालय की पी-एच्. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध)।

श्री बालशौरि रेड्डी : साहित्यरत्न, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास के प्रकाशन-विभाग में सहायक, तेलुगु-हिन्दी के अनुवादक, उपन्यासकार।

श्री जी. सुन्दर रेड्डी : बी. ए., साहित्यरत्न, आन्ध्र विश्वविद्यालय वाल्टेयर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। प्रकाशित पुस्तकें—साहित्य और समाज, मेरे विचार, हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन।

श्री एम्. बी. वी आर. शर्मा : एम्. ए., विद्वान, गवर्नमेण्ट आर्ट्स कालेज खम्मम में हिन्दी-प्राध्यापक। प्रकाशित पुस्तकें—सुमति शती और कुमार शती। प्रकाशनीय—गुरजाड अप्पाराव के नाटक 'कन्याशुल्कम' का हिन्दी अनुवाद।

श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति : दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की आन्ध्र शाखा के हिन्दी अध्यापक, हिन्दी-सेवी, कवि, प्रकाशित हिन्दी में तेलुगु के आधुनिक कवियों की जीवनी। •

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

வாழ்வாங்கு வாழ்ந்த ராங்கியம்

வ.நா.வ. வள்ளியப்ப செட்டியார் அவர்கள்

சிலைத் திறப்பு விழா மலர்

(வரலாற்றுத் தொகுப்பு)

